गुर्जर जैन कवियों की हिन्दी साहित्य को देन

(जैन गुर्जर कवियों की हिन्दी कविता)

ात विश्वविद्यालय की पी-एच. डी. उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबंध

डा० हरिप्रसाद गजानन शुक्ल "हरीश"
एम. ए. पी. एच. डी.
प्राध्यापक तथा अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
पाटण आर्ट्स एण्ड साइंस कॉलिज, पाटण
(उत्तरी गुजरात)

— [illegible] कालय, मथुरा.

प्रकाशक :

कुञ्जबिहारी पचौरी एम. कॉम

जवाहर पुस्तकालय, सदर बाजार, मथुरा ।

मकर संक्रांति १९७६

मूल्य ३०.००

मुद्रक :

केदारनाथ पचौरी

पचौरी प्रेस सदर बाजार, मथुरा ।

प्राक्कथन

अन्य अहिन्दी भाषी प्रदेशों की तरह गुजरात में भी आज से शतियों पूर्व हिन्दी के व्यवहृत होने के साहित्यक एवं ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध हैं। अपनी व्यापकता, प्रगतिशीलता एवं लोकप्रियता के कारण ही हिन्दी समस्त देश को एक सूत्र में पिरोने का कार्य करती आ रही है। गूर्जर-जैन कवियों ने भी हिन्दी की इस व्यापक शक्ति को पहचान कर उसके प्रति अपना परम्परागत मोह दिखाया है। इन कवियों की हिन्दी में विनिर्मित साहित्य-सम्पदा सदियों से अज्ञात या उपेक्षित रही है। इस साहित्य सम्पदा का उद्घाटन, परीक्षण एवं साहित्योचित मूल्यांकन करने का यह मेरा विनम्र प्रयास है।

प्रबन्ध को इस रूप में प्रस्तुत करने में मुझे जिनसे सतत प्रेरणा सर्वाधिक मार्गदर्शन तथा स्नेह प्राप्त हुआ है उन अपने गुरुदेव डॉ० अम्बाशंकर जी नागर का मैं सर्वाधिक ऋणी हूं। उनकी सहानुभूति के अभाव में इस प्रबन्ध का इस रूप में पूरा होना कदाचित् संभव न होता। मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं। इसके अतिरिक्त भावों को औपचारिक रूप देना संभव भी तो नहीं।

डॉ० नागरजी के अतिरिक्त मुझे अनेक संस्थाओं से सहायता प्राप्त हुई है। विशेषकर अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, राजस्थान शोध संस्थान, जोधपुर, साहित्य शोध विभाग (महावीर भवन), जयपुर, श्री आचार्य विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, जयपुर, साहित्य संस्थान, विद्यापीठ, उदयपुर, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद, गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, हेमचन्द्राचार्य ज्ञान भण्डार, पाटण, हेमचन्द्राचार्य पुस्तकायल, पाटण, श्री फत्तेसिंहराव सार्वजनिक पुस्तकालय, पाटण, जैन मण्डल पुस्ताकालय, पाठण, पाटण आर्ट्स-साइन्स कॉलिज पुस्तकालय आदि संस्थाओं के हस्तलिखित एवं प्रकाशित पुस्तकों से मैंने लाभ उठाया है। इन विविध संग्रहों के अधिकारियों एवं कार्यकर्ताओं का मैं कृतज्ञ हूं। उन्होंने अत्यन्त सौजन्यपूर्वक प्रतियों को देखने तथा उनका उपयोग करने की सुविधा मुझे प्रदान की है।

इन संस्थानों के अतिरिक्त मुझे सर्व श्री अगरचन्द नाहटा, डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पं० चैनसुख दासजी, डॉ० सरनामसिंह शर्मा "अरुण", डॉ० भोगीलाल सांडेसरा, श्री दलसुखभाई मालवणिया, पंडितवर श्री सुखलालजी, पं० बेचरदास, डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, डॉ० रणधीर उपाध्याय, श्री के० का० शास्त्री, डॉ० श्रीराम नागर, डॉ० कृष्णचन्द्र श्रोत्रीय, श्री नारायणसिंह भाटी, मुनि श्री पुण्यविजयजी, श्री भानुविजयजी, श्री कांतिसागरजी आदि विद्वानों से भी मार्गदर्शन प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। एतदर्थ मैं उक्त सभी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। साथ ही उन सभी ज्ञात-अज्ञात विद्वानों तथा विचारकों के प्रति आभार व्यक्त करता हूं, जिनकी शोध तथा समीक्षा कृतियों से मैं प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से उपकृत हुआ हूं।

अन्त मैं यह कहना चाहूंगा कि विषय गहन है, मेरे साधन सीमित। कुछ कवियों एवं कृतियों के परिचय अनायास मिल गये, कुछ के लिए गहरे पैठना पड़ा। जो तथ्य उपलब्ध हुए, उनके आधार पर साधन और समय की मर्यादा में रहते हुए मैंने विषय का यथाशक्ति प्रामाणिक प्रतिपादन किया है। फिर भी पूर्णता का दावा नहीं है। अपनी शक्ति की सीमाओं को जानता हूं। अतः प्रस्तुत प्रबन्ध में अपूर्णता एवं त्रुटियां भी रह सकती हैं, पर विद्वद्वर्ग सदैव गुणग्राही ही होता है।

मकर संक्रांति १९७६ हरीश गजानन शुक्ल
हिन्दी-विभाग
पाटण आर्ट्स एण्ड साइन्स कॉलिज
पाटण (उ० गु०)

१७वीं और १८वीं शती के जैन-गूर्जर कवियों की हिन्दी कविता

प्रकरणानुक्रमणिका

भूमिका खण्ड १

परिचय खण्ड २

आलोचना खण्ड ३

—०—०—०—

परिचय खण्ड २

आलोचना खण्ड ३

प्रकरण : ४

आलोच्य युग के जैन गूर्जर कवियों की कविता में वस्तु-पक्ष

प्रकरण : ५

प्रकरण : ६

प्रकरण : ७

आलोच्य कविता का मूल्यांकन और उपसंहार

परिशिष्ट

समर्पित—

परमपिता परमात्मा

त्रिमूर्तिशिव

को

जिसने इस पुरुषोत्तम संगम युग पर ब्रह्मातन मे दिव्य अवतरण कर अपने दिव्य ज्ञान और योग का अभय दान दिया तथा सच्चे ब्राह्मणत्व को झकझोर कर पूर्ण पवित्रता और अतीन्द्रिय सुख से आपूर्ण दिव्य जीवन का अनुभव कराया ।

—[illegible]

गई दीनता सब ही हमारी, प्रभु ! तुज समकित-दान में ।
प्रभु-गुन-अनुभव रस के आगे, आवत नांहि कोउ मान में ।।
जिनहि पाया तिनही छिपाया, न कहे कोउ के कान में ।
ताली लागी जब अनुभव की, तब जाने कोउ साँन में ।।
प्रभु गुन अनुभव चन्द्रहास ज्यौं, सो तो न रहे म्यान में ।
वाचक जश कहे मोह महा अरि, जीत लीयो है मेदान में ।।

—–यशोविजय

प्रस्तावना

डॉ० शुक्ल का प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध गुजरात के जैन भक्त कवियों, संतों के कृतित्व तथा व्यक्तित्व बोध को उद्घाटित करता है। लेखक ने सर्वधर्म समभाव की भावना से अपने चित्त को रंजित कर पूरे तटस्थ भाव से नवीन एवं खोज पूर्ण मूल्यांकन प्रस्तुत किया है, ऐसा मेरा स्पष्ट अभिप्राय है।

अभी मेरा मन एक गहरे ईश्वरी वज्राघात से विशेष क्षुब्ध परिस्थिति का भोग बन रहा है फिर भी संत कवि और उनकी भक्तिमयी शांति दायिनी वाणी की एक लक्ष्यता तथापि विविधता सांसारिक वज्राघातों एवं क्षुब्धताओं से पार ले जाने की एक बलवती शक्ति का परिचय अवश्य कराती है। प्रस्तुत प्रबन्ध पाठकों एवं विचारकों के चित्त में भी पवित्र सहिष्णुता का भाव अवश्य ही उदित करेगा तथा परस्पर सर्वधर्म समभाव की भावना फैलाने में बड़ा सहायक होगा। उस दृष्टि से डॉ० शुक्ल के इस प्रबन्ध का बड़ा भारी मूल्य है।

एक अंधकारमय साम्प्रदायिक जमाना ऐसा भी था 'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेद् जैन मन्दिरम्' पर अब पूज्य अवतारी पुरुष महातमा गांधीजी की पवित्रतम वांणी से वह अन्धकार विलीन सा हो गया है और परस्पर समभाव का उदीयमान हो रहा है। इससे भारत की समस्त प्रजा इस दृष्टि से एक सूत्र में अनुस्यूत होने लगी है और यही एक सूत्रता हमारे देश का जीवन है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध इसी एक सूत्रता का बड़ा समर्थक एवं पोषक है। पूर्वोक्त अन्धकार युग में भी महर्षि संत भक्त कवि श्री आनन्दघन जी मुनि ने गाया है—

"राम कहो रहमान कहो कोऊ कान्ह कहो महादेव री।
पारस नाथ कहो कोऊ ब्रह्मा सकल ब्रह्म स्वयमेव री।।
भाजन भेद कहावत नाना एक मृत्तिका रूपरी।
तैसे खंड कल्पना रोपित आप अखंड सरूपरी।।

आश्रम भजनावली, पृ० १२५

प्रस्तुत प्रबन्ध इस अखंडता का जरूर प्रचारक बनेगा और भारत के समग्र धर्मावलंबी परस्पर भ्रातृ-भाव का अनुभव करेंगे। इसी में हमारा कल्याण है, श्रेय है और शिव है। इसी अखंडता एक सूत्रता की विचारधारा के प्रखर समर्थक डॉ० हरीश शुक्ल विशेष अभिनन्दन के पात्र हैं तथा उनके इस ग्रंथ का मैं हृदय से स्वागत करता हूँ। 'सबको सन्मति दे भगवान्"।

—पंडित बेचरदास दोशी

अहमदाबाद
२५-१२-७५

१२-ब, भारती निवास सोसायटी
अहमदाबाद—६

पुरोवाक्

यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर-शोध में क्षेत्रीय एवं तुलनात्मक शोध को विशेष प्रोत्साहन मिला है। हिन्दी को संविधान-द्वारा मान्यता प्राप्त हो जाने के पश्चात् उसका पठन-पाठन एवं अध्ययन-अनुशीलन देश भरके विश्व-विद्यालयों में होने लगा। हिन्दीतर प्रदेश के अनुसंधित्सुओं ने जब शोध के क्षेत्र में पदार्पण किया तो स्वभावतः उनका ध्यान सबसे पहले अपने-अपने क्षेत्रों की सहित्य-संपदा की ओर ही गया। इस क्षेत्रीय शोध के फलस्वरूप बगाल, पंजाब; महाराष्ट्र एवं गुजरात के आंचल से हिन्दी का प्राचीन साहित्य विपुल मात्रा में प्रकाश में आया। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह साहित्य भाषा एवं साहित्यिक गुणवत्ता की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

जहाँ तक गुजरात का प्रश्न है, एक तो हिन्दी भाषी प्रदेश का निकटवर्ती प्रदेश होने के कारण, दूसरे वल्लभ संप्रदाय, स्वामीनारायण संप्रदाय, संतमत, सूफी संप्रदाय और जैनधर्म के प्रभाव के कारण, और तीसरे गुजरात के मुसलिम शासकों तथा राजपूत राजाकों के हिन्दी प्रेम के कारण, इस प्रदेश के अंचल में हिन्दी को फूलने-फलने का पर्याप्त अवसर मिला। इसीलिए हिन्दी भाषा एवं साहित्य को हिन्दीतर भाषा-भाषी प्रदेशों का जो प्रदान है, उसमें गुजरात का प्रदान सर्वोपरि है। इस प्रदेश में १५वीं शती से आज तक सैकड़ों कवियों ने डिंगल, व्रज एवं खड़ीबोली में उत्कृष्ट साहित्य का सृजन किया है। इस साहित्य के प्रकाश में आने से एक ओर जहाँ भारत के पश्चिमांचल में मध्यकाल में हिन्दी की व्याप्ति के साक्ष्य समुपलब्ध हुए हैं। वहाँ दूसरी ओर उससे भारत की सांस्कृतिक एकता एवं भारतीय साहित्य की एकान्विति की भी संपुष्टि हुई।

गुजरात प्रांतीय हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध में अब तक जो शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किये गए हैं उनमें डॉ० हरीश शुक्ल का प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध अनेक दृष्टियों से विशेष महत्व रखता है। डॉ० शुक्ल ने पाटण तथा अन्य गुजरात एवं राजस्थान के हस्तलिखित ज्ञान भंडारों में सुरक्षित पांडुलिपियों के आधार पर एक नितांत मौलिक एवं अछूते विषय का उद्‌घाटन किया है। उन्होंने गुजरात के अंचल में आवृत मध्यकालीन जैन कवियों के हिन्दी कृतित्वका, एक सुनिश्चित समय-मर्यादा निर्धारित करके, अनुसंधान, अध्ययन एवं विवेचन प्रस्तुत किया है। मेरी दृष्टि में उनका यह कार्य उस गोतेखोर के जैसा है जो अगाध सागर में डुबकी लगाकर अनमोल मोती बटोरता है। मुझे विश्वास है, अगाध जैन महार्णव से बटोरे गए ये काव्य-मौक्तिक निश्चय ही सरस्वती के कंठाभरण की शोभा में अभिवृद्धि करेंगे।

डॉ० हरीश शुक्ला ने यह कार्य यद्यपि विशुद्ध ज्ञानर्जन की भूमिका पर किया है तथापि इससे प्रसंगत देशभर की सांस्कृतिक एकान्विति एवं राष्ट्रभाषा की व्यापक परम्परा का भी अभिज्ञान होगा। आशा है शोध गुणों से अलंकृत यह शोधकार्य-समस्त विद्वज्जनों एवं साहित्य-प्रेमियों द्वारा समाहृत होगा।

भाषा साहित्य भवन
गुजरात युनिवर्सिटी
अहमदाबाद-९
२५-१२-७५

—डॉ० अम्बाशंकर नागर
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
गुजरात युनिवर्सिटी
अहमदाबाद

पुरोवाक्

यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर-शोध में क्षेत्रीय एवं तुलनात्मक शोध को विशेष प्रोत्साहन मिला है। हिन्दी को संविधान-द्वारा मान्यता प्राप्त हो जाने के पश्चात् उसका पठन-पाठन एवं अध्ययन-अनुशीलन देश भरके विश्वविद्यालयों में होने लगा। हिन्दीतर प्रदेश के अनुसंधित्सुओं ने जब शोध के क्षेत्र में पदार्पण किया तो स्वभावतः उनका ध्यान सबसे पहले अपने अपने क्षेत्रों की सहित्य-संपदा की ओर ही गया। इस क्षेत्रीय शोध के फलस्वरूप बगाल, पंजाब; महाराष्ट्र एवं गुजरात के आंचल से हिन्दी का प्राचीन साहित्य विपुल मात्रा में प्रकाश में आया। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह साहित्य भाषा एवं साहित्यिक गुणपत्रा की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

जहाँ तक गुजरात का प्रश्न है, एक तो हिन्दी भाषी प्रदेश का निकटवर्ती प्रदेश होने के कारण, दूसरे वल्लभ संप्रदाय, स्वामीनारायण संप्रदाय, संतमत, सूफी संप्रदाय और जैनधर्म के प्रभाव के कारण, और तीसरे गुजरात के मुसलिम शासकों तथा राजपूत राजाकों के हिन्दी प्रेम के कारण, इस प्रदेश के अंचल में हिन्दी को फूलने-फलने का पर्याप्त अवसर मिला। इसीलिए हिन्दी भाषा एवं साहित्य को हिन्दीतर भाषा-भाषी प्रदेशों का जो प्रदान है, उसमें गुजरात का प्रदान सर्वोपरि है। इस प्रदेश में १५वीं शती से आज तक सैकड़ों कवियों ने डिंगल, व्रज एवं खड़ीबोली में उत्कृष्ट साहित्य का सृजन किया है। इस साहित्य के प्रकाश में आने से एक ओर जहाँ भारत के पश्चिमांचल में मध्यकाल में हिन्दी की व्याप्ति के साक्ष्य समुपलब्ध हुए हैं। वहाँ दूसरी ओर उससे भारत की सांस्कृतिक एकता एवं भारतीय साहित्य की एकान्विति की भी संपुष्टि हुई।

: लेखक का निवेदन :

कबीर, मीराबाई, सूरदास, तुलसीदास आदि सन्तों ने जिस प्रकार समग्र देश में भक्ति एवं अध्यात्म की भावधारा प्रवाहित कर दी थी उसी प्रकार जैन सन्तों ने भी अपने प्रवचनों एवं साहित्य सम्पदा द्वारा भक्ति तथा ज्ञान समन्वित नैतिक एवं आध्यात्मिक जागरण का शंखनाद फूंका था। किन्तु ऐसे सन्तों के बारे में एक ही स्थान पर उपलब्ध सामग्री का अभी तक अभाव ही रहा है। इसी कमी को पूरा करने के लिए गुजरात एवं राजस्थान के अंचल से प्राप्त जैन संतों का ऐतिहासिक एवं साहित्यक परिचय देते हुए उनकी उपलब्धियों का विविध दृष्टियों से मूल्याँकन प्रस्तुत करने का प्रयास यहाँ किया गया है। विश्वास है यह प्रयास हिन्दी साहित्य के इतिहास को पुन: देखने समझने के लिए एक नया गवाक्ष उद्घाटित करेगा।

साथ ही अन्य अहिन्दी भाषी प्रदेशों की तरह गुजरात में भी आज से शतियों पूर्व हिन्दी के व्यवहृत होने के साहित्यिक एवं ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध हैं। अपनी व्यापकता, प्रगतिशीलता एवं लोकप्रियता के कारण ही हिन्दी समस्त देश को एक सूत्र में अनुस्यूत करने का कार्य करती आ रही है। गुजरात के जैन सन्तों ने भी हिन्दी की इस व्यापक शक्ति को पहचान कर उसके प्रति अपना परम्परागत स्नेह दिखाया है। इन जैन सन्त कवियों का हिन्दी में विनिर्मित साहित्य-सम्पदा सदियों से अज्ञात एवं उपेक्षित रही है। इस साहित्य सम्पदा का उद्घाटन परीक्षण एवं साहित्योचित मूल्यांकन करने का भी यह मेरा विनम्र प्रयास है। आशा है, इस ओर जिज्ञासु साहित्य मर्मज्ञों की दृष्टि जायगी।

विषय गहन है मेरे साधन सीमित। अत: जो तथ्य उपलब्ध हुए उनके आधार पर साधन और समय की मर्यादा में रहते हुए मैंने विषय का यथाशक्ति प्रामाणिक प्रतिपादन किया है। फिर भी पूर्णता का दावा नही है। इस दिशा में यह प्रयास 'आरम्भ मात्र' ही माना जाना चाहिए। वास्तव में पाँच वर्ष के निरन्तर श्रम के पश्चात् मेरा यह प्रबन्ध काफी पूर्व ही गुजरात युनिवर्सिटी द्वारा स्वीकृत हो चुका था, पर प्रकाशन की समुचित व्यवस्था न होने के कारण पांच वर्ष तक वैसा ही पड़ा रहा। महावीर की पचीस सौवीं निर्वाण तिथि महोत्सव के इस वर्ष में सुधा पाठकों के हाथों में इस प्रबन्ध को संशोधित रूप में प्रस्तुत करता हुआ प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का प्रणयन गुजरात युनिवर्सिटी के हिन्दी-विभागाध्यक्ष श्रद्धेय डॉ० अम्बाशंकर नागरजी के विद्वत्तापूर्ण निर्देशन में सम्पन्न हुआ है जिनसे

सतत प्रेरणा सर्वाधिक मार्गदर्शन तथा स्नेह प्राप्त करने का सौभाग्य मुझे मिला है। उनकी स्नेह एवं सहानुभूति से परिपूरित आत्मीयता ने मेरे इस दुर्गम पथ को सुगम बनाया है। 'पुरोवाक' लिखकर आपने इस प्रबन्ध के गौरव को विशेष बढ़ा दिया है। मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। इसके अतिरिक्त भावों को औपचारिक रूप देना संभव भी तो नहीं।

इसे मैं अपना सौभाग्य ही समझता हूँ कि जैन साहित्य मर्मज्ञ, प्रकाण्ड-पंडित, दार्शनिक एवं प्रखर चिंतक वयोवृद्ध पंडित बेचरदास जी ने अधिकारिक प्रस्तावना लिखकर इस शोध-प्रबंध को विशेष गरिमा प्रदान की है। प्रस्तावना के ये शब्द ऐसे समय लिखे हैं जब आपका अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त एकलौता युवा पुत्र आपकी जीवन नैया को डगमगाती छोड़ इस संसार से विदा ले गया हो—निश्चय ही यह उनकी दार्शनिक प्रतिभा, साक्षीत्व एवं व्यक्तित्व की महानता है। आपकी इस महती कृपा के लिए मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

पूजनीय डॉ० सरनाम सिंह शर्माजी के सत्परामर्शों से भी मैं विशेष लाभांवित हुआ हूँ। उनके सुझावों के फलस्वरूप ही मैं अपना शोध-प्रबन्ध आज इस रूप में प्रस्तुत कर सका हूँ। मैं आपका जितना आभार मानूँ उतना ही कम है।

गुजरात के जैन संतों का अध्ययन करते समय जैन दर्शन एवं साहित्य के मर्मज्ञ श्री दलसुखभाई मालवणीयाजी, पंडितवर सुखलालजी, मुनि श्रीपुण्य-विजयजी, श्रीअगरचन्द नाहटाजी, डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवालजी, पं चैनसुखदासजी, डॉ०भोगी-लाल सांडेसराजी, श्री के० का० शास्त्रीजी, श्री भानुविजयजी, श्री कांति सागरजी आदि ने अपने अमूल्य सुझाव देकर मेरा कार्य सरल एवं सफल बनाया है, इन विद्वानों को मैं हार्दिक नमन करता हूँ।

श्रद्धेय डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवालजी तथा डॉ० श्रीराम नागरजी की मुझ पर निरन्तर कृपा दृष्टि रही है। उनका आत्मीय प्रोत्साहन तथा कृपा के फलस्वरूप ही मैं शोधकार्य यथा समय पूर्णकर आज यहाँ तक पहुँच सका हूँ। इसके लिए आभार भी क्या ज्ञापित करूँ? इन विद्वानों के अतिरिक्त डॉ० रणधीर भाई उपाध्याय, डॉ० सुरेशभाई त्रिवेदी, डॉ० डी० एस० शुक्ल, डॉ० कृष्णचन्द्र श्रोत्रीय, श्रीनारायण सिंह भाटी, डॉ० श्री सेवन्तीलाल शाह, आचार्य एच०सी० त्रिवेदी, आचार्य बी० एस० वणीकर, आचार्य बाबुभाई पटेल, प्रो० कानजी भाई पटेल आदि ने भी सहृदयता पूर्वक प्रोत्साहन देकर मुझे विशेष लाभान्वित किया है। अतः इन विद्वानों के प्रति आभार व्यक्त करना अपना धर्म समझता हूँ। इस प्रसंग पर मैं अपनी मातृसंस्था एवं संस्था के प्रमुख सेठ श्री तुलसीदास भाई, मंत्री श्री जीवणभाई तथा भाई चन्द भाई वकील के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने प्रेरणा व प्रोत्साहन ही नहीं अन्य विशेष सुविधाएँ भी प्रदान कर मुझे लाभान्वित किया है।

इस मंगल अवसर पर पूज्य माता-पिता एवं भाई-भाभी की असीम-कृपा का स्मरण भी आवश्यक है, जिनकी वजह से आज मैं इस योग्य बन सका हूँ। सदैव उनके आशीर्वाद प्राप्त होते रहें, यही अभीप्सा है।

मित्रों एवं विद्यार्थियों के अपार-स्नेह को भी कैसे भूला जा सकता है, जिनके बिना यह कार्य पूर्ण होना असंभव ही था। मेरे प्रिय मित्र डा० अरविन्द जोशी, डॉ० रामकुमार गुप्त तथा प्रो० अखिलेशशाह के सहयोग के लिए क्या कहूँ? वे तो मेरे अपने ही हैं। इनके प्रति आभार प्रदर्शन भी क्या करूँ? शोध-प्रबंध का यह प्रकाशित रूप उन्हीं के प्रयत्नों का फल है। तदुपरांत प्रो० नवनीत भाई, प्रो० बाल कृष्ण उपाध्याय, डॉ० रमेशभाई शाह, डॉ०, मधुभाई, आचार्या अरविन्दा बहन, डॉ० तारा बहन आदि से भी समय समय पर प्रेरणा-प्रोत्साहन पाता रहा हूँ, अतः सभी के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। मेरे प्रिय विद्यार्थियों में श्री पूनमचन्द स्वामी, श्री चीमनसिंह राठौर, श्री रामखत्री एवं प्रिय विद्यार्थिनी श्रीमती कुमुदशाह, श्रीमती कल्पना पटेल, कु० कल्पना रामी तथा कु० प्रमोदा सालवी ने मुझे जो सहायता दी है इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

इस पावन अवसर पर अपनी-जीवन संगिनी, सत् धर्म पर सदैव स्थिर रहनें वाली धर्म पत्नी श्रीमती सुशीला को कैसे भूला जा सकता हैं? पर उसके प्रति धन्य-वाद प्रगट करना धृष्टता ही होगी। चि० भावना, विनय, नेहा यशेष तथा अनुज प्रो० नरेन्द्र व डॉ० प्रभाकर का स्मरण भी आवश्यक है, क्योंकि वे मेरे शोध कार्य की शीघ्र समाप्ति एवं यशस्वी सफलता के लिए ललायित थे।

साथ ही उन सभी ज्ञात-अज्ञात विद्वानों, विचारकों तथा साहित्यकारों के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ जिनके ग्रन्थों के बिना यह शोध कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता था। गुजरात एवं राजस्थान की शोध संस्थाओं एवं उनके संचालको का भी मैं आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे विशेष अध्ययन की सुविधा तथा पुस्तकों एवं हस्तप्रतों की प्राप्ति में सहायता दी है।

अन्त में 'जवाहर पुस्तकालय' मथुरा के संचालक एवं प्रकाशक भाई श्री कुंज विहारी पचौरी जी का भी मैं विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने इस शोध-प्रवन्ध के प्रकाशन की सम्पूर्ण जवाबदारी वहन कर इसे इस रूप में प्रस्तुत कर हार्दिक सौजन्य दिखाया है। अस्तु! ॐ शांति!!

मकर संक्रांति, १९७९

हिन्दी विभाग — हरीश शुक्ल

पाटण आर्ट्स एण्ड सायंस कॉलेज

पाटण (उत्तर गुजरात)

विस्तृत रूपरेखा

भूमिका खण्ड १

विषय प्रवेश

१. प्रस्तुत विषय के चयन की प्रेरणा, नामकरण एवं महत्त्व।
२. विषय से सम्बद्ध प्राप्त सामग्री का विहंगावलोकन एवं सामग्री प्राप्ति के स्रोत।
३. प्रस्तुत विषय में निहित शोध-संभावनाएँ।
४. प्रस्तुत अध्ययन की मार्यादाएँ।
५. प्रस्तावित योगदान।
६. प्रकरण-विभाजन और प्रकरण-संक्षिप्ति।

विषय प्रवेश

१. प्रस्तुत विषय के चयन की प्रेरणा, नामकरण और महत्त्व

प्रेरणा :

जैनों के तीर्थधाम और साहित्य केन्द्र पाटण को आजीविका हेतु अपना कार्य क्षेत्र बनाने पर यहाँ के जैन भण्डारों और उसमें संगृहीत अनेक ग्रन्थ-रत्नों को देखने का सुयोग प्राप्त हुआ। जिज्ञासा बढ़ी, अध्ययन में प्रवृत्त होने पर पता चला कि गुजरात के अनेक जैन कवियों ने हिन्दी में रचनाएँ कीं हैं जो प्रायः अभी तक उपेक्षित एवं अज्ञात हैं। गुजराती कृतियों पर तो गुजरात के विद्वानों ने गवेषणात्मक कार्य किया पर हिन्दी कृतियाँ अछूती ही रहीं। इधर डा० अम्बाशंकर नागर अपने अधि-निबंध—"गुजरात की हिन्दी सेवा" द्वारा क्षेत्रीय अनुसंधान की एक नई दिशा तो सूचित कर ही चुके थे। इस प्रकार प्रस्तुत शोध-कार्य में प्रवृत्त होने की प्रेरणा बल-वती होती गई।

तदनन्तर इस प्रदेश में प्राप्त हिन्दी में रचित जैन-साहित्य व तत्सम्बन्धी समीक्षा को देखने से यह विश्वास और भी दृढ़ हो गया कि भाषा और भावधारा की दृष्टि से इस साहित्य का अभी तक वैज्ञानिक स्तर पर साहित्योचित मूल्यांकन नहीं हो सका है। गुजरात में मूल्यांकन का जो प्रयास किया भी गया है, उसमें विपुल समृद्ध जैन साहित्य की अनेकानेक अमूल्य हिन्दी कृतियाँ, विद्वानों की उपेक्षा के कारण, अभी तक अस्पृष्य रही हैं। शोधपरक साहित्योचित मूल्यांकन का अभाव तथा यह अस्पृष्टता भी मेरे शोधप्रबंध की प्रेरणा की मूल रही हैं।

नामकरण :

प्रस्तुत प्रबन्ध का नामकरण करते समय कुछ और भी विकल्प समक्ष थे, यथा—"गुजरात के जैन कवियों की हिन्दी साहित्य को देन", "गुजरात के जैन कवियों की हिन्दी सेवा", "जैन गुर्जर कवियों की हिन्दी कविता" आदि। "जैन गुजराती कवियों" की जगह श्री मो० द० देसाई द्वारा प्रयुक्त "जैन गुर्जर कवि" प्रयोग मुझे अधिक पसन्द आया क्योंकि गुजरात का नामकरण मूल गुर्जर जाति के आधार पर ही हुआ है तथा यहाँ "गुर्जर" शब्द स्थान वाचक (गुजरात प्रांत) अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है अर्थात् ऐसा कवि जो जैन हो और गुजरात प्रदेश से भी संपर्कित हो।

"जैन गुर्जर कवियों की हिन्दी सेवा" अथवा "हिन्दी साहित्य को देन" जैसे

विषयों में स्वभावत: ही साहित्य की दोनों विधाओं—गद्य और पद्य का समावेश हो जाता है। अत: विषय की व्यापकता और अपने समय व सामर्थ्य की सीमाओं को देखकर केवल "पद्य" पर काम करना मुझे अधिक समीचीन लगा। इनकी "गद्य रचनाएँ" एक पृथक् प्रवन्ध की संभावनाओं से गर्भित है।

समय की सुनिश्चित अवधि में विषय का इतना विस्तार किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं हो सकता था। गुजरात में जैन कवियों की हिन्दी पद्यात्मक रचनाएँ भी १५वीं शती से प्राप्त होने लगती हैं। १५वीं शती से आज तक की इस विपुल साहित्य-सम्पदा का अध्ययन भी समय व लेखक की साधन-शक्ति की सीमाओं के कारण, असम्भव था। अत: १४वीं और १८वीं शती (विक्रम की)—केवल दो सौ वर्षों की समय-मर्यादा निश्चित करनी पड़ी। उक्त शतियों की कविता को ही लेने का एक विशेष हेतु यह भी था कि इन दो शतियों में संख्या और स्तर—दोनों ही दृष्टियों से अधिक उच्च स्तर के कवि और कृतियाँ समुपलव्ध होती हैं। परिणामत: जो नामकरण उचित हो सकता है वह है—"१७वीं और १८वीं शती के जैन-गुर्जर कवियों की हिन्दी कविता"।

महत्त्व :

प्रस्तुत विषय के महत्त्व को निम्नलिखित दृष्टियों से समझा जा सकता है—

(क) प्रस्तुत विषय पर शोध का अभाव।
(ख) साहित्य की विपुलता एवं उच्चस्तरीय गरिमा।
(ग) सम्प्रदायगत साहित्य में साहित्यिकता।
(घ) हिन्दी के राष्ट्रीय स्वरूप का विकास।

इस दिशा में अब तक जो गवेषणा हुई वह विशेषत: राजस्थान और गुजरात के विद्वानों के कुछ शोध-परक ग्रन्थों तथा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित फुटकर निवन्धों तक ही सीमित है। स्वतंत्र रूप से गुजरात के जैन कवियों की हिन्दी कविता की गवेषणा इन अध्येताओं में से किसी का मूल प्रतिपाद्य नहीं था। डॉ० अम्बाशंकर नागर को छोड़कर शेष अध्येता जैन-गुर्जर कवियों की हिन्दी कविता के प्रति प्राय: उदासीन ही रहे हैं। अत: इस बात की वड़ी आवश्यकता-प्रतीत होती रही कि जैन-गुर्जर कवियों की हिन्दी रचनाओं की समीचीन गवेषणा एवं उनकी साहित्यिक गुण-वत्ता का मूल्यांकन किया जाय।

भारतीय साहित्य परम्परा के निर्माण में जैन कवियों का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत भाषा से प्राकृत, अपभ्रंश तथा अन्यान्य देश्य भाषाओं तक इनकी सृजन-सलिला प्रवहमान रही है। यही कारण है कि जैन साहित्य हिन्दी में भी प्रचुर है, उतना ही विविध शैली सम्पन्न भी है।

सम्प्रदायगत साहित्य सदैव उपेक्षणीय अथवा तिरस्करणीय नहीं होता, अनेक कृतियाँ तो शुद्ध साहित्यिक मानदण्डों पर भी खरी उतरती हैं। अतः सम्प्रदायगत साहित्य का मूल्यांकन भी साहित्यिक समृद्धि के लिए अनिवार्य माना जायगा।

इस प्रकार के क्षेत्रीय शोधों से हिन्दी के राष्ट्रीय स्वरूप का विकास स्वतः होता चलेगा और यह एक प्रकार से व प्रकारान्तर से हिन्दी भाषा व साहित्य की एक अतिरिक्त किन्तु महत्त्वपूर्ण उपलब्धि होगी।

उक्त दृष्टियों से विचार करने पर विषय का महत्व स्वयंमेव प्रतिपादित हो जाता है।

२. विषय से सम्बद्ध प्राप्त सामग्री का विहंगावलोकन एवं सामग्री प्राप्ति के स्रोत

सामग्री—विहंगावलोकन :

जैन-गुर्जर कवियों की हिन्दी कविता पर शोधकार्य करने के लिए मुझे जो आधारभूत सामग्री प्राप्त हुई है, वह इस प्रकार है—

(१) शोध प्रबन्ध :

(क) गुजरात की हिन्दी सेवा (१९५७, राजस्थान युनिवर्सिटी)
डॉ० अम्बाशंकर नागर

(ख) गुजरात के कवियों की हिन्दी-काव्य-साहित्य को देन (१९६२, आगरा युनिवर्सिटी)
डॉ० नटवरलाल व्यास

(ग) सतरमां शतकना पूर्वार्ध ना जैन-गुजराती कविओ (१९६३, गुजरात युनिवर्सिटी)
डॉ० वि० जे० चोक्सी

(२) हिन्दी जैन साहित्य के इतिहास तथा अन्य ग्रन्थ :

(क) हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास : पं० नाथूराम प्रेमी
(ख) हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास : कामताप्रसाद जैन
(ग) जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास : मो० द० देसाई
(घ) हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन भाग १, २, : नेमिचन्द्र शास्त्री
(ङ) जैन गुर्जर कविओ भाग १, २, ३ : मो० द० देसाई
(च) गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रंथ : डॉ० अम्बाशंकर नागर

(ज) गुजरातीओ ए हिन्दी साहित्यमां आपेलो फालो :
डाह्याभाई पी० देरासरी

(झ) भुज (कच्छ) की व्रजभाषा पाठशाला : कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह

(ट) राजस्थान के जैन संत : व्यक्तित्व एवं कृतित्व :
डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल

(३) संग्रह-संकलन ग्रन्थ :

समय सुन्दर कृत कुसुमांजलि, जिनहर्ष ग्रन्थावलि, जिनराजसूरि कृत कुसुमांजलि, धर्मवर्द्धन ग्रन्थावलि, विनयचन्द्र कृत कुसुमांजलि, ऐतिहासिक जैन-काव्य संग्रह, जैन गुर्जर काव्य संग्रह, आनन्दघन पद रत्नावली, आनन्दघन पद संग्रह, गन संग्रह धर्मामृत, आनन्द काव्य महोदधि आदि हिन्दी तथा गुजराती विद्वानों द्वारा सम्पादित संकलन ग्रन्थ।

(४) पत्र-पत्रिकाओं में फुटकर निबन्ध :

शिक्षण और साहित्य, अनेकांत, जिनवाणी, परम्परा, राजस्थानी, हिन्दी अनुशीलन, वीरवाणी, सम्मेलन पत्रिका, साहित्य सन्देश, ज्ञानोदय, नागरी प्रचारणी पत्रिका, मरुवाणी, राजस्थान भारती, जैन सिद्धांत भास्कर आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित विभिन्न विद्वानों के फुटकर निबन्ध तथा प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, श्री राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंन्थ, मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ, आचार्य विजयवल्लभ सूरि स्मारक ग्रन्थ आदि में प्रकाशित कुछ निबंध।

उपर्युक्त सामग्री में केवल तीन शोध प्रबंध ही ऐसे है, जिनमें कुछ गुर्जर कवियों तथा उनकी कृतियों का परिचय उपलब्ध होता है। डॉ० नागर के अधिनिबंध—"गुजरात की हिन्दी सेवा" का प्रतिपाद्य गुजरात के अंचल में आती समस्त हिन्दी साहित्य सम्पदा की गवेपणा था। अतः उन्होंने वैष्णव, स्वामीनारायण संत, राज्याश्रित, सूफी तथा आधुनिक कवियों का परिचय प्रस्तुत करते हुए गुजरात के आनन्दघन, यशोविजय, विनय विजय, ज्ञानानन्द, किसनदास आदि कुछ प्रमुख कवियों का परिचय देने तक ही अपने को सीमित रखा है। डॉ० व्यास का कार्य प्रारम्भिक गवेपणा का ही है। इनका प्रबन्ध यद्यपि डॉक्टर नागर के कार्य के पश्चात् प्रस्तुत किया गया था तथापि ये डॉ० नागर से विशेप जैन कवियों को प्रकाश में नहीं ला सके हैं। डॉ० चोक्सी के प्रबन्ध का मुख्य प्रतिपाद्य गुजरात और गुजराती भापा के कवियों को प्रकाश में लाने का रहा है सतः गुजरात के हिन्दी-सेवी जैन कवियों पर उनकी विशेप दृष्टि नहीं रही है।

हिन्दी-जैन साहित्य के इतिहास में भी जैन-गुर्जर कवियों का न्यूनाधिक

उल्लेख ही हुआ है। अन्य हिन्दी एवं गुजराती के सामान्य ग्रन्थों में अपने-अपने प्रदेश विशेष के कवियों और उनके कृतित्व का परिचय मिल जाता है। इनमें कुछ कवि ऐसे अवश्य निकल आये हैं जिनका सम्बन्ध विशेषतः गुजरात और राजस्थान दोनों प्रांतों से रहा है। डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल के ग्रन्थ "राजस्थान के जैन सन्त" में कुछ जैन सन्त मूलतः गुजरात के ही रहे हैं। डॉ० कस्तूरचन्दजी भी इनके व्यक्तित्व और कृतित्व के परिचय से आगे नहीं बढ़े हैं। हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन में जैन कवियों के मूल्यांकन का स्वर थोड़ा ऊँचा अवश्य रहा है, पर यह मूल्यांकन समस्त हिन्दी जैन साहित्य को लेकर हुआ है। जिसमें आनन्दघन और यशोविजयजी जैसे अत्यल्प जैन-गुर्जर कवियों को स्थान मिला है, शेष अनेक महत्वपूर्ण कवि रह गये हैं।

सम्पादित अथवा संकलन ग्रन्थों में विशेषतः विभिन्न कवियों की फुटकर रचनाओं को ही संगृहीत व सम्पादित किया गया है। एतत्सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित सभी लेखों में गुजरात के जैन साहित्य और कवियों से सम्बन्धित विषय अत्यल्प ही रहा है।

सामग्री प्राप्ति के स्रोत :

गुर्जर-जैन कवियों की हिन्दी कविता के अध्ययन के लिए प्राप्त सामग्री को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। यथा—

(क) संकलित सामग्री (प्रकाशित एवं अप्रकाशित)।
(ख) परिचयात्मक सामग्री (प्रकाशित एवं अप्रकाशित)
(ग) अलोचनात्मक सामग्री (प्रकाशित एवं अप्रकाशित)

(क) संकलित सामग्री :

जैन-गुर्जर कवियों की समग्र हिन्दी कविता का व्यवस्थित रूप से अब तक सम्पादन नहीं हो सका है। अधिकांश ऐसी प्राप्त सामग्री गुजराती ग्रन्थों में गुजरात कविता के बीच-बीच ही उपलब्ध होती है। अतः यह आवश्यकता अवश्य बनी हुई है कि गुजरात के अंचल में आवृत्त समग्र हिन्दी जैन साहित्य का स्वतन्त्र रूपेण संग्रह एवं सम्पादन किया जाय। इस प्रकार के साहित्य के प्रकाशन में गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी (अहमदाबाद); फा० गु० स० (बम्बई); म० स० विश्वविद्यालय, बड़ौदा, साहित्य शोध विभाग, महावीर भवन, जयपुर; श्री जैन श्वेताम्बर कान्फरन्स आफिस, बम्बई; श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर; श्री अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मंडल, बम्बई; सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर; शा० बावचन्द गोपालजी, बम्बई आदि संस्थाओं का विशिष्ट योगदान रहा है। गुजराती के जैन कवियों की अप्रकाशित वाणी प्रायः निम्न स्थानों में उपलब्ध होती है—

(क) विभिन्न पुस्तकालयों में।

(ख) विभिन्न मन्दिरों एवं ज्ञान भण्डारों में।

(ग) विभिन्न शोध संस्थानों तथा प्रकाशन संस्थाओं में।

(घ) व्यक्ति विशेष के पास तथा निजी भण्डारों में।

लेखक ने गुजरात के पाटण तथा अहमदाबाद और राजस्थान के उदयपुर चित्तौड़, जयपुर, जोधपुर, तथा बीकानेर के विभिन्न ज्ञान भण्डारों, पुस्तकालयों तथा शोध संस्थाओं की प्राप्त सामग्री के अध्ययन का लाभ उठाया है।

(ख) परिचयात्मक सामग्री :

जैन-गुर्जर कवियों के सामान्य परिचय सम्बन्धी सामग्री जैन साहित्य के विभिन्न इतिहासों से तथा विशेषतः श्री मोहनलाल दलिचन्द देसाई के ग्रन्थ जैन गुर्जर कविओ (तीन भाग) से प्राप्त हुई है। कुछ कवियों के परिचय लेखक ने विभिन्न भण्डारों की अप्रकाशित सामग्री से भी खोजने के प्रयत्न किये हैं। इसके लिए मुनि कांतिसागर जी (उदयपुर) के अप्रकाशित अंशों तथा डॉ० कस्तूरचन्द जी कालीदास जी के नोट से भी पर्याप्त सहायता मिली है।

(ग) आलोचनात्मक सामग्री :

गुजराती तथा जैन साहित्य के विशिष्ट अध्येताओं में डॉ० कन्हैयालाल मुन्शी, आचार्य अनन्तराय रावल, डॉ० भोगीलाल सांडेसरा, श्री विष्णुप्रसाद त्रिवेदी, आचार्य कुँवर चन्द्रप्रकाशसिंह, डॉ० अम्बाशंकर नागर, श्री के० का० शास्त्री, श्री अगरचन्द नाहटा, श्री मोहनलाल दलिचन्द देसाई, प्रो० मंजुलाल मजुमदार, श्री नाथूराम प्रेमी, श्री कामताप्रसाद जैन, श्री नेमिचन्द शास्त्री, डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, प्रो० दलसुखभाई मालवणिया, पं० श्री बेचरदास दोशी, पं० सुखलालजी, मुनि कांतिसागरजी, श्री पुण्यविजयजी, श्री जिनविजयजी आदि का नाम लिया जा सकता है। इन वरेण्य विवेचकों एवं चिंतकों की प्रकाशित एवं अप्रकाशित—दोनों प्रकार की उपलब्ध सामग्री का अध्ययन लेखक ने किया है।

३. प्रस्तुत विषय में शोध-संभावनाएँ

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय मौलिक एवं गवेषणा की सम्भावनाओं से पूर्ण है। ये सम्भावनाएँ जहाँ एक ओर शोधार्थी को असंख्य कृतियों व कृतिकारों को प्रकाश में लाने की ओर प्रेरित करती प्रतीत होती हैं, वहाँ दूसरी ओर उनके सामूहिक मूल्यांकन का दिशा-निर्देश भी करती हैं।

४. प्रस्तुत अध्ययन की मर्यादाएँ

गुजरात के जैन कवियों की हिन्दी कविता का अध्ययन करने के पूर्व निम्न-लिखित बातों का स्पष्टीकरण कर लेना अधिक समीचीन होगा—

(१) कवियों एवं कृतियों से सम्बन्धित उद्धरण सदैव हस्तलिखित अथवा मुद्रित मूलग्रन्थों से ही लिये गये हैं। गुजराती विद्वानों द्वारा सम्पादित ग्रन्थों से काव्य पंक्तियों और पदों को पाठ की दृष्टि से यथावत् स्वीकार कर लिया गया है। पाठशुद्धि की अनधिकार चेष्टा में उलझना लेखक ने उपयुक्त नहीं समझा।

(२) लगभग सभी स्थानों पर दिये गये सन्-संवत् प्रायः विद्वानों के मतानुसार-ही हैं, इनका निर्णय करना मेरा प्रतिपाद्य नहीं है। काल निर्धारण के सम्बन्ध में भी यथासम्भव सतर्कता रखी गई है, और जहाँ कहीं आवश्य-कता प्रतीत हुई है विद्वानों के मतों को यथावत् कहना ही उचित समझा गया है। प्रकरण २ और ३ में कवियों के सामने दिये गये सम्वत् अधि-कांशतः उनकी उपस्थिति के काल के सूचक हैं।

(३) जैन-गुर्जर कवि से मेरा अभिप्राय है—जो जैन धर्मी परिवार में जन्मे हो अथवा जैन धर्म में दीक्षित हुआ हो। जिसका जन्म गुजरात में हुआ हो। जिसने अपनी साधना एवं प्रचार—विहार का क्षेत्र गुजरात चुना हो अथवा जो गुजरात की भूमि से सम्पृक्त न होकर भी गुजराती के साथ हिन्दी में काव्य रचना करता रहा हो।

(४) धर्म और दर्शन मेरा विषय नहीं है। आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसका अध्ययन या विश्लेषण काव्य तत्त्व की भूमिका के स्वरूप में ही किया गया है।

(५) भौगोलिक दृष्टि से गुजरात की सीमाएँ इस प्रकार हैं—उत्तर में बनास, दक्षिण में दमणगंगा, पूर्व में अरावली और सह्याद्रि गिरि मालाएँ तथा पश्चिम में कच्छ की खाड़ी और अरबसागर।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने से गुजरात की राजनीतिक, सीमाओं में समय समय पर मारवाड़ का बृहद् अंश (११वीं शती) तथा मेवाड़ का कुछ अंश समा-विष्ट हुआ दिखाई पड़ता है।

गुजरात प्रदेश के आधार पर इस प्रदेश की भाषा का नामकरण गुजराती हुआ है। भाषा की दृष्टि से इस प्रदेश की सीमाएँ अधिक विस्तृत हैं। अतः व्यापक अर्थ में गुजराती भाषा भाषी क्षेत्र को भी गुजरात कहा जाता है। भाषा की दृष्टि से

उत्तर गुजरात की सीमा शिरोही और मारवाड़ तक पहुँचती है। इसमें सिंध का रेगिस्तान तथा कच्छ का रेगिस्तान भी आ जाता है। दक्षिण गुजरात की सीमा दमण गंगा और थाणा जिला तक और पूर्वी गुजरात की सीमा धरमपुर से पालनपुर के पूर्व तक मानी जाती है।[1] इस प्रकार गुजरात का भाषाकीय विस्तार अधिक व्यापक है।

(६) प्रस्तुत प्रबन्ध में "हिन्दी" शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है। आचार्य हजारीप्रसाद जी ने भी "हिन्दी" शब्द का प्रयोग एक रूपा भाषा के लिए न बताकर एक भाषा परम्परा के लिए बताया है।[2] हिन्दी राजस्थान, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार तथा मध्य प्रदेश के विशाल भू-भाग की भाषा है। इसकी विभाषाओं में राजस्थानी, अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली मुख्य हैं। ये चार भाषाएँ अपने में समृद्ध एवं स्वतः अस्तित्व रखती हुई भी राष्ट्रभाषा के सुदृढ़ सिंहासन की आधार स्तम्भ बनी हुई हैं।

हिन्दी का विस्तार अत्यधिक व्यापक है—अपभ्रंश, डिंगल, अवहट्ठ आदि भाषाओं का भी हिन्दी में समावेश कर बंगाल के बौद्ध-सिद्धों के पदों, राजस्थान के प्रशस्ति काव्यों और मैथिल-कोकिल विद्यापति के पदों को हमने अपना लिया है इसी प्रकार पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र तथा बंगाल के सन्तों की सधुक्कड़ी वाणी को भी हिन्दी नाम से ही अभिहित किया गया है। उर्दू भी हिन्दी की ही एक विशिष्ट शैली है।

हिन्दी के इस व्यापक अर्थ को दृष्टि समक्ष रखकर ही हिन्दी की विभिन्न भाषाओं में सर्जित तथा प्रादेशिक प्रभावों से प्रभावित जैन-गुर्जर कवियों के साहित्य के लिए "हिन्दी" शब्द का प्रयोग किया गया है।

५. प्रस्तावित योगदान

प्रस्तुत प्रबन्ध की मौलिकता, उपलब्धि तथा उसके महत्त्व के सम्बन्ध में एक-दो शब्द कह देना अप्रासंगिक न होगा—

विषय से सम्बन्वित समस्त प्राप्त सामग्री का विधिवत् अध्ययन कर उसे वैज्ञानिक पद्धति से वर्गीकृत करके उसकी समालोचना करने का यह मेरा अपना एवं मौलिक प्रयास है।

---

१. गुजरात अने एनु साहित्य, श्री क० मा० मुन्शी, पृ० १, २

२. हिन्दी साहित्य; आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २

प्रस्तुत प्रवन्ध में १७वीं एवं १८वीं शती के ८१ जैन-गुर्जर कवियों तथा उनकी लगभग २७४ हिन्दी कृतियों का सामान्य परिचय देते हुए उनका समग्र रूप से विश्लेपण किया गया है। इन कवियों तथा कृतियों के साहित्योचित मूल्यांकन का भी यह मेरा सर्वप्रथम एवं मौलिक प्रयास है।

प्रस्तुत प्रवन्ध में मैंने न केवल अनेक कवियों तथा उनकी कई कृतियों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया है अपितु ज्ञात तथ्यों का पुनरीक्षण व पुनराख्यान करने तथा साहित्य की टूटी हुई कड़ियों को जोड़ने का भी भरसक प्रयत्न किया है। यों भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा मान लेने पर, विभिन्न प्रदेशों में उसके बिखरे सूत्रों को संकलित करके हिन्दी भाषा-साहित्य की समग्रता का बोध कराने वाले ये क्षेत्रीय अनुसंधानात्मक प्रयास, सम्प्रति विघटनकारी प्रवृत्तियों के बीच, भारत की राष्ट्रीय सांस्कृतिक एकता को बनाये रखने वाली शक्तियों के संकल्प को न केवल दृढ़ करेंगे वल्कि अपना भावात्मक योगदान भी करेंगे।

६. प्रकरण विभाजन और प्रकरण-संक्षिप्ति

पूरा प्रवन्ध तीन खण्डों और सात प्रकरणों में विभाजित है। तीन खण्ड हैं— भूमिका खण्ड, परिचय खण्ड और आलोचना खण्ड। प्रथम भूमिका खण्ड के "प्रवेश" शीर्पक के अन्तर्गत विपय-चयन, उसकी प्रेरणा, नामकरण, महत्व, मर्यादा तथा विषय का स्पष्टीकरण अन्यान्य दृष्टियों से किया गया है। अन्त में प्राप्त सामग्री तथा इस प्रवन्ध द्वारा मौलिक योगदान का निर्देश भी कर दिया गया है।

प्रथम प्रकरण में आलोच्य-युगीन कविता का सामूहिक परिवेश और पृष्ठभूमि पर एक विहंगम दृष्टि से विचार प्रस्तुत है।

परिचय खण्ड के प्रकरण २ और ३ में १७वीं एवं १८वीं शती के जैन-गुर्जर कवियों और उनकी कृतियों का परिचय दिया गया है। इनमें से अधिकांश कवियों का सम्वन्ध गुजरात और राजस्थान दोनों ही प्रांतों से रहा है।

आलोचना खण्ड के प्रकरण ४, ५, ६ और ७ में समग्रदृष्टि से जैन-गुर्जर कवियों की हिन्दी कविता का विस्तार से परीक्षण समाविष्ट है। प्रथम इनके भावपक्ष का फिर इनके कलापक्ष में भाषा तथा विविध काव्यरूपों की विस्तृत आलोचना है। हिन्दी को अपनी वाणी का माध्यम बनाकर इन जैन-गुर्जर सन्त कवियों ने भक्ति, वैराग्य एवं ज्ञान का उपदेश देकर काव्य, इतिहास और धर्म-साधना की जो त्रिवेणी वहाई है—उसमें आज भी हम उनकी शतशत भावोर्मियों का स्पंदन अनुभव कर सकते हैं। इनकी भाषा सरल एवं प्रवाहपूर्ण थी। इन्होंने कई छन्द विविध राग गिरानियों में प्रयुक्त किये थे। ये अलंकारों में मर्यादाशील वने रहे। अलंकारों के

कारण कहीं स्वाभाविकता समाप्त नहीं हुई। इनके काव्य में काव्यरूप की विविधता और मौलिकता के भी दर्शन होते हैं। विभिन्न राग-रागिनियों में निवद्ध इन कवियों की कविता काव्य, संगीत एवं भक्ति का मधुर संयोग वन कर आती है।

उपसंहार में, गुजरात के जैन हिन्दी कवियों की वाणी का समग्र दृष्टि से अध्ययन करने के पश्चात् लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि गुजरात के इन जैन सन्तों की वाणी भी भारतव्यापी सन्त परम्परा की एक अविच्छेद्य कड़ी प्रतीत होती है। साथ ही जैन कवियों की यह देन मात्र भाषा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण नहीं, वल्कि विचारों में समन्वयवादी, धर्म में उदार, संस्कृति के क्षेत्र में व्यापक, तथा साहित्य के क्षेत्र में विविध काव्यरूपों, उदात्त भावनाओं एवं कल्पनाओं से परिपूर्ण है।

प्रकरण १

आलोच्य कविता का सामूहिक परिवेश तथा पृष्ठभूमि

१. जैन धर्म साधना, जैन धर्म की प्राचीनता, भारतीय संस्कृति में जैन संस्कृति का स्थान, जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धांत, सम्प्रदायभेद और उसके कारण, जैनधर्म की दार्शनिक-आध्यात्मिक चेतना पर दृष्टिपात ।

२. जैन साहित्य का स्वरूप, महत्त्व तथा उसकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ, गूर्जर जैन साहित्यकार और उनके हिन्दी में रचना करने के कारण ।

३. पृष्ठभूमि, (१७वीं तथा १८वीं शती)
   - (क) ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
   - (ख) राजनीतिक पृष्ठभूमि
   - (ग) धार्मिक पृष्ठभूमि
   - (घ) सामाजिक पृष्ठभूमि
   - (च) साहित्यिक पृष्ठभूमि

आलोच्य कविता का सामूहिक परिवेश

प्रवेश :

प्राचीन भारतीय संस्कृति अपने विविध रंगों में रंगी हुई है। उसमें अनेक धर्म-परम्पराओं के रंग मिश्रित हैं। भारतीय संस्कृति में प्रधानतः दो परम्पराएं—ब्राह्मण और श्रमण—विशेष ध्यान आकर्षित करती हैं। ब्राह्मण या वैदिक में परम्परा के बीच मौलिक अन्तर है। ब्राह्मण-परम्परा वैषम्य पर प्रतिष्ठित है जबकि श्रमण परम्परा साम्य और समता पर आधारित है। ब्राह्मण परम्परा ने स्तुति, प्रार्थना तथा यज्ञादि क्रियाओं पर अधिक बल दिया, जबकि श्रमण परम्परा ने श्रम पर।

प्राकृत शब्द "समण" के तीन संस्कृत रूप होते हैं–श्रमण, समन और शमन।[1] श्रमण संस्कृति का आधार इन्हीं तीन शब्दों पर है। श्रमण शब्द "श्रम" धातु से बना है, जिसका अर्थ मुक्ति के लिए परिश्रम करना है। यह शब्द इस बात का प्रतीक है कि व्यक्ति अपना विकास अपने ही श्रम द्वारा कर सकता है। समन का अर्थ है समता भाव अर्थात् सभी को आत्मवत् समझना। सभी के प्रति समभाव रखना। रागद्वेषादि से परे रहकर शत्रु और मित्र के प्रति समभाव रखना तथा जातिपांति के भेदों को न मानना आदि। शमन का अर्थ है अपनी वृत्तियां को शान्त रखना। यही श्रमण-संस्कृति की धुरी "ब्रह्म" है, जिसके लिए यज्ञ पूजा, स्तुति आदि आवश्यक हैं।

जैन धर्म, इसी श्रमण संस्कृति का एक भाग है। आज जिसे जैन धर्म कहा जाता है वह भगवान महावीर और पार्श्वनाथ के समय में निर्ग्रन्थ नाम से पहचाना जाता था। यह श्रमण धर्म भी कहलाता है। अन्तर इतना ही है कि एक मात्र निर्ग्रंथ ही श्रमण धर्म नहीं है। श्रमण धर्म की अनेक शाखा प्रशाखाएं थीं, जिसमें कोई बाह्य तप पर, कोई ध्यान पर, तो कोई मात्र चित्तशुद्धि पर अधिक जोर देती थी, किन्तु साम्य या समता सबका समान ध्येय था। श्रमण परम्परा की जिस शाखा ने संसार त्याग और अपरिग्रह पर अधिक जोर दिया और अहिंसा पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया वह शाखा निर्ग्रंथ नाम से प्रसिद्ध हुई जो बाद में जैन धर्म भी कहलाने लगी।

जैन धर्म साधना :

जैन-धर्म-साधना में धर्म स्वयं श्रेष्ठ मंगल रूप है। अहिंसा, संयम और तप ही धर्म है। ऐसे धर्म में जिनका मन रमता है, उनको देवता भी नमन करते हैं। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—

---

1. भारतीय संस्कृति की दो धाराएं--डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, पृ० ४।

धम्मो मंगलकुविकटटं, अहिंसा संजमो तवो।
देवावि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सपामणो ॥[1]

जैन धर्म सभी प्राणियों के सुख पूर्वक जीने के अधिकार को स्वीकार करता है। सभी प्राणियों को जीवन प्रिय है, सुख अच्छा लगता है, दुःख प्रतिकूल है। इस बात को आचारांग सूत्र में इस प्रकार कहा गया है---

सच्चे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला।[2]
(अ० १, उद्देश्य २, गा० ३)

अहिंसा जैन धर्म का प्राण है। यद्यपि सभी धार्मिक परम्पराओं में अहिंसा तत्त्व को न्यूनाधिक रूप में स्वीकार किया है, पर जैन धर्म ने इस तत्त्व पर जितना बल दिया है और उसे जितना व्यापक बनाया है, अन्य परम्पराओं में न तो इतना बल ही दिया गया है और न उसे इतने व्यापक रूप से स्वीकार ही किया है। जो लोग आत्मसुख के लिए किसी भी जीव की हत्या करते हैं या उसे कष्ट पहुँचाते हैं, वे सभी अज्ञान और मोह में फंसे हैं। उन्हें अपने किये का फल भोगना पड़ता है। परमेश्वर या अन्य कोई व्यक्ति अपने किये कर्मों के परिणाम से मुक्ति नहीं दिला सकता।

जैन धर्म ने स्वावलंबन पर जोर दिया है। कोई भी जीव स्वयं उत्क्रान्ति कर सकता है। कोई स्थान किसी जाति या व्यक्ति विशेष के लिए निश्चित और अन्य के लिए वर्जित नहीं है।

जैन दर्शन में दुःख का प्रमुख कारण कर्म माना गया है। आत्मा कर्म के आवरण से आवेष्टित हो जाती है अतः मानव सच्चे सुख का रास्ता भूल जाता है और शरीर के प्रति उसका महत्त्व बढ़ जाता है। वह शारीरिक सुखों को ही महत्त्व देता हुआ भ्रम में फसा रहता है। अपने सुख के लिए दूसरों को कष्ट देने लगता है। दूसरों को दुःख देने से कोई सुखी नहीं बनता। जैन दर्शन के अनुसार दूसरों को दुःखी बना कर सुख प्राप्ति का प्रयत्न अज्ञान मूलक एवं अनौचित्यपूर्ण है। इस अज्ञान के कारण मानव के दुःखों में तो वृद्धि होती ही है, जन्म-मरण की अवधि भी बढ़ जाती है। अतः आत्मा को कर्म के बन्धन से मुक्त करना आवश्यक है। कर्म-आवरण से अलिप्त आत्मा में प्रसुप्त शक्तियाँ जाग्रत हो उठती हैं, तभी मनुष्य सच्चे सुख का स्वरूप पहचान कर शारीरिक सुख-दुःखों में विवेक करना सीखता है। अज्ञान, तृष्णा तथा कषायों द्वारा निर्मित दुःख से मुक्त हो अन्यों द्वारा दिये हुए दुःखों को धैर्यपूर्वक सहन करने की शक्ति पा लेता है। वह दुःखों से विह्वल या क्षुब्ध नहीं बनता।

---

१. दशवैकालिक सूत्र—अध्याय १, गा० १
२. आचारांग सूत्र--अध्याय १, उद्देश्य २, गा० ३

कर्म बन्धन से मुक्त मानव को शेष आयु तो भोगनी पड़ती है, वह नाम से भी पुकारा जाता है और जब तक शरीर है तब तक वेदना सहनी पड़ती है। किन्तु जब आयु, नाम, गोत्र तथा वेदनीय कर्मों का आवरण हट जाता है तब साधक को सिद्धि-लाभ होता है, वह सच्चा आत्म-स्वरूप पहचान लेता है और सब प्रकार के बन्धनों से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। जैनों की दृष्टि से यही मानवता का पूर्ण विकास है, यही मानव-जीवन की अन्तिम सिद्धि और सार्थकता है।

जैन मान्यतानुसार सिद्ध और तीर्थंकर इस मानवता के प्रस्थापक और उसके विकास-चक्र को गति देने वाले हैं। स्वयं की मानवता का विकास करते हुए सिद्धि-लाभ करने वाले सिद्ध हैं और अपनी मानवता के साथ साथ दूसरों में मानवता जगा कर उनका सच्चा मार्ग दर्शन करने वाले तीर्थंकर हैं। तीर्थंकर तीर्थों की प्रस्थापना कर प्राणिमात्र के प्रति अपने सद्भाव तथा सहानुभूतिमय प्रेम की वर्षा करते हुए मानवता के सार्वत्रिक विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

"जैन" शब्द का अर्थ है "जिन" के अनुयायी और "जिन" शब्द का अर्थ है—जिसने राग-द्वेष को जीत लिया है। जैन धर्म में ऐसे महात्माओं को तीर्थंकर कहा है। उन्हें अर्हत अथवा पूज्य भी कहा जाता है। जैन धर्मानुसार २४ तीर्थंकर हुए हैं।

जैन धर्म की प्राचीनता :

आज अन्यान्य विद्वानों द्वारा जैन धर्म को एक स्वतन्त्र अस्तित्व में जीवित, चिरकाल से पुष्ट और आदर्श धर्म के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। एक भ्रान्त धारणा यह भी प्रचलित थी कि जैन धर्म के प्रवर्तक भगवान महावीर थे—अर्थात् जैन धर्म केवल २५०० वर्षों से ही अस्तित्व प्राप्त है। अब यह धारणा निर्मूल सिद्ध हो चुकी है। जैन धर्म आदि तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित धर्म है। आज इस मत का समर्थन अनेक रूपों में हो रहा है।

वैदिक धर्म के कुछ प्राचीन ग्रन्थों से भी सिद्ध होता है कि उस समय जैन धर्म अस्तित्व में था। रामायण और महाभारत में भी जैन धर्म का उल्लेख हुआ है। जैन धर्मानुसार बीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रत स्वामी के समय में रामचन्द्रजी का होना सिद्ध है।[1] महाभारत के आदि पर्व के तृतीय अध्याय में २३ वें और २६ वें श्लोक में एक जैन मुनि का उल्लेख हुआ है। इसी तरह शान्ति पर्व में (मोक्ष धर्म अध्याय—२३९ श्लोक – ६) जैनों के 'सप्तभगी नय' का वर्णन है।

इस महाकाव्य के भीष्म पर्व के ९ वें अध्याय के श्लोक ५—८ में संजय की भारत-स्तुति में ऋषभ का उल्लेख हुआ है। इससे यह ज्ञात होता है कि प्रथम जैन

---

१. महावीर जयन्ती स्मारिका, राजस्थान जैन सभा, जयपुर, डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन का लेख, पृ० १३

तीर्थंकर ऋषभदेव को प्रसिद्धि भारतवर्ष के एक आद्य क्षत्रिय महापुरुष के रूप में भारत युद्ध के समय तक हुई थी। यही कारण है कि जिन-जिन लोगों ने इस महाग्रन्थ के निर्माण तथा संवर्द्धन में योग दिया वे ऋषभ के नामोल्लेख के औचित्य की उपेक्षा नहीं कर सके।

कुछ इतिहासकारों की ऐसी मान्यता है, जो जैनों को स्वीकृत नहीं, कि महाभारत ईसा से तीन हजार वर्ष पहले तैयार हुआ था और रामचन्द्रजी महाभारत से एक हजार वर्ष पूर्व विद्यमान थे।

"ब्रह्मसूत्र" में "नैकस्मिन्नसंभवात्" कहकर वेद व्यास ने जैनों के स्याद्वाद पर आक्षेप किया है। "ब्रह्माण्डपुराण" और "स्कन्द पुराण"—में भी इक्ष्वांकु वंश में उत्पन्न नाभि राजा और मरुदेवी के पुत्र ऋषभ का उल्लेख व नमन किया गया है।[1] ऋग्वेद में भी वृषभनाथ सम्राट को अखण्ड पृथ्वी मण्डल का सार रूप, पृथ्वीतल का भूषण, दिव्य-ज्ञान द्वारा आकाश को नापने वाला कहकर उनसे जगरक्षक व्रतों के प्रचार की प्रार्थना की गई।[2]

जैन धर्म की प्राचीनता डॉ० राधाकृष्णन ने भी स्वीकार की है। उन्होंने लिखा है—"भागवत पुराण से स्पष्ट है कि जैन धर्म के संस्थापक ऋषभदेव की पूजा ईसा की प्रथम शताब्दी में होती थी। इसके प्रमाण भी उपलब्ध हैं। निस्सदेह जैन धर्म वर्धमान अथवा पार्श्वनाथ से पूर्व प्रचलित था। यजुर्वेद में ऋषभ, अजित और अरिष्टनेमि का उल्लेख है"।[3]

प्रो० जयचन्द विद्यालंकार ने लिखा है—"जैनों की मान्यता है कि उनका धर्म बहुत प्राचीन है और भगवान महावीर के पहले २३ तीर्थंकर हुए हैं। इस मान्यता में तथ्य है। ये तीर्थंकर अनैतिहासिक व्यक्ति नहीं थे। भारत का प्राचीन इतिहास उतना ही जैन है जितना वैदिक।[4]

सारांशत: ईस्वी पूर्व छठी शताब्दी में भारतीय संस्कृति की दो मुख्य धाराएँ अस्तित्व में थी—एक यज्ञ तथा भौतिक सुखों पर बल देने वाली ब्राह्मण परम्परा और

---

१. "इहहि इक्ष्वाकुकुल वंशोद्भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्या: नन्दनेन महादेवेन रिषभेण दश प्रकारो धर्मः स्वयमेवाचीर्णः केवल ज्ञान लाभाच्च प्रवर्तितः।"
महर्षि व्यास रचित–ब्रह्माण्ड पुराण।
निरंजन निराकार रिषभन्तु महारिषिम् ॥ स्कन्द पुराण।
आदित्या त्वमसि आदित्यसद् आसीद अस्त भ्नाद्या वृषभो तरिक्षं जमिमीते वारिमाणं। पृथिव्याः आसीत् विश्वा भुवनानि सम्राडिवश्वे तानि वरुणस्य व्रतानि। ऋग्वेद–३०। अ० ३।
. Dr. S. Radhakrishnan, Indian Philosophy, Vol. I P. 287
. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग १, जयचन्द विद्यालंकार, पृ० ३४३

दूसरी निवृत्ति तथा मोक्ष पर बल देने वाली श्रमण परम्परा। जैन धर्म श्रमण परंपरा की एक प्रधान शाखा है। इसी श्रमण परम्परा के एक सम्प्रदाय को भगवान पार्श्वनाथ और महावीर के समय में निर्ग्रन्थ नाम से पहचाना गया, जो बाद में जैन धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अतः जैन धर्म की परम्परा वैदिक युग से अविछिन्न रूप से चली आ रही है। वैदिक साहित्य में यतियों के उल्लेख आये हैं, जो श्रमण परम्परा के साधु थे। ऋग्वेद में व्रात्यों के उल्लेख आये हैं।[1] उनका वर्णन अथर्ववेद में भी है, जो वैदिक विधि से प्रतिकूल आचरण करते थे। मनुस्मृति में लिच्छवी, नाथ, मल्ल आदि क्षत्रियों को व्रात्य माना गया है।[2] ये भी श्रमण परम्परा के प्रतिनिधि थे। संक्षेपतः वैदिक संस्कृति के साथ श्रमण संस्कृति भी भारत में स्वतन्त्र रूप से चल रही थी जो कालान्तर में निर्ग्रन्थ और जैन धर्म के रूप में अपना अस्तित्व बनाये रही।

भारतीय संस्कृति में जैन संस्कृति का स्थान :

भारतीय संस्कृति तो उस महासमुद्र की तरह रही है, जिसमें अनेक संस्कृति-स्रोतस्विनियाँ विलीन हो गई हैं। इसके अंचल में आस्तिक और नास्तिक सभी प्रकार के परस्पर विरोधी विचार भी फले-फूले हैं। इस देश में युगों से वैदिक, जैन और बौद्ध धर्मों के साथ अन्याय धर्म भी एक साथ शान्तिपूर्वक चलते आ रहे हैं।

हम कह चुके हैं कि प्राचीन काल से भारतीय संस्कृति मुख्य रूप से दो प्रकार की विचारधारा में प्रवाहित रही। ब्राह्मण संस्कृति और श्रमण संस्कृति। इन दोनों संस्कृतियों के दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण रहे। एक वर्ग प्राचीन यज्ञ और कर्म-काण्डों का अनुयायी रहा। इसकी संस्कृति का प्रवाह वाह्य क्रिया-काण्ड प्रधान भौतिक जीवन की ओर विशेष गतिशील रहा। दूसरे वर्ग ने श्रमण संस्कृति को अपनाकर धर्म और उसके स्वरूप को पुनः मूर्तित किया। आत्मोन्नति के लिए स्वाश्रयी और पुरुपार्थी बनने की प्रेरणा देने वाली सांस्कृतिक परम्परा ही श्रमण संस्कृति है। इसमें स्वयं जियो और दूसरे को जीने दो का मन्त्र है। वर्ग, वर्ण या जाति-पांति, ऊँच-नीच का यहाँ कोई भेद नहीं, शुद्ध आचार-विचार की प्रधानता अवश्य है। इसी संस्कृति में आचारगत पाँच व्रतों का—सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का—अत्यधिक महत्व है। यह श्रमण सस्कृति भारतीय संस्कृति का ही एक अंग है और इसी श्रमण संस्कृति को जैन धर्म ने अपने साधुओं के लिये अपनाया।

भारतीय संस्कृति की समन्वयवादी दृष्टि इस संस्कृति का मूल है। सदाचार, तप और अहिंसा की त्रिवेणी वहाकर भारतीय संस्कृति को अधिक मानवतावादी

---

१. ऋग्वेद ७।२१।५ तथा १०।९९।३

२. मनुस्मृति, अध्याय १०

बनाने का कार्य, जैन श्रमणों के प्रयत्नों का फल है। यह समन्वय दर्शन, साधना तथा उपासना के क्षेत्र में भी प्रगट हुआ है। स्याद्वाद या अनेकान्तवाद के साथ-साथ गीता में वर्णित अहिंसक यज्ञों[1] की देन इसी समन्वयवादी दृष्टिकोण का प्रतिफल है। पुनर्जन्मवाद, कर्मफलवाद और संस्कारवाद पर अधिक बल देकर जैन संस्कृति ने भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं को अनायास ग्रहण कर लिया है, साथ ही मुक्ति के लिये तप, साधना और सदाचार के साथ-साथ सन्यास की आवश्यकता भी प्रतिष्ठित की है।

हिन्दी और गुजराती साहित्य तो इसके विशेष ऋणी कहे जा सकते हैं। अपनी दार्शनिक चिन्तनधारा भी अधिक वैज्ञानिक तथा युक्तिसंगत बनाये रखने का कार्य जैन मुनियों और आचार्यों ने किया है। समन्वयवादी दृष्टिकोण के कारण ये कभी असहिष्णु नहीं बने। सारांशतः जैन संस्कृति अपनी सदाचारिता द्वारा भारतीय संस्कृति को समय-समय पर अधिक दीप्तिमय और विकृति रहित करने में सहायक रही है।

जैन-दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त :

दर्शन और धर्म भिन्न-भिन्न विषय होते हुए भी दोनों का सम्बन्ध अभिन्न है। प्रत्येक धर्म का अपना दर्शन होता है जिसका व्यापक प्रभाव धर्म पर पड़ता रहता है। धर्म को समझने के लिए दर्शन का ज्ञान आवश्यक है।

जैन धर्म का भी अपना एक दर्शन है। इस दर्शन में आचार-विचार को लेकर दो प्रकार के प्रमुख सिद्धांतों के दर्शन प्राप्त होते हैं—(१) आचार से सम्बन्ध सिद्धांत में—आत्म तत्त्व, कर्म सिद्धांत, लोक तत्त्व का समावेश होता है। तथा (२) विचार पक्ष से सम्बन्ध रखने वाला अनेकान्तवाद या विभज्जवाद है, जो जैन दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है। इसी अनेकान्तवाद का दूसरा नाम स्याद्वाद है।[2] इन दार्शनिक सिद्धांतों का संक्षिप्त परिचय दे देना प्रासंगिक होगा।

आत्म-तत्त्व :

जैन दर्शन द्वैतवादी है। विश्व एक सत्य वस्तु है। उसमें चेतनायुक्त जीवों के साथ जड़ वस्तुएँ भी हैं। जीव अनेक हैं। उपयोग जीव का लक्षण है।[3] बोध रूप

---

१. श्रीमद् भगवद् गीता, ४।२६–२८

२. "स्यात्" इत्यव्ययमनेकान्तद्योतकम् ।
तत: "स्याद्वाद:" अनेकान्तवाद: ॥२॥
–सिद्धहेम शब्दानुशासन–हेमचन्द्र

३. "उपयोगो लक्षणम्"–तत्वार्थ सूत्र २।८

व्यापार उपयोग है। बोध का कारण चेतना शक्ति है। यह चेतना शक्ति आत्मा में ही है, जड़ में नहीं। अतः जड़ में उपयोग नहीं होता। आत्मा के अनन्त गुण पर्याय हैं उनमें उपयोग मुख्य है। आत्मा स्वयं शाश्वत है, उसकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होता। एक आत्मा दूसरी आत्मा से ओत-प्रोत भी नहीं होती। आसक्ति के कारण भी उसमें परिवर्तन नहीं होता। पर्याय रूप से ही उसमें अविरत परिवर्तन होता रहता है। मनुष्य, देव, पशु-पक्षी आदि के आत्म-तत्त्व अशुद्ध दशा के हैं। रंग या रंगीन पदार्थ डालने से पानी अशुद्ध होता है और दृश्य बनता है वैसे ही आत्मा कार्य के संयोग से दृश्य बनती है। शुद्ध स्वरूप में आत्मा अदृश्य और अरूपी है। आत्मा राग द्वेषादि के कारण जड़ पदार्थ से या कर्म से बद्ध होती है। अतः संसार में परिभ्रमण करती रहती है। उसका मूल स्वभाव उर्ध्वगमनी है। जैसे ही वह कर्मों से मुक्त होती है वह उर्ध्वगति को प्राप्त होती है और लोक के अंतिम भाग में स्थित होती है। उसके लिए शास्त्रों में तुम्बी का दृष्टान्त दिया जाता है।[1] जैसे माटी के आवरण से युक्त तुंब पानी में डूब जाता है पर माटी के आवरण से मुक्त होते ही वह पानी पर तैरने लगता है उसी प्रकार आत्मा कर्मों के आवरण से बद्ध होकर संसार रूपी सागर में डूब जाती है पर इन कर्मों के आवरण से मुक्त होते ही वह अपनी स्वाभाविक उर्ध्वगमन की स्थिति को प्राप्त होती है और लोकाकाश के अंतिम भाग में जाकर स्थित होती है। यही मोक्ष है जिसे जैन दर्शन में सिद्धशिला कहा है।[2]

कर्म सिद्धान्त :

सब जीवात्माएँ समान हैं फिर भी उनमें वैषम्य देखने में आता है। यह वैषम्य कर्मों का कारण है। जैसा कर्म वैसी अवस्था। जीव अच्छा या बुरा कर्म करने में स्वतन्त्र है। वह अपने वर्तमान और भावी का स्वयं निर्माता है। कर्मवाद कहता है कि वर्तमान का निर्माण भूत के आधार पर होता है। तीनों काल की पारस्परिक संगति कर्मवाद पर ही अवलम्बित है। यही पुनर्जन्म के विचार का आधार है।

वस्तुतः अज्ञान और रागद्वेष ही कर्म हैं। ब्राह्मण परम्पराओं में इसे अविद्या कहा है। जैन परिभाषा में यह भावकर्म है। यह भावकर्म लोक में परिव्याप्त सूक्ष्माति सूक्ष्म भौतिक परमाणुओं को आकृष्ट करता है और उसे विशिष्ट रूप अर्पित करता

१. जह पंक-लेव रहिओ जलोवरि ठाइ तउओ सहसा ।
तह सयल-कम्म-मुक्को लोयग्गे ठाइ जीवो ॥
उद्योतनसूरि विरचिता-कुवलयमाला ।

२ (क) भगवती सूत्र-स्थानांग सूत्र ।
(ख) दशवैकालिक-अध्याय ४ गाथा २५ ।

है। विशिष्ट रूप प्राप्त यह भौतिक परमाणु पुंज ही द्रव्यकर्म या कार्मण शरीर कहलाता है। तत्त्वार्थसूत्र में आत्मा और कर्म के बन्धन के पाँच कारण बताये गये हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।[1] मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद का एक तरह से कषाय में समावेश हो जाता है अतः मुख्य रूप से कर्म बन्धन के दो ही कारण हैं—कषाय अर्थात् राग, द्वेष, मोह तथा योग अर्थात् कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाएँ। जैन दर्शनानुसार कर्मबन्ध के भी चार प्रकार हैं—प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभावबन्ध और प्रदेश बन्ध।[2] प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध योग के कारण होते हैं और कषाय से स्थितिबन्ध और अनुभाव-बन्ध होते हैं।

ज्ञान को आवृत करने का या सुख-दुःख का अनुभव कराने वाला कर्म पुद्गलों का स्वभाव निर्माण प्रकृति बन्ध है। कालमर्यादा स्थितिबन्ध है। उसकी तीव्रता, मंदता अनुभाव बन्ध है और बद्धपुद्गल कर्मों का परिमाण प्रदेश-बन्ध है।

संसारी जीवों पर कर्मों के विविध परिणाम नजर आते हैं। इन परिणामों के उत्पाद्य स्वभाव भी संख्यातीत हैं। फिर भी इनको आठ प्रकारों में विभाजित किया गया है जो मूल प्रकृतिबंध हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्क, नामगोत्र और अंतराय।[3] इन आठ भेदों के १५८ उपभेद माने गये हैं, जो उत्तर प्रकृति के नाम से पहचाने जाते हैं। आत्मा और जड़ द्रव्य का सम्बन्ध अत्यन्त सूक्ष्म है। उसे सरलता से अलग नहीं किया जा सकता। आत्मा का भौतिक पदार्थों के साथ जो सम्बन्ध है उससे विविध कर्म शक्तियों की उत्पत्ति होती है। आत्मा और इन कर्म शक्तियों से तात्पर्य मनुष्य या संसारी प्राणी से है।

आत्मा अपनी ही शक्ति से इन कर्मों से मुक्त हो सकती है या नये कर्मबन्धन से विलग रह सकती है। कर्मबन्ध से मुक्त होना निर्जरा है और कर्मबन्ध न होने देना संवर है। कर्मबन्धों से मुक्ति ही मोक्ष है।

इस प्रकार जैन दर्शन में कर्म सिद्धांत ने मनुष्य के भाग्य को ईश्वर और देवों के हाथ से निकाल कर मानव के हाथ में रक्खा है। किसी देव की पूजा या भक्ति से यदि कोई सुख प्राप्त करना चाहता है तो वह निश्चय ही निराश होगा। मैत्री, प्रेम और करुणा से ही सुख मिलता है। जैन दर्शनानुसार ईश्वर और देवों में यह सामर्थ्य नहीं कि वे सुख या दुःख दे सकें। मनुष्य के कर्म ही सुख या दुःख के

---

१. "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः बन्धहेतवः।" तत्त्वार्थसूत्र अ० ८, सू० १

२. प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः। वही, अ० ८, सूत्र ४

३. "आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायाः।५।" तत्त्वार्थ सूत्र अ० ८, सूत्र ५

वल दिया है। बुद्ध का विभज्जवाद और मध्यम मार्ग भी विचार प्रधान साम्यदृष्टि का फल है। बुद्ध ने अपने को विभज्जवादी कहा है।[1] जैन आगमों ने महावीर को भी विभज्जवादी कहा है।[2] विभज्जवाद का अर्थ है पृथक करण पूर्वक सत्य-असत्य का निरूपण व सत्यों का यथावत् समन्वय करना। इसके ठीक उल्टा एकांशवाद है जो सोलह आने किसी वस्तु को अच्छी या बुरी कह डालता है।

विभज्जवाद :

विभज्जवाद में एकान्त दृष्टि का त्याग है। अतः विभज्जवाद और अनेकान्वाद तत्वतः एक ही है। अनेकांत दृष्टि से नयवाद तथा सप्तभंगी विचार का जन्म हुआ। नयवाद मूलतः भिन्न-भिन्न दृष्टियों का संग्राहक है।

जैन दर्शन के अनेकांत और स्याद्वाद शब्द वस्तु की अनेक अवस्थात्मक किन्तु निश्चित स्थिति का प्रतिपादन करते हैं। अनेकांत शब्द वस्तु की अनेक धर्मता प्रकट करता है, किन्तु वस्तु के अनेक धर्म एक ही शब्द से एक ही समय में नहीं कहे जा सकते, अतः स्याद्वाद शब्द का प्रयोग किया गया है। यह स्याद्वाद संदेहवाद नहीं है, परन्तु एक निश्चित एवं उदार दृष्टि से वस्तु के पूर्व अध्ययन में सहायक दर्शन है। इसमें एकांत हठ नहीं है, समन्वय का भाव है। इसमें सभी दृष्टियों का समादर है और वस्तु का पूर्ण प्रतिपादन है। अनेकांत शब्द से हम वस्तु की अनेक धर्मता जानते हैं और स्याद्वाद द्वारा उसी अनेक कर्मताओं का कथन करते हैं।

जैन दर्शन में वस्तु को समझने की वड़ी विशेषता उसकी अनेकान्त दृष्टि है। इस आधार पर प्रत्येक वात अपेक्षाकृत दृष्टि से कही जाती है। जव किसी वस्तु को सत् कहा जाय तो समझना चाहिए कि यह कथन उस वस्तु के निजी स्वरूप की अपेक्षा से असत् है। राम अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र है और अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता है, अपनी पत्नी की अपेक्षा से पति है, अपने शिष्य की अपेक्षा से गुरु है और अपने गुरु की अपेक्षा से शिष्य है। यदि हम कहें कि राम पिता ही है तो यह वात पूर्ण सत्य नहीं, क्योंकि वह पुत्र, पति, गुरु व शिष्य भी है। अतः प्रत्येक वात में वस्तु की अनेक दशाओं का ध्यान रखना चाहिए और "ही" का दुराग्रह छोड़कर "भी" का सदाग्रह रखना चाहिए। इसमे हमारी दृष्टि में विस्तार आता है और साथ ही वस्तु को पूर्णता भी लक्षित होती है। स्याद्वाद या अनेकान्तवाद की दृष्टि जीवन के नाना संघर्षों को दूर कर शान्ति स्थापना में सहयोग देती है।

---

1. मज्झिमनिकाय-सुभसुत्त १५।६
2. सूत्रकृतांग १।१४।२२

सम्प्रदाय भेद और उसके कारण :

प्रत्येक धर्म में सम्प्रदाय, उप-सम्प्रदाय, संघ, पंथ आदि का प्रस्थापन होता रहा है। जैन धर्म भी इसका अपवाद नहीं। इस धर्म में भी दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, तारनपंथी आदि अनेक सम्प्रदाय हैं। जैन धर्म के प्रमुख सम्प्रदाय दो हैं—श्वेताम्बर और दिगम्बर। इनमें एक साधारण-सी सैद्धांतिक बात पर मतभेद हुआ था जो आगे चलकर खाई बन गया।

श्वेताम्बर मान्यता :

भगवान महावीर के उपदेशों का व्यवस्थित संकलन उनके प्रधान शिष्य इन्द्रभूति और सुधर्मा नामक गणधरों ने किया। यह संकलन आगे चलकर "द्वादशांगी" कहलाया अर्थात् भगवान महावीर की उपदेशवाणी "बारह अंगों" में विभक्त की गई।

"महावीर निर्वाण की द्वितीय शताब्दी में (चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में) मगध में एक द्वादशवर्षीय भयंकर अकाल पड़ा। अकाल से पीड़ित हो तथा भविष्य में अनेक विघ्नों की आशंका से आचार्य भद्रबाहु अपने बहुत से शिष्यों सहित कर्णाटक देश में चले गये। जो लोग मगध में रह गये उनके नेता (गणधर भद्रबाहु के शिष्य) स्थूलभद्र हुए।[1]

अकाल की भयंकरता में आचार्य स्थूलभद्र को "द्वादशांगी" के लुप्त हो जाने की आशका हुई। उन्होंने पाटिलपुत्र में श्रमण संघ की एक सभा आमन्त्रित की। इसमें सर्वसम्मति से भगवान महावीर की वाणी का ग्यारह अंगों में संकलन किया। बारहवें दृष्टिवाद अंग के चौदह भागों में से अंतिम चार भाग (पूर्व) जो शिष्यों को विस्मृत हो गये थे, संकलित न हो सके।

अकाल समाप्त होने पर जब भद्रबाहु अपने संघ सहित मगध लौटे तो उन्होंने स्थूलभद्र के संघ में अपने संघ से काफी अंतर पाया। स्थूलभद्र के संघ के साधु कटि-वस्त्र, दण्ड तथा चादर आदि का उपयोग करने लगे थे। भोजनादि में भी पर्याप्त अंतर आ गया था। इस विपरीतता को देखकर आचार्य भद्रबाहु ने स्थूलभद्र को समझाया कि अकाल और देशकाल की आपत्ति में अपवाद वेष का विधान भले हुआ, अब आप अपने संघ को पुनः दिगम्बर रूप दीजिए। पर वे न माने, आपसी तनातनी ने निकटता की अपेक्षा दूरी को ही बढ़ावा दिया। परिणाम यह हुआ कि दिगम्बर और श्वेताम्बर दो सम्प्रदाय बन गये।

---

१. प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ: डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० ४४८

दिगम्बर मान्यता :

दिगम्बर भी थोड़े बहुत अंतर के साथ लगभग इन्हीं कारणों को सम्प्रदाय भेद का मूल मानते हैं। लेकिन कथा प्रसंग भिन्न है। भगवान महावीर वाणी का संकलन प्रथम इन्द्रभूति गणधर ने किया फिर क्रमश:[1] सुधर्मास्वामी, जम्बूस्वामी और इनसे अन्य मुनियों ने महावीर स्वामी का अध्ययन किया। यह परम्परा महावीर के पश्चात् भी चलती रही। तदनन्तर पाँच श्रुतकेवली हुए जो अंग और पूर्वों के ज्ञाता थे। भद्रबाहु अंतिम श्रुतकेवली थे। महावीर स्वामी से बासठ वर्ष पश्चात् जम्बूस्वामी और उनसे सौ वर्ष पश्चात् भद्रबाहु का समय निश्चित है। इस प्रकार दिगम्बर मान्यता में महावीर के पश्चात् एक सौ बासठ वर्ष तक महावीर वाणी के समस्त अंगों और पूर्वों का अस्तित्व रहा। भद्रबाहु का समय ही दिगम्बर और श्वेताम्बर भेद का समय, दोनों सम्प्रदायों को मान्य है।

धीरे-धीरे इन दोनों सम्प्रदायों में भिन्नता प्रदर्शित करने वाली आचार-विचार सम्बन्धी अनेक बातें आ गई हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यताएँ इस प्रकार हैं—

स्त्रीमुक्ति, शूद्रमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति, ग्रहस्थ दशा में मुक्ति, तीर्थंकर मल्लिनाथ स्त्री थे, महावीर का गर्भहरण, शूद्र के घर से मुनि आहार ले सकता है, भरत चक्रवर्ती को अपने घर में कैवल्य प्राप्ति, ग्यारह अंगों का अस्तित्व, मुनियों के चौदह उपकरण, केवली का कवलाहार, केवली का नीहार, अलंकार तथा कांछीवाली प्रतिमा का पूजन, महावीर का विवाह—कन्या उत्पत्ति, साधु का अनेक घरों से भिक्षा लेना, मरुदेवी का हाथी पर चढ़े हुए मुक्तिगमन, महावीर का तेजोवेश्या से उपसर्ग आदि।

इस प्रकार अन्य भी कई भेद रेखाएँ हैं, जिन्हें दिगम्बर सम्प्रदाय नहीं मानता।

श्वेताम्बर भगवान की राज्यावस्था की उपासना करते हैं तो दिगम्बर उनकी सर्व-परिग्रह रहित वैराग्यावस्था की। श्वेताम्बरों का मानना है कि भगवान ऋषभ और महावीर ने सचेलक (वस्त्र सहित) और अचेलक (वस्त्र रहित) दोनों मुनि धर्मों का उपदेश दिया था। दिगम्बर यह बात नहीं मानते। उनके शास्त्रों में तो चौबीस तीर्थंकरों ने अचेलक धर्म का ही उपदेश दिया है, ऐसा वर्णन है।

दिगम्बर साधु अपने साथ केवल मोरपंख की एक पीछी (जीवादि को दूर करने के लिए) और एक कमण्डलु (मल-मूत्रादि की बाधा दूर करने के लिए)

---

१. तेनेन्द्रभूति गणिना तद्दिव्यवचो ववुध्यत तत्वेन।
ग्रन्थो पूर्वनाम्ना प्रतिरचितो युगपदपराह्णे ॥६६॥ —श्रुतावतार।

रखते हैं। ये साधु नग्न रहते हैं। दिन में एक बार खड़े रहकर हाथ में ही भोजन करते हैं। सदा ध्यान मग्न रहते हैं। यह साधुचर्या दिगम्बरों में चिरकाल से चली आ रही है। परन्तु देशकाल जनित आपत्ति तथा व्यक्तिगत शैथिल्य के कारण मुनियों में विवाद आरम्भ हुआ, इसमें मुनियों के निवास-स्थान का भी एक प्रश्न था। इसके बीज तो "द्वादशवर्षीय अकाल" से ही थे, पर धीरे-धीरे इसने व्यापक रूप धारण कर लिया। वनवास छोड़ मुनि मन्दिरों और नगरों में रहने लगे। नवमी शती के जैनाचार्य गुणभद्र ने इस दशा पर क्षोभ प्रकट करते हुए लिखा—"भयभीत मृगादि रात्रि में जैसे नगरों के समीप आ बसते हैं, उसी प्रकार मुनि भी कलिकाल के प्रभाव से वन छोड़ नगरों में बसते हैं, यह दुःख की बात है।[1] इसी शिथिलतावश चैत्यवास का आरम्भ हुआ। दिगम्बर साधुओं में भी इस प्रवृत्ति का प्रभाव अवश्य लक्षित होता है। दिगम्बर सम्प्रदाय में भट्टारक पद इसी प्रवृत्ति का विकसित रूप है।

सम्प्रदाय भेद सामान्य बातों को लेकर हो जाते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय के मूल संघ और काष्ठा संघ के अलग होने का मूल कारण यही है कि मूल संघ के साधुजीव-रक्षा के लिए मयूर की पिच्छि रखते हैं और काष्ठासंघ के साधु गोपुच्छ के बालों की पिच्छि रखते हैं। मुख्य उद्देश्य तो पिच्छि के कोमल होने का था, ताकि जीवों की विराधना न हो। परन्तु मोर पिच्छि के दुराग्रह के कारण काष्ठासंघ अलग हो गया। इसके पश्चात् पिच्छि मात्र के त्याग को लेकर एक संघ और बना, जिसे निःपिच्छि कहा गया। इसे माथुर संघ भी कहते हैं। इसी प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी छोटे-छोटे मतभेदों को लेकर खरतर गच्छ, तपागच्छ, आंचलिक, पार्श्वचन्द्र गच्छ, उपकेशगच्छ आदि अनेक गच्छादिकों की उत्पत्ति हुई है।

जैन धर्म की दार्शनिक-आध्यात्मिक चेतना पर दृष्टिपात :

भारतीय दर्शन के मुख्यतः दो भेद हैं—एक आस्तिक दर्शन और दूसरा नास्तिक दर्शन। वेद को प्रमाण मानने वाले आस्तिक हैं और वेद को प्रमाण न मानने वाले नास्तिक दर्शन। इस आधार पर आस्तिक दर्शन छह माने गये हैं—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक मीमांसा और वेदांत। जैन, बौद्ध और चार्वाक की गणना नास्तिक दर्शनों में होती है। इस विभाजन का मुख्य आधार—"नास्तिको वेद निन्दकः" अर्थात् वेदनिन्दक सम्प्रदाय नास्तिक हैं। काशिकाकार ने अपने पाणिनि सूत्र में कहा है—"परलोक में विश्वास रखने वाला आस्तिक है और इससे विपरीत मान्यता

१. इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः।
वनाद् विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥१९७॥—आत्मानु०

वाला नास्तिक।[१] इस आधार पर जैन और बौद्ध दर्शन भी आस्तिक हैं। जैन दर्शन आत्मा, परमात्मा, मुक्ति और परलोक मान्यता में आस्था रखता है। बौद्ध दर्शन में भी परलोक और कैवल्य निर्वाण की स्थिर मान्यता है। इस दृष्टि से मात्र चार्वाक दर्शन ही नास्तिक दर्शन है शेष सभी आस्तिक दर्शनों की कोटि में आ जाते हैं।

जैन दर्शन की विशिष्टता उसकी आत्मा और जगत् के सम्बन्ध की मौलिक विचारधारा में है। आचार और विचार मूलक दृष्टि इसकी आधारशिला है। आचार अहिंसा मूलक है और विचार अनेकान्त दृष्टि पर आधारित होने पर भी मूल दृष्टि एक ही रही है। विचार क्षेत्र में अनेकान्त भी अहिंसा नामधारी बन जाता है।

संक्षेप में जैन दर्शन का परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है। सृष्टि के मूल में मुख्य दो तत्व हैं—जीव और अजीव। इसके पारस्परिक सम्पर्क द्वारा कुछ बन्धनों या शक्तियों का निर्माण होता है, जिससे जीव को विभिन्न दशाओं का अनुभव होता है। इस सम्पर्क की धारा को रोककर, उससे उत्पन्न बन्धनों को विनष्ट कर दिया जाय तो जीव अपनी मुक्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है। जैन दर्शन के यही सात तत्व हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। जीव, अजीव तत्वों का विवेचन जैन तत्वज्ञान का विषय है। आस्रव और बंध की व्याख्या कर्म सिद्धांत में आती है। संवर और निर्जरा जैन धर्म के आचार शास्त्रगत विषय हैं और मोक्ष जैन धर्म की दृष्टि से जीवन की सर्वोपरि अवस्था है, जिसकी प्राप्ति ही धार्मिक क्रिया और आचरण की अंतिम परिणति है।

जैन दर्शन की मान्यता :

समस्त विश्व जड़ और चेतन रूप दो सत्ताओं में विभक्त है। यह अनादि और अनन्त है। जड़-चेतन की इस सम्पूर्ण सत्ता को छह द्रव्यों में विभाजित किया गया है। छह द्रव्यों के नाम हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। प्रत्येक द्रव्य में परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन अवस्थाओं की दृष्टि से होता, मूल द्रव्य की दृष्टि से वह सर्वथा नित्य है। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र एवं शक्ति युक्त है।[२] वह अपना अस्तित्व नहीं छोड़ता। मिट्टी से घट बनता है, जब वह फूटता है तो खण्ड-खण्ड हो जाता है। मिट्टी का पिण्ड रूप घट रूप में परिवर्तित हो जाता है, पर दोनों ही अवस्थाओं में मिट्टी द्रव्य उपस्थित है। घट के फूट जाने पर भी मिट्टी द्रव्य ही है। अतः प्रत्येक द्रव्य में अवस्थाओं का परिवर्तन होता रहता है, द्रव्य स्वयं नित्य है।

---

१. परलोकोऽस्तीतिमतिः यस्य स आस्तिकः तद्विपरीतो नास्तिकः।
पाणिनी सूत्र, "अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः" की व्याख्या।

२. तत्वार्थ सूत्र—रच० श्रीमदुमास्वामी—अध्याय ५।

जैन दर्शन के अनेकांत और स्याद्‌वाद शब्द वस्तु की इसी अनेक अवस्थात्मक किन्तु निश्चित स्थिति का प्ररूपण करते हैं।

जैन मतानुसार प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की क्षमता है। "जयतिकर्म शत्रून इति जिनः"[1] के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म शत्रुओं को परास्त कर, अपना शुद्ध आत्म तत्व प्राप्त कर "जिन" बन सकता है। प्रत्येक व्यक्ति में यह सामर्थ्य है। आत्मा को स्वयं ही कर्म बन्धनों से अपने पुरुषार्थ से मुक्त होना पड़ता है। संसार की कोई भी शक्ति उसे मुक्त नहीं करा सकती। स्वयं तीर्थंकर भी मानव से महामानव बनते हैं। न कोई कर्म आत्मा को बाँध ही सकता है और न ही मुक्त कर सकता है, क्योंकि आत्मा और कर्म का कोई मेल नहीं। आत्मा चेतन रूप है और कर्म पौद्‌गलिक। दोनों के गुण और कार्य व्यापार में साम्य नहीं। फिर भी आत्मा कर्मों द्वारा ही बन्धन युक्त है। ससारी जीव बन्धन से अपनी आत्मा को घिरी हुई इसलिए अनुभव करते हैं कि अनादिकाल से जीव और कर्म ऐसे मिल गये हैं कि एक से लगते हैं, और हम मानने लगते हैं कि कर्म ही जीव को दुःखी करते हैं, वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं। आत्मा ही अपने को कर्म बन्धन में जकड़ी हुई मानकर अपनी आत्मशक्ति खो बैठती है और अनेक भवों में भटकती रहती है। यह स्थिति तो ऐसी ही है जैसे कोई व्यक्ति सड़क के पत्थर को सिर पर उठा ले और कहे कि यह पत्थर मुझे दुःख दे रहा है। वस्तुस्थिति स्पष्ट है मानव जिस दिन कर्म का कल्पित या आरोपित जुआ उतार फेंकता है, वह उसी क्षण परमात्म रूप प्राप्त करता है।

जैन दर्शन के अनुसार ईश्वर सृष्टि कर्त्ता नहीं है। संसार का प्रत्येक पदार्थ अपने गुण स्वभाव वश अनेक अवस्थाओं में स्वयं रूपान्वित होते हुए भी अन्ततः नित्य है। उसे अन्यथा करने की सामर्थ्य किसी में नहीं। ईश्वर को सृष्टि कर्तृत्व नहीं दिया गया है अतः उसकी सर्वशक्तिमत्ता अबाधित रही है।

जैन धर्म और दर्शन की कुछ विशेषताएं :

(१) परमात्मपद प्राप्ति ही मानव का उच्चतम और अंतिम लक्ष्य है।

(२) जैन दर्शन व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को स्वीकार कर स्वावलम्बिनी वृत्ति को प्रश्रय देता है।

(३) सम्पूर्ण प्राणीमात्र का कल्याण करना—जैन धर्म है।

(४) जैन धर्म की विशेषता—चारों पुरुषार्थों की सिद्धि में है। इस सिद्धि का उपाय मानव के हाथ में है।

---

१. अध्यात्म पदावली, राजकुमार जैन, पृ० ३८

(५) जैन धर्म का प्रमुख सिद्धांत—अनेकांतवाद है, सभी आध्यात्मिक प्रश्नों के समाधान की कुञ्जी स्याद्वाद है।

(६) अहिंसा जीवन की परिपूर्णता है।

(७) सत्य, क्षमा आदि दश धर्मों का विवेचन सद्भावपोषक है—वह मानवता निर्मित करने वाला है। इसका परिग्रह प्रमाण मन्त्र समाज सत्तावाद के सारतत्व का कुछ अंशों में समर्थक है।

आलोच्य युगीन जैन गुर्जर कवियों पर इस जैन दर्शन की अमिट छाप है।

२. जैन साहित्य का स्वरूप, महत्त्व तथा मुख्य प्रवृत्तियाँ :

स्वरूप और महत्व :

जैन साहित्य की आधारशिला धर्म है, अतः इस साहित्य के स्वरूप-निर्धारण में धर्म-भावना का ध्यान रखना होगा। यों तो सम्पूर्ण विश्व के साहित्य के मूल में निश्चित रूप से धार्मिक भावना रही है और इस दृष्टि से सम्पूर्ण विश्व का साहित्य धर्ममूलक ही है। "धर्म से साहित्य का अविच्छेद्य सम्बन्ध है। साहित्य से धर्म पृथक् नहीं किया जा सकता। चाहे जिस काल का साहित्य हो, उसमें तत्कालीन धार्मिक अवस्था का चित्र अंकित होगा।"[1]

धर्म की भाँति ही साहित्य मानव को सर्वांगपूर्ण सुखी और स्वाधीन बनाने का प्रयत्न करता है। जैन साहित्य में इस प्रकार की मानव-हित-विधायिनी प्रवृत्तियाँ बहुलता से प्राप्त हैं। इसमें मानवार्य मुक्ति का संदेश है, उसे आत्म स्वातन्त्र्य प्राप्ति का मार्ग सुझाया गया है तथा अनेक अध्यात्म-परक बहुमूल्य प्रश्नों पर विचार किया गया है। महापुरुषों के वीरता, साहस, धैर्य, क्षमाप्रवणता एवं लोकोपकारिता से ओत-प्रोत जीवन वृत्त प्रांजल भाषा एवं प्रसाद गुण युक्त शैली में निबद्ध है। इस प्रकार के चरित्र-ग्रन्थ मानव-समाज के लिए जीवन-संबल एवं मार्ग-दर्शक बनकर आये हैं।

वस्तु है।"[1] इन कवियों ने इतिहास पर विशेप भार दिया है। प्रत्येक जैन कवि अपनी रचना के अंत में या पूर्व में अपने समय के शासक—राजाओं का एवं गुरू परम्परा का कुछ न कुछ उल्लेख अवश्य करते रहे हैं।

प्राचीन हिन्दी साहित्य के अन्वेपण में पद्य ग्रन्थों की ही प्रधानता रही है, गद्य ग्रन्थ बहुत कम हैं। किन्तु हिन्दी जैन साहित्य के लिए यह विशेप गौरव की बात है कि इसमें गद्य-ग्रंथ भी प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं। ये ग्रन्थ हिन्दी गद्य के विकास क्रम को दिखाने में यथेष्ट सहायक सिद्ध होंगे। १६ वीं शती से १६ वीं शती तक के जैन साहित्य में हिन्दी गद्य ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं। गद्य ग्रंथ मेरे विपय की परिधि में नहीं हैं अतः मैंने उन्हें नहीं लिया है।

जैन कवि किसी के आश्रित नहीं थे। अतः इनके साहित्य में कहीं भी आत्मानुभूतियों का हनन नहीं हुआ है। अपने साहित्य द्वारा इन कवियों ने अर्थोपार्जन अथवा यश—प्राप्ति का लक्ष्य नहीं अपनाया। भक्तिकाल के प्रायः सभी कवि स्वतन्त्र रहे हैं। वे कभी किसी प्रलोभन के पीछे नहीं पड़े। यही कारण है कि उनका साहित्य किसी युग विशेप की लाचारी अथवा रसिक वृत्ति का परिणाम न होकर चिरन्तन जीवन सत्य का उद्‌घाटन करता है। जैन कवि भी विविध कथाओं, काव्यों तथा पदों द्वारा सांस्कृतिक मर्यादा एवं अपने पूर्वाचार्यो के धर्मन्यास की रक्षा एवं वृद्धि करते रहे हैं।

१८ वीं शती में तो शृंगार रस की अवाध धारा भक्ति और मर्यादा के कूलों को तोड़कर वह निकली थी। मुक्ति और जीवन शक्ति की याचना की जगह कुत्सितता ने अपना साम्राज्य जमा रक्खा था। जैसा कि कवि देव ने कहा है "जोग हू तें कठिन सजोग परनारी को" लोग परकीया प्रेम के पीछे पागल थे। पत्नीव्रत और सच्चरित्रता की भावना विलुप्त होने लगी थी। रीतिकालीन कवियों ने कृष्ण और राधा का आश्रय लेकर अपनी मनमानी वासना की अभिव्यक्ति करते हुए अपने उपास्य देव को गुण्डा और लपट वना दिया है। ऐसे वातावरण में भी जैन कवि इस कुत्सित शृंगार से अलिप्त बने रहे। इन्होंने सच्चरित्रता, संयम, कर्तव्यशीलता और वीरत्व की वृद्धि का अपना काव्यादर्श सुरक्षित रखा। काव्य का प्रधान लक्ष्य तो काव्यरस की सृष्टि कर मानव के आत्मबल को पुष्ट वनाना और उन्हें पवित्र—आत्मबल की खोज के आदर्श पर आरूढ़ करना है। संसार को देवत्व और मुक्ति की ओर ले जाना ही काव्य का सर्वश्रेष्ठ गुण है। जैन कवियों ने इसी अमरता का संगीत अपनाया और जनता के पथ-प्रदर्शक बने रहे।

शासक वर्ग के अत्याचारों के विरोध में भी इन्होंने बड़े सशक्त एवं प्रभावक कवि व्यक्तित्व का परिचय दिया है।

व्यक्ति, समाज एवं देश की ऐक्य-शृंखला धर्म एवं चरित्र पर टिकी हुई है। धर्म और चरित्र मानव में अभय की स्थिति पैदा करते हैं। इन दो प्रबल सहयोगियों को पाकर मानव जीवन भर संकटों से जूझता हुआ भी अपनी मानवता की पराजय कभी स्वीकार नहीं करता। "धार्मिक नेताओं एवं आन्दोलनों से जनता जितनी अधिक प्रभावित होती है उतनी कदाचित् राजनैतिक एवं अन्य प्रकार के नेताओं से नहीं होती। धर्म की महत्ता और सत्ता में स्थायित्व विशेष दृढ़ होता है। हमारे आन्तरिक जीवन से यदि किसी विषय का घनिष्ठ सम्बन्ध है तो वह पहले धार्मिक विषय है। यही कारण है कि धर्म हमारे जीवन पर अधिपति-सा होकर स्थिरता और दृढ़ता के साथ शासन करता रहता है।[1] लोक और परलोक दोनों को साधने वाला ही सच्चा धर्म है। अर्थात् लौकिक जीवन में सदाचारिता का पाठ पढ़ाता हुआ परलोकाभिमुख बनाये रखने वाले धर्म के इन दोनों पक्षों का जैन साहित्य में सदैव निर्वाह हुआ है। जैन कवियों ने भक्ति, वैराग्य, उपदेश, तत्वनिरूपण आदि विषयक रचनाओं में मानव की चरम उन्नति, लोकोद्धारक एवं काव्य-कला की त्रिधारा बहाई है।

श्वेताम्बर तथा दिगम्बर कवियों ने अपनी कृतियों के माध्यम से अनेक विषयों पर अनेक रूपों में प्रकाश डाला है। ये सब विषय मात्र धार्मिक नहीं, लोकोपकारक भी है। साहित्यिक रचनाओं के अतिरिक्त जैन साहित्य में व्याकरण, छन्द, अलंकार, वैद्यक, गणित, ज्योतिष, नीति, ऐतिहासिक, सुभाषित, बुद्धिवर्धक, विनोदात्मक, कुव्यसन निवारक, शिक्षाप्रद, औपदेशिक, ऋतुपरक, सम्वादात्मक तथा लोकवार्तात्मक आदि अनेक प्रकार की रचनाएँ प्राप्त हैं।

जैन-गुर्जर-कवियों के साहित्य में चार प्रकार का साहित्य उपलब्ध होता है—

(क) तात्विक ग्रन्थ (सैद्धान्तिक ग्रन्थ)।
(ख) पद, भजन, प्रार्थनाएँ आदि।
(ग) पुराण, चरित्र आदि।
(घ) कथादि व पूजा-पाठ।

उच्चश्रेणी के कवियों का क्षेत्र सदैव आध्यात्मिक रहा है। अतः साधारण जनता इनके काव्य का महत्व नहीं समझ सकी। चरित्र या कथा-ग्रन्थों द्वारा भक्ति-रस को बहाने का कार्य बहुत कम हुआ है। सामान्य जनता इसी में रम सकती थी।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ० रसाल, पृ० १४

इनका साहित्य अध्यात्मप्रधान है। जैन साधक आध्यात्मिक परम्परा के अनुयायी एवं आत्मलक्षी संस्कृति में विश्वास करने वाले थे फिर भी ये लौकिक चेतना से विरक्त नहीं थे। क्योंकि उनका अध्यात्मवाद वैयक्तिक होकर भी जन कल्याण की भावना से अनुप्राणित था। यही कारण है कि सम्प्रदायमूलक साहित्य का सृजन करते हुए भी वे अपनी रचनाओं में देशकाल से सम्बन्धित ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक टिप्पणी दे गये है जिनका यदि वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन किया जाय तो भारतीय इतिहास के अनेक तिमिराच्छन्न पक्ष प्रकाशित हो उठें। आत्मा की अनन्त शक्तियों का हृदयकारी वर्णन इस साहित्य में हुआ है। अध्यात्म, शुद्धाचरण एवं महापुरुषों के चरित्रगान से सम्बद्ध विषयों के प्रतिपादन में इन जैन कवियों ने अपनी कला का परिपूर्ण परिचय दिया हैं। औपदेशिक वृत्ति के कारण जैन साहित्य में विषयान्तर से परम्परागत बातों का वर्णन विवरण अवश्य हुआ है, पर सम्पूर्ण जैन साहित्य पिष्ट-पेषण मात्र नहीं है। जो साहित्य उपलब्ध है वह लोकपक्ष एवं भाषा पक्ष की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। जैन कवियों ने भारतीय चिंतना को जनभाषा समन्वित शैली में ढालकर राष्ट्र के अध्यात्मिक स्तर को ऊँचा उठाया है। इन्होंने साहित्य परम्परा को लोक भाषाओं के बहते नीर में अवगाहन कराकर सर्व सुलभ बना दिया है।

जैन कवियों की इस सम्पदा को मात्र धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक मानकर अन्त तक इसके प्रति उपेक्षा का भाव रखा गया है। क्योंकि आलोचकों की दृष्टि में में यह साहित्य—

(१) ज्ञानयोग को साधना है, भावयोग की नहीं।
(२) मात्र साम्प्रदायिक है, सार्वजनीय नहीं।
(३) एकाँगी दृष्टि का परिचायक है, विस्तार का नहीं, तथा।
(४) इसका महत्व मात्र भाषा की दृष्टि से है, साहित्य की दृष्टि से नहीं।[१]

वास्तव में धर्म को साहित्य से अलग मानकर चलना साहित्यिक तत्त्वों की उपेक्षा करना है। साहित्य का धार्मिक होना कदापि अग्राह्य नहीं हो सकता। अगर ऐसा हो तो हम अपने मूर्धन्य महात्मा सूर एवं महाकवि तुलसी से भी हाथ धो बैठेंगे। क्योंकि आखिर तो उनका साहित्य भी धार्मिक संदेशों का वाहक है। "यदि

---

१. "उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक शरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं। वे साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं। अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकती। उनकी रचनाओं की परम्परा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते।"

हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २४

अध्यात्म की चर्चा, भोगों, इन्द्रिय-विषयों का विरोध भी साम्प्रदायिक और धार्मिक है तथा ललित और उत्तम साहित्य में सम्मिलित नहीं किया जा सकता, तो हम भक्ति कालीन साहित्य के स्तम्भ कबीर, सूर और तुलसी के साहित्य को भी निरा धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कहकर क्या स्वयं के बुद्धिविवेक के दिवालियापन का परिचय न देंगे। साम्प्रदायिक साहित्य वह है जिसमें वाह्याडम्बर, निष्प्राण अति आचार तथा क्रियाकाण्ड आदि की कट्टरता के साथ विवरण प्रधान नीरस चर्चा मात्र हो। यद्यपि ऐसे ग्रन्थ सभी धर्मों में हैं, परन्तु हम उन्हें ललित साहित्य के अन्तर्गत नहीं लेते, वे सामान्य साहित्य में ही आते हैं। वस्तुतः उत्तम साहित्य वही है जो क्षणिक सस्ता मनोरंजन न देकर शाश्वत सत्य का जो शिवं एवं सुन्दरम् से अभिमण्डित हो, उद्घाटन कर सके"।[१] इस प्रकार इस साहित्य के प्रति उपेक्षा का आधार निर्मूल ही है।

"कई रचनाएँ ऐसी भी है कि जो धार्मिक तो हैं, किन्तु उनमें साहित्यिक सरसता बनाये रखने का पूरा प्रयास है। धर्म वहाँ कवि को केवल प्रेरणा दे रहा है। जिस साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश हो, उससे वह साहित्य निश्चित रूप से भिन्न है। जिसमें धर्म-भावना प्रेरक शक्ति के रूप में काम कर रही हो और साथ ही हमारी सामान्य मनुष्यता को आंदोलित, मथित और प्रभावित कर रही हो, इस दृष्टि से अपभ्रंश की कई रचनाएँ जो मूलतः जैन धर्म भावना से प्रेरित होकर लिखी गई हैं, निःसन्देह उत्तम काव्य हैं। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का "राम चरित मानस" भी साहित्य क्षेत्र में आलोच्य हो जायगा। इस प्रकार मेरे विचार से सभी धार्मिक पुस्तकों को साहित्य के इतिहास में त्याज्य नहीं मानना चाहिए।"[२]

इस प्रकार आचार्य शुक्ल का मत आज नवीन तथ्यों के प्रकाश में महत्वहीन सिद्ध हो चुका है। वस्तुतः धर्म और आध्यात्मिकता तो साहित्य के मूल में उसकी दो प्रेरक शक्तियों का काम करते हैं। अतः जैन कवियों की कृतियों को धार्मिक मानकर उनके प्रति उपेक्षा, सेवा अथवा भूला देना भारतीत चिन्तना और उसकी अमूल्य सम्पदा के प्रति घोर अन्याय करना है।

इस साहित्य का मूल स्वर धर्म है, फिर अधिकांश कवियों ने इसे असाम्प्रदायिक बनाने का प्रयत्न किया है। ऐसे साहित्य के मूल में त्याग और शान्ति है।

---

१. साहित्य संदेश, जून, १९५६, अंक १२. पं० ४७४, श्री रवीन्द्रकुमार जैनका लेख।

२. हिन्दी साहित्य का आदिकाल: आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ११-१३

निर्वेद और शम की भावना भी इस साहित्य का प्राण है। अस्तु, हिंसा से दूर, सुख, सौहार्द्र एकता, त्याग और आनन्द की भाव लहरों में मानवता को अवगाहन कराने वाला साहित्य अपने में सर्वांश सुन्दर है।

जैन साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

(१) साहित्यिकता के साथ लोक भाषामूलक साहित्य सृजन की प्रवृत्ति :

अधिकांश जैन कवियों ने स्वान्तः सुखाय लिखा। ग्राम-ग्राम तथा नगर-नगर घूमकर लोकोपकारक तथा आध्यात्मिक उपदेशों से पूर्ण वाग्धारा बहाना और लोगों की अपनी भाषा में साहित्य निर्मित करना भी इनका जीवन-लक्ष्य था। यही कारण है कि एक ओर इनमें विभिन्न साहित्यिक विधाओं और तत्वों का समावेश है, तो दूसरी ओर इनमें लोकभाषा और बोलियों का सरल प्रवाह है। इसी कारण इनके काव्य में लोकसंस्कृति भाषा और साहित्य के उन्नायक तत्व सहज ही समाहित हो गये हैं।

(२) विषय वैविध्य :

जैन कवियों के इस विशाल साहित्य में सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक तथा ऐतिहासिक काव्यों के साथ लोक आख्यानक काव्यों का भी सृजन हुआ है। रामायण और महाभारत के कथानकों का निर्वाह भी इन कवियों ने बड़ी कुशलता से किया है। उदाहरणार्थ ऐसी रचनाओं में द्रोपदी चौपाई, नेमिनाथ फागु, पांडवपुराण, लवांकुश छप्पय, सीताराम चौपाई, सीता आलोयणा, हनुमन्त कथा आदि काव्यों को लिया जा सकता है। इनके अतिरिक्त, जैन पौराणिक वार्ताएं, लोकवार्तामूलक कथाएं, कथासंग्रह, पूजासंग्रह, जीवनचरित्र, गुर्वातलियाँ, भक्तिकाव्य, तीर्थमालाएं, सरस्वतीस्तुति, गुरुभक्ति आदि विषयों पर आकर्षक, कवित्वपूर्ण, आलंकारिक काव्य-खण्ड, तीर्थंकरों और महापुरुषों की स्तुतियां, स्तवन, देववंदन, अन्य स्वतन्त्र कृतियां, सार्वजनीन कृतियां, भाववाची गीतों आदि का माधुर्य बहा है। सुललित सुभाषित, उपदेशामृत से आपूर्ण काव्यखण्डों के मीठे स्रोत भी बहे हैं। विविध ढालों और राग-रागनियों का सुमधुर गुंजार भी सुनाई देता है। विषय वैविध्य की दृष्टि से यह साहित्य अत्यन्त समृद्ध कहा जा सकता है। अतः इनमें मात्र धार्मिक प्रवृत्ति ही नहीं, मौलिक सर्जनशक्ति स्वतंत्र कल्पनाशक्ति और शब्द संघटन आदि का समाहार है।

(३) काव्य रूपों में वैविध्य :

काव्य रूपों में भी इस साहित्य ने अपना वैविध्य प्रस्तुत किया है। रास, चोपाई, वेलि, चौढालिया, गजल, छन्द, छप्पय, दोहा, सवैया, विवाहलो, मंगल, राग-माला, पूजा, सलोक, पद, वीसी, चोवीसी, बावनी, शतक,फाग, बारहमासा, प्रबंध, संवाद

आदि सैकड़ों प्रकार की रचनाएं उपलब्ध है, जिन पर प्रकरण ६ में विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

(४) विविध परंपराओं के निर्वाह की प्रवृत्ति :

जैन कृतियों में साहित्य और समाज की विविध परंपराओं का निर्वाह हुआ है। संक्षेप में कुछ परम्पराओं का यहाँ उल्लेख किया जाता है—

(अ) अध्ययन-अध्यापन और ग्रंथ निर्माण की परम्परा :

आगमों के अध्ययन, जैनेतर साहित्य के अनुशीलन और मौलिक ग्रन्थों के प्रणयन की प्रवृत्ति के कारण जैनेतर विषय भी इन कवियों के विषय बने हैं और उनका सम्यक्ज्ञान प्रस्तुत हुआ है।

(ब) ज्ञान-भण्डार संस्थापन परम्परा :

ज्ञान के अनेक भण्डारों की स्थापना, सुरक्षा तथा उनके सम्यक् प्रबन्ध की परम्परागत प्रवृत्ति के कारण जैन-भण्डारों में जैनेतर कृतियाँ भी सुरक्षित रही हैं तथा अपने विपुल साहित्य को नष्ट होने से बचाया है।

(क) लोकभाषा अंगीकरण की परम्परा :

साहित्यिक भाषा के साथ लोकभाषा में भी रचनाएं करने की प्रवृत्ति अधिकांश कवियों में देखने को मिलती है। लोकभाषा के प्रति रुचि दिखाकर इन कवियों ने विभिन्न जनभाषाओं के विकास और संवर्द्धन में अपूर्व योग दिया है। जनभाषा-ग्रहण की प्रवृति से जैन साहित्य की लोकप्रियता भी बढ़ी।

(ड) ग्रन्थ लेखन और प्रतिलिपि करने-कराने की प्रवृत्ति से अनेक प्रतिलिपिकारों की आजीविका भी चलती थी। ऐसे अनेक प्रतिलिपिकार आज भी अहमदाबाद, पाटण, बीकानेर तथा अन्य स्थलों पर है जो अपनी आजीविका इसी कार्य पर निर्भर मानते हैं। एक ही प्रति की अनेक प्रतिलिपियाँ विभिन्न भण्डारों और निजी संग्रहालयों में होती रही है। पाठविज्ञान तथा उसके शोधार्थियों के लिये यह लेखन-पम्परा बड़ी महत्व की वस्तु है।

(इ) जैन धर्म के प्रचार की प्रवृत्ति भी विभिन्न छोटी तथा बड़ी मधुर कथात्मक शैली में होती है। इन कथाओं में जैन दर्शन सरस शैली में उतरा है। इनका मुख्य उद्देश्य चरित्र निर्माण, अहिंसा, कर्मवाद और आदर्शवाद को प्रस्थापित करना रहा है। उक्त सभी परम्पराओं ने जैन साहित्य में जीवन उड़ेल दिया है।

(ई) साधु या सन्यासी बनने की परम्परा का निर्वाह भी जैन समाज में बराबर होता है। भारतीय प्रजा का एक वर्ग परमज्ञान की बातें और संसार की टीकाएं करने

में खूब रस लेता रहा। संसार की टीका वैराग्य पोषक थी। वैराग्य को ज्ञान-मूलक बनाकर एक मात्र मोक्ष की प्राप्ति करने के लिये संसार-प्रपंच को त्याग कर भक्ति और आराधना का आदेश दिया जाता था। यह उपदेश मात्र पुस्त-कीय नहीं था—गुरु परम्परा और अनुभूति का था। इनमें निरूपित जीवन चित्र "आँखों के देखे" थे "कागज के लिखे" नहीं। अतः साधु या सन्यासी बनने की प्रबल भावना समग्र समाज में बनी रही। धीरे धीरे यह भावना मन्द होती चली और युग धर्म के अनुरूप बनने की नई भावना का विकास हुआ।

(५) ऐतिहासिक तथ्यों के निर्वाह की प्रवृत्ति :

जैन साहित्य में उपलब्ध ऐतिहासिक कृतियों से तत्कालीन जैन कवियों का इतिहास स्पष्ट होता है। इनमें अनेक ऐतिहासिक वर्णन भी उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ "सत्यासीमा दुष्काल वर्णन छत्तीसी" में कवि समयसुन्दर ने अपने जीवनकाल में आँखों देखे, दुष्काल का सजीव वर्णन किया है। इन कवियों ने अपनी कृतियों के आरम्भ या अन्त में गुरुपरम्परा, रचनाकाल, तत्कालीन राजा आदि के नाम बुद्धिकौशल से सूचित किये हैं। तत्कालीन आचार-विचार, समाज, धर्म, राजनीति की प्रामाणिक जानकारी में यह परम्परा सहयोग देती है।

(६) कथारूढ़ियों और परम्पराओं के निर्वाह की प्रवृति :

इन कृतियों में उपलब्ध कथाएँ अपनी ही परम्परा और रूढ़ियों को लेकर कही गई हैं। अनेक कवियों ने एक ही विषय को लेकर अनेक रचनाएँ की। ऋषभ-देव, नेमिनाथ, स्थूलिभद्र, नलदमयंती, रामसीता, द्रौपदी, भरतबाहुबलि आदि विषयों पर समान रूप से कई कवियों ने अपनी-अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। कथाओं और उनकी रूढ़ियों में परम्परा का निर्वाह होते हुए भी, पात्र, कथानक, वर्णन पद्धति तथा उद्देश्य में मौलिकता के दर्शन अवश्य होते हैं।

(७) शांत रस को प्रमुखता देने की प्रवृत्ति :

१—सामान्यतः हिन्दू जनता जैन धर्म को विरोधी और नास्तिक समझती रही अतः इस साहित्य के असाम्प्रदायिक ग्रन्थ भी युगों से उपेक्षित रहे।

२—परम्परा अनुसार अथवा विगत कटु अनुभवों के कारण छापे का आवि-ष्कार हो जाने पर भी जैन अपने ग्रन्थों के प्रकाशन को धर्मविरुद्ध समझते हैं।

३—गुजरात जैन साहित्य के निर्माण का विशेष केन्द्र रहा है। यहाँ के कवियों की कृतियों का संपादन-संग्रह गुजराती विद्वानों द्वारा ही हुआ है। गुज-

राती को स्वतन्त्र और अलग भाषा स्वीकार कर लेने के कारण विद्वान् इन कृतियों को गुजराती भाषा की ही समझते रहे। अतः बहुत से हिन्दी ग्रन्थ आज तक हिन्दी-भाषियों तक नहीं पहुंच पाये हैं।

जैन गूर्जर साहित्यकार और हिन्दी :

गुजरात जैन धर्म, संस्कृति एवं साहित्य का प्रमुख केन्द्र रहा है। इस प्रवेश में जैन धर्म का अस्तित्व तो इतिहासातीत काल से मिलता है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभ-देव, के प्रधान गणधर पुंडरीक ने शत्रुञ्जय पर्वत (गुजराज) से निर्वाण लाभ लिया था।[1] २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ (कृष्ण के पैतृकभाई) का तो यह प्रधान विहार क्षेत्र था। जूनागढ़ के महाराजा उग्रसेन की राजकुमारी राजुल से नेमिनाथ के विवाह की तैयारी करने, भौतिक देह और संसारी भोगों से विरत हो गिरनार पर्वत पर समाधि लेने तथा तीर्थंकर मुनिसुव्रत के आश्रम का भृगुकच्छ में होने के उल्लेख मिलते हैं।[2] तेरहवीं शती में वनराज चावड़ा, सोलंकी राजा शिलादित्य और वस्तुपाल तथा तेज-पाल जैसे मंत्रियों ने जैन धर्म और साहित्य को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। जैन धर्म का यह उत्कर्ष काल था। मुसलमान बादशाह भी इस धर्म के प्रति काफी सहिष्णु रहे। सम्राट अकबर को प्रतिबोध देने गये जैनाचार्य हीरविजयसूरि, जिनचन्द्र तथा उपाध्याय भानुचन्द्र, गुजरात से ही आगरा गये थे।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों को साथ-साथ फलने-फूलने का सुअवसर देने का श्रेय गुजरात को ही है। गुजरात, श्वेताम्बरों का तो प्रधान केन्द्र रहा ही है, किन्तु ईडर, नागौर, सूरत, बारडोली, घोघा आदि कई स्थानों में दिग-म्बर भट्टारकों की भी गद्दियाँ प्रस्थापित हुईं थीं।

इस प्रान्त में जैन धर्म के चिरस्थायी प्रभाव के फलस्वरूप ही जैन साधुओं, विद्वानों एवं गृहस्थ कवियों ने इस प्रान्त को सांस्कृतिक एवं साहित्यिक अमूल्य भेटों से अलंकृत किया।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में गुजराती और हिन्दी भाषा और साहित्य की इन कवियों के हाथों महती सेवा हुई। इन भाषाओं के विकास क्रम के अध्ययन के लिए यही जैन ग्रन्थ आज आधारभूत हैं। इस भाषा-अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी और गुजराती का उद्भव एक ही स्रोत से हुआ है। पं० नाथूराम प्रेमी जी के इस अभिप्राय से भी यह बात स्पष्ट है—"ऐसा जान पड़ता है कि प्राकृत का जब अपभ्रंश होना आरभ हुआ, और फिर उसमें भी विशेष परिवर्तन होने लगा,

---

१. जैन सिद्धांत भास्कर, प्रो० ज्योतिप्रसाद जैन का लेख, पृ० ४८, भाग २०, किरण १, जून १९५३

२. मध्यकालीन गुजराती साहित्य, मुंशी, पृ० ७२

तब उसका एक रूप गुजराती के साँचे में ढलने लगा और एक हिन्दी के साँचे में। यही कारण है जो हम ई० १६ वीं शताब्दी से जितने ही पहले की हिन्दी और गुजराती देखते हैं, दोनों में उतना ही सादृश्य दिखलाई पड़ता है। यहाँ तक कि १३ वीं १४ वीं शताब्दी की हिन्दी और गुजराती में एकता का भ्रम होने लगता है।[1] इसी भाषा-साम्य के कारण वि० १७ वीं शताब्दी के कवि मालदेव के भोजप्रबंध और पुरन्दर कुमार चउपई, जो वास्तव में हिन्दी ग्रन्थ हैं, गुजराती ग्रन्थ माने जाते रहे।[2]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि १६ वीं-१७ वीं शदी तक भारत के पश्चिमी भू भाग में बसने वाले जैन कवि अपभ्रंश मिश्रित प्रायः एक-सी भाषा का प्रयोग करते रहे। हां, प्रदेश विशेष की भाषा का इन पर प्रभाव अवश्य था। हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी का विकास शौरसेनी के नागर अपभ्रंश से हुआ।[3] यही धारणा है कि १६ वीं—१७ वीं शती तक इन तीनों भाषाओं में साधारण प्रान्तीय भेद को छोड़ विशेष अन्तर नहीं दिखाता। श्री मो० द० देसाई ने इस भाषा को प्राचीन हिन्दी और प्राचीन गुजराती कहा है—"विक्रम की सातवीं से ग्यारहवीं शती तक अपभ्रंश की प्रधानता रही, फिर वह जूनी हिन्दी और जूनी गुजराती में परिणत हो गई।[4] गुजराती के प्रसिद्ध वैयाकरणी श्री कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी ने गुजराती को हिन्दी का पुराना प्रान्तिक रूप मानते हुए कहा है—"स्वरूप में गुजराती हिन्दी की अपेक्षा प्राचीन है। वह उस भाषा का प्रान्तिक रूप है। चालुक्य राजपूत इसे काठियावाड़ के प्रायद्वीप में ले गये और वहाँ दूसरी हिन्दी बोलियों से अलग पड़ जाने से यह धीरे-धीरे स्वतन्त्र भाषा बनी। इस प्रकार हिन्दी में जो पुराने रूप लुप्त हो गये हैं वे भी इसमें कायम हैं।"[5]

श्री मोतीलाल मेनारिया ने शारंगधर, असाइत, श्रीधर, शालिभद्रसूरि, विजयसेनसूरि, विनयचन्द्रसूरि, आदि गुजराती कवियों की भी गणना राजस्थानी कवियों में की है।[6] इन्हीं कवियों और उनकी कृतियों की गणना हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने हिन्दी में की है और उनकी भाषा को प्राचीन हिन्दी अथवा अपभ्रश कहा है। मिश्रबन्धुओं ने अपने ग्रन्थ "मिश्रबन्धु विनोद" भाग १ में धर्मसूरि, विजयसेनसूरि, विनयचन्द्रसूरि, जिनपद्मसूरि, और सोम सुन्दरसूरि आदि जैन गूर्जर कवियों का उल्लेख किया है।

---

१. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, सप्तम् हि० सा० स० कार्य विवरण, भाग-२, पृ० ३
२. वही, पृ० ४४-४५
३. हिन्दी भाषा का इतिहास, धीरेन्द्र वर्मा
४. जैन गुर्जर कवियों, भाग, १, पृ० २१
५. गुजराती भाषानुं वृहद् व्याकरण, प्रथम संस्करण, पृ० २१
६. राजस्थानी भाषा और साहित्य, मोतीलाल मेनारिया

इस प्रकार एक ही सामान्य साहित्य को हिन्दी, राजस्थानी अथवा गुजराती सिद्ध करने के प्रयत्न बराबर होते रहे हैं। राजनैतिक कारणों से हिन्दी तथा राजस्थानी से गुजराती के अलग हो जाने और उसके स्वतन्त्र रूप से विकसित हो जाने के पश्चात भी गुजराती कवियों का हिन्दी के प्रति परम्परागत प्रेम बना रहा। यही कारण है कि वे स्वभाषा के साथ-साथ हिन्दी में भी रचनाएं करते रहे। हिन्दी की यह दीर्घ कालीन परम्परा उसकी सर्वप्रियता और सार्वदेशिकता सूचित करती है।

यहाँ तक कि इस परम्परा के निर्वाह हेतु अथवा अपने हिन्दी प्रेम को अभिव्यक्त करने के लिये, गुजराती कवियों ने अपने गुजराती ग्रन्थों में भी हिन्दी अवतरण उद्घृत किये हैं। उदाहरणार्थ नयसुन्दर के रूपचन्द, कुँवरदास, नलदमयंती रास, गिरनार उद्धार रास, सुरसुन्दरी रास, ऋषभदास के कुमारपाल रास, हीर-विजयसूरि रास, हितशिक्षा रास. तथा समयसुन्दर के नलदमयंती रास आदि द्रष्टव्य है। ऋषभदास की कृतियों से पता चलता है कि उस समय व्यापार के लिए भारत में आने वाले विदेशी—अंग्रेज आदि मुगल सम्राटों से उर्दू या हिन्दी में व्यवहार करते थे।

जैनभाषा में कर्मप्रचार तथा साहित्य-सृजन जैन कवियों का उल्लेखनीय कार्य रहा है। इन कवियों का विहार राजस्थान एवं गुजरात में अधिक रहा। गुजरा में हिन्दी भाषा के प्रभाव और प्रचार ने इन्हें आकर्षित किया। फलतः हिन्दी भाषत में इनके रचित छोटे-बड़े ग्रन्थ १५ वीं शती से आजतक अच्छे परिमाण में प्राप्त होते रहे हैं। इन्होंने अपनी कृतियों में भारतीय साहित्य की अजस्र धारा बहायी है तथा अपने आध्यात्मिक प्रवचनों, गीतिकाव्यों तथा मुक्तक छन्दों द्वारा जन-जीवन के नैतिक धरातल को सदैव ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया है। ये जैन संत विविध भाषाओं के ज्ञाता होते हुए भी इन्हें भाषा विशेष से कभी मोह नहीं रहा। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती आदि सभी भाषाएं इनकी अपनी थीं, प्रान्तवाद के झगड़े में ये कभी नहीं उतरे। साहित्य रचना का महद् उद्देश्य—आत्मोन्नति और जनकल्याण—केन्द्र में रखकर अपनी आत्मानुभूति से जन-मन को ये परिप्लावित करते रहे।

दिगम्बर कवियों के साहित्य केन्द्र :

राजस्थान का बागड़ प्रदेश (विशेषतः डूंगरपुर, सागवाडा) गुजरात. प्रान्त से लगा हुआ है। अतः गुजरात में होने वाले भट्टारकों के मुख्य केन्द्र नवसारी, सूरत, भडौच, जांबूसर, घोघा तथा उत्तर गुजरात में ईडर आदि थे। सौराष्ट्र में गिरनार

थे और सागवाडा की भट्टारक गद्दी पर आसीन हुए थे ।[1] इनकी हिन्दी कृतियाँ आदिश्वर फाग, जलगालण रास, पोइस रास, षट्कर्म रास तथा नागदारास हैं। आदिश्वर फाग इनकी एक चरित्र प्रधान रचना है । आदिनाथ के हृदय में संसार के प्रति विराग कैसे जगता है, इस स्थिति के वर्णन का एक प्रसग द्रष्टव्य है—

आहे धिग धिग इह संसार, वेकार अपार असार ।
नहीं सम मार समान कुमार रमा परिवार ॥१६४॥
आहे घर पुर नगर नहीं निज रम सम राज अकाज ।
हय गय पयदल चल मल सरिखंड नारि समाज ॥१६५॥

भट्टारक विजयकीर्ति इन्हीं के शिष्य और उत्तराधिकारी थे, जो अपनी सांस्कृतिक सेवाओं द्वारा गुजरात और राजस्थान की जनता की गहरी आस्था प्राप्त कर सके थे ।

सत्रहवीं और अठारहवीं शती के भट्टारक कवियों का परिचय आगे दिया जायगा किन्तु यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि गुजरात के इन भट्टारकों और उनके शिष्यों की हिन्दी कविता को महत्वपूर्ण देन है । ये भट्टारक समुदाय, शिक्षा और साहित्य के जीवन्त केन्द्र थे ।

कच्छयुग की व्रजभाषा पाठशाला और उसके कवि :

कच्छ (गुजरात) के महाराव लखपतिसिंह जी ने अपनी राजधानी युग में अठाहरवीं शताब्दी में व्रजभाषा के प्रचार एवं साहित्य सृजन हेतु एक पाठशाला की स्थापना की थी । दूलेराय काराणीजी ने अपने ग्रन्थ "कच्छना संतों अने कविओं" में लिखा है—"कवि श्री लखपतसिंहजी ने इस संस्थो की स्थापना करके समस्त देश पर एक महान उपकार किया है। जहाँ कवि होने का प्रमाणपत्र प्राप्त किया जा सके, ऐसी एक भी संस्था भारतवर्ष में कहीं नहीं थी । इस संस्था की स्थापना करके महाराव ने समस्त देश की एक बड़ी कमी दूर कर दी·········इस संस्था से निकलने वाले कवियों ने सौराष्ट्र और राजस्थान के अनेक प्रदेशों में अपना नाम प्रख्यात कर इस संस्था को यशस्वी बनाया है ।"

इस विद्यालय में भारत भर के विद्यार्थी आते थे और उन्हें राज्य की ओर से खाने-पीने तथा आवास की पूर्ण व्यवस्था थी । यहाँ के प्रथम अध्यापक के रूप में जैन यति कनककुशल और उनके शिष्य कुंवर कुशल कार्यरत थे उनकी हिन्दी सेवाओं का परिचय अगले पृष्ठों में विस्तार से दिया जायगा ।

---

१. राजस्थान के जैन संत, डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल, पृ० ५०

महाराव लखपतिसिंह स्वय भी कवि थे। इनके रचित ग्रन्थों में लखपति शृंगार, लखपति मान मंजरी, सुरतरंगिणी, मृदंग महोरा, राग सागर आदि प्राप्त हैं।[1]

श्री नाहटा जी के उल्लेख के अनुसार—"करीब डेढ़ सौ वर्षों तक व्रजभाषा के प्रचार व शिक्षण का जो कार्य इस विद्यालय द्वारा हुआ वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में विशेष रूप से उल्लेखनीय है"।[2] यह विद्यालय छन्द और काव्यों के अध्ययन-अध्यापन का एक अच्छा केन्द्र था। यति कनककुशल की परम्परा में यह करीब २०० वर्ष चलता रहा। अहिन्दी भाषी विद्वानों द्वारा व्रजभाषा में काव्य रचना की परम्परा महत्वपूर्ण है ही परन्तु व्रजभाषा पाठशाला की प्रस्थापना और निःशुल्क शिक्षा देने की यह बात विशेष महत्व की है। इस दृष्टि से गुर्जर विद्वानों का यह व्रजभाषा प्रचार का कार्य निःसंदेह अनूठा है।

जिन की मातृभाषा हिन्दी नहीं, उन लोगों ने भी कितनी शताब्दियों तक हिन्दी में रचना करने की परम्परा सजीव रखी है। इससे स्पष्ट है, प्रारम्भ से ही हिन्दी एक व्यापक भाषा के रूप में विकसित होती रही है। यह अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की और संस्कृति की वाहक भाषा रही है। इस बात को अनेक विद्वानों ने स्वीकार किया है।[3] हिन्दी भाषी प्रदेश का निकटवर्ती प्रदेश होने के कारण भी गुजरात में हिन्दी भाषा का प्रचार अधिक रहा है।

---

१. कुंअर चंद्रप्रकाश सिंह, भुज (कच्छ) की व्रजभाषा पाठशाला, पृ० ११

२. आचार्य विजय वल्लभसूरि स्मारक ग्रंथ, अगरचंद नाहटा का लेख, पृ० ६७

३. चन्दरासानी पराक्रम गाथाने कारणे त्यहारे राजदरबारोमांनी राजभाषा हिन्दी हती। सूरदासजीनी सुरावट मधुरी पदावलीने कारणे कृष्ण मंदिरोमांनी कीर्तन-भाषा हिन्दी हती, तुलसीकृत रामकथाना महाग्रंथने कारणे तीर्थ, तीर्थवासी जोगीओनी भोगभाषा हिन्दी हती, भारतना प्रांतें प्रांते घूमती देशी-परदेशी सेनाओना सेनानीओना सैन्य भाषा हिन्दी हती, विचार सागर समा समर्थ ग्रंथों त्यहारे हिन्दीमां लखाता, काव्य शास्त्रो त्यहारे हिन्दीमां रचाता। आपणो मध्ययुगनो ज्ञानभंडार हिन्दी भाषामां हतो। जो महत्वाकांक्षीने भारत विख्यात महाग्रंथ गूंथवां होय त्यहारे हिन्दीमां गूंथता।

महाकवि न्हानालाल "कवीश्वर दलपतराय" भाग ३, पृ० १०८

आ—छापखाना, प्रान्तीय अभियान, मुसलमानोंनो फारसी अक्षरोनो आग्रह अने नवा प्रान्तिक उद्बोधन न होत तो हिन्दी भाषा अनायासे देश भाषा बनी जात। अधिक छापखाना, छपाववा लखवानुं चाल्युं ने झगडाओ थया तेथी आ गति अटकी।"

जैन--गूर्जर कविओं भाग १, मो० द० देसाई, पृ० १५

जैन कवियों का हिन्दी में साहित्य-रचना के प्रति परम्परागत मोह रहा है। प्रान्तीयता को लेकर भाषा के झगड़े इनमें कभी नहीं उठे, उठे भी तो लोकभाषा को लेकर ही। हिन्दी में लोकभाषा और लोकजीवन के सभी गुण विद्यमान थे। अत: गूर्जर जैन कवियों ने भी इसे सहर्ष अपनाया। इनकी हिन्दी भाषा में, शिक्षा और प्रान्तीय प्रभावों के कारण थोड़ा अन्तर अवश्य आया किन्तु भाषा के एक सामान्यरूप अथवा उसकी एक रूपता में कोई विकृति नहीं आने पाई। गांधीजी ने हिन्दी के जिस रूप की कल्पना की थी, जैन गूर्जर कवियों की रचनाओं में वह उपलब्ध है। हां, साधु-सम्प्रदायों में पले कवियों की भाषा संस्कृतनिष्ठ रही है।

जैन गूर्जर कवियों द्वारा हिन्दी में रचना किये जाने के कारण

(१) सांस्कृतिक कारण :

सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पूर्ण भारत एक है। भारत के तीर्थों ने जाति, धर्म और प्रदेशों के लोगों को एक-दूसरे के निकट लाने में विशेष सहयोग दिया है। इन्हीं तीर्थधामों ने एक-दूसरे के विचारों के आदान-प्रदान के लिये विभिन्न भाषा भाषियों के बीच एक सामान्य भाषा को पनपने का अवसर भी दिया है। जैनों के तीर्थ भी सम्पूर्ण देश के प्रमुख भू-भागों में विद्यमान हैं। देश के एक छोर से दूसरे छोर तक की यात्रा में इसी भाषा का सहारा लेना पड़ता था।

(२) राज्याश्रय :

जैन कवियों ने तो राज्याश्रय कभी स्वीकार नहीं किया परन्तु जैन धर्मावलम्बी शासकों ने जैन धर्म और साहित्य को आश्रय देने का कार्य अवश्य किया है। मुसलमान बादशाह और सूबेदार भी इस धर्म के प्रति सहिष्णु रहे। कच्छ के महाराव लखपतसिंहजी ने तो भुज में व्रजभाषा पाठशाला की स्थापना की थी जिसका विस्तृत परिचय दिया जा चुका है। इन राजाओं के कारण भी इन कवियों को हिन्दी में लिखने की प्रेरणा मिलती रही।

(३) धार्मिक :

साहित्य धार्मिक आन्दोलनों से भी अवश्य प्रभावित होता रहा है। जैन साधु भी धर्म प्रचार के लिए देश के अन्यान्य भागों में घूमते रहे हैं। इनकी साहित्यिक प्रवृत्तियों से हिन्दी को काफी बल मिला। जैन भण्डारों में हिन्दी के अनेक ग्रन्थों की सुरक्षा संभव हो सकी है।

(४) साहित्यिक :

हिन्दी अपनी व्यापकता, सरलता, साहित्यिक सम्पन्नता और संगीतमयता के कारण भी अधिक लोकप्रिय रही। गूर्जर जैन कवि व्रजभाषा के लालित्य, माधुर्य

और काव्योपयुक्त गुणों पर मुग्ध रहे और इसे सीखने तथा इसमें अपनी अलंकृत अभिव्यक्ति के लिए लालायित रहे। यह भाषा इतनी काव्योपयुक्त और भाववाहक है[1] कि अहिन्दी भाषा कवि उसे अपनाए विना न रह सके।

(५) भाषा साम्य :

गुजराती और हिन्दी में अत्यन्त साम्य है। इसी भाषा-साम्य को लेकर प्रारम्भ से ही अनेक जैनगूर्जर कवि हिन्दी भाषा की ओर आकर्षित हुए और अपनी मातृभाषा के साथ-साथ खड़ीबोली, व्रजभाषा, डिंगल आदि में भी काव्य-रचनाएं करने लगे।

(६) व्यापारिक संबंध :

गुजराती प्रजा मुख्यत: व्यापारी प्रजा है। गुजरात के जैन भी भारत के विभिन्न प्रान्तों में व्यापार चलाते रहे हैं। प्राचीन काल में भारत का व्यापार गुजरात के बंदरगाहों द्वारा हुआ करता था। अत: गुजरात के व्यापारी वर्ग में हिन्दी का कामचलाऊ उपयोग परम्परा से चला आया है।

(७) रीति ग्रंथों का अनुशीलन :

कला-प्रेमी अहिन्दी भाषा कवियों को हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य ने भी आकर्षित किया। संभवत: पिंगल, अलंकार रस आदि की जानकारी के लिए और उसे अपनी भाषा में ढालने के लिए ये कवि संस्कृत रीतिग्रंथों के साथ हिन्दी के रीतिग्रंथों का भी अनुशीलन, अध्ययन करने लगे होंगे। यही कारण है कि गुजरात के विभिन्न जैन भण्डारों में विहारी सतसई तथा अन्य रीतिग्रंथों की भी प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं। पाटण जैन भण्डार में भी विहारी सतसई की चार-पाँच प्रतियाँ उपलब्ध हैं।

(८) राष्ट्रीय :

आधुनिक युग में राष्ट्रीय भावनाओं के उदय के साथ हिन्दी के भाग्य का भी उदय होने लगा। राष्ट्रीयता और राष्ट्रभाषा के आन्दोलनों में गुजरात आगे रहा है।

इस प्रकार सांस्कृतिक,, धार्मिक, राजनैतिक, साहित्यिक, व्यापारिक, राष्ट्रीय तथा अन्य कारणों से भी गुजरात के जैन कवियों ने हिन्दी की महती सेवा की है। इस संबंध में जनक देव का अभिमत समीचीन ही है—

"गुजरातियों के हाथों हिन्दी की जो सेवा हुई है वह मूक होते हुए भी संगीन है। उसमें सूर्य के तेज की प्रखरता या आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करने वाली विजली-की चमक नहीं है। पर लालटेन की-सी उपयोगिता अवश्य है। उसमें दानेश्वरी का

---

१. व्रजभाषा का व्याकरण, किशोरीलाल वाजपेयी

माना है।[1] वे कहते हैं—"१० वीं शताब्दी के आसपास आते आते देश की धर्म साधना विलकुल नये रूप में प्रकट होती है तथा यहां से भारतीय मनीषा के उत्तरोत्तर संकोचन का आरम्भ होता है। यह अवस्था अठारहवीं शताब्दी तक चलती रही। उसके बाद भारत वर्ष फिर नये ढंग से सोचना आरम्भ करता है।[2]

मध्यकालीन गुजराती साहित्य की (१५ वीं शती से १८ वीं शती) राजनैतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि भी विभिन्न हलचलों एवं अनेकों उथल-पुथल से आक्रांत रही। गुजरात का लोकजीवन और साहित्य भी इन अन्यान्य परिस्थितियों के प्रभाव से अछूता नहीं रहा। गुजरात की संस्कृति विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के प्रति समन्वय वृत्ति एवं उदार भावना का परिचय देती हुई समृद्ध एवं विकसित होती रही है। इस धार्मिक उदारता और सांस्कृतिक समन्वय का प्रतिबिंब गुजराती तथा गुजरात में सर्जित साहित्य पर भी पड़ा है। समस्त मध्यकालीन गुजराती साहित्य इसी धर्म-भावना से ओतप्रोत है।

हिन्दी भाषा तथा साहित्य के आदि स्रोतों के लिए अपभ्रंश का महत्व निर्विवाद है, और अपभ्रंश में जैन साहित्य अपरिमित है। यह जैन साहित्य सामाजिक और ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में—

"हिन्दी की काव्यधारा का मूल विकास सोलह आने अपभ्रंश काव्य धारा में अन्तर्निहित है, अतएव हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक क्षेत्र में अपभ्रंश भाषा को सम्मलित किये विना हिन्दी का विकास समझ में आना असम्भव है। भाषा, भाव और शैली तीनों दृष्टियों से अपभ्रंश का साहित्य हिन्दी भाषा का अभिन्न अंग समझा जाना चाहिए। अपभ्रंश (८ वीं से ११वीं सदी) देशीभाषा (१२वीं से १७वीं सदी) और हिन्दी (१८ वीं से आज तक) ये ही हिन्दी के आदि मध्य और अन्त तीन चरण है।"[3]

जैन साहित्य पर राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया का समर्थन करते हुए जैन साहित्य तथा इतिहास के मर्मज्ञ कामताप्रसाद जैन लिखते हैं—

भारत के इस परिवर्तन (१५ वीं से १७ वीं शताब्दी) के प्रभाव से जैनी

१. मध्य कालीन धर्मसाधना, आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ६, १०
२. वही, पृ० ७१
३. कामताप्रसाद जैन कृत "हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास", प्राक्कथन, पृ० ६ डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

लोग. क्योंकि इस अपमान जनक परिस्थिति के गरल को न पी सके अत: अपनी संस्कृति तथा धर्म की रक्षा हेतु संगठित होने के लिये प्रयत्नशील हुये।

राजनैतिक पृष्ठभूमि—

अपने गौरव और स्वाभिमान की रक्षा हेतु देश के विभिन्न प्रान्तों की भाँति गुजरात और राजस्थान में इसके प्रतिशोध के लिये स्वतंत्र हिन्दू शासकों ने सभी छोटे-छोटे शासकों को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयास किया। गुजरात में कवियों ने भी देश के स्वाभिमान तथा जाति के गौरव की रक्षा के लिये हिन्दू जनता के हृदय में चेतना जागृत करने को प्रयास किया। राजस्थान में इसकी पताका राणा-साँगा ने संभाली। राणा सांगा के नेतृत्व में एक बार पुन: राजस्थान अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए एकता के सूत्र में बंधा और खानवा के समीप संवत १५८४ में बावर से भयंकर युद्ध किया। दुर्भाग्यवश विजय बावर के हाथ लगी और सं० १५८५ में राणा सांगा की मृत्यु हो गई। अब राजनैतिक एकता भूली-बिसरी बात हो गई, राष्ट्रीय भावना का कहीं कोई स्थान नहीं रहा। आंतरिक गृहकलह, विशृंखलता एवं विनाश से उत्पन्न अराजकता का सर्व बोलवाला दिखने लगा।

संवत् १६१३ में सम्राट अकबर सिंहासनारूढ हुआ। वह अपनी नीतिकुशलता के कारण धीरे धीरे सम्पूर्ण भारत का अधिपति बन बैठा। संवत् १६१९ में उसने आमेर के राजा मारमल की पुत्री के साथ विवाह किया। आमेर के साथ ही जोधपुर, बीकानेर, जेसलमेर, आदि की राजकुमारियां भी मुगल हरम में पहुचीं। १

भारत के इतिहास में मुगल सम्राटों ने कई दृष्टियों से एक युगान्तर ही ला दिया। इन मुगल सम्राटों ने अपने लगभग २०० वर्षों में शासन, व्यवस्था, रहन-सहन आदि जीवन के समस्त अंगों पर गहरा प्रभाव डाला। मुगलों के पूर्व खिलजी तुगलड आदि आततायियों, आक्रमकों एवं लुटेरों से भारतीय जनता पूर्ण परिचित थी। मुगल सम्राटों में कुछ अंशों में हृदय का स्नेह और आत्मा का स्वर भारतीय जनता ने अनुभव किया। भले ये स्वर्णयुग या रामराज्य स्थापित न कर सके हों पर सार्वत्रिक रूप से इस वंश ने संतोपकारक प्रगति अवश्य की। अपने पूर्वजों की अपेक्षा सम्राट अकबर ने तो अनेक विवेकपूर्ण कार्य किये। उसने राजनीति, धर्म, रहन-सहन एवं साहित्यक अभिरुचि आदि के साथ अन्यान्य क्षेत्रों में भी अत्यन्त उदारता-पूर्ण नीति से काम लिया। मुगल काल का यह स्वर्णकाल मात्र अकबर की शासन व्यवस्था में ही रहा।

---

१ डॉ० ईश्वरी प्रसाद, मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास

धार्मिक पृष्ठभूमि

यद्यपि मुगल काल में राजनैतिक वातावरण संघर्षपूर्ण एवं अत्यन्त अशांत रहा तथापि धार्मिक भावनाएं अक्षुण्ण बनी रहीं। अकबर की धार्मिक नीति को प्रभावित करने वाली पृष्ठभूमि भी कुछ ऐसी थी जिससे उसकी धार्मिक मान्यताओं में विविधता का समावेश होगया था। पैतृक धार्मिक सहिष्णुता, उसके शिक्षक अब्दुल लतीफ तथा संरक्षक बैराम खाँ की धार्मिक सहिष्णुता, सूफी विद्वानों के उदार विचारों, राजपूत तथा राजपूत रमणियों के सम्पर्क, विभिन्न धर्माचार्यों, जैनाचार्य हीर-विजयसूरि, भानुचन्द्र उपाध्याय तथा जिनचन्द, सिक्ख गुरू आदि के प्रभावों से अकबर की धार्मिक नीति का निर्धारण हुआ था। वह अपनी धार्मिक समन्वय वृत्ति तथा आध्यात्मिकता से प्रभावित होकर राष्ट्र का धार्मिक नेतृत्व करता रहा। किन्तु यह धार्मिक समन्वय अकबर जैसे सम्राट के लिए अपवाद रूप ही है। सामान्यत: तो इस यवन जाति ने भारतीय संस्कृति और धर्म को छिन्न-भिन्न कर दिया। इसके लिए इन सम्राटों ने दान की वृत्ति से, तो कभी साधुता के आवरण में अनेक छलपूर्ण प्रयत्न किये। पवित्र देवमन्दिर ध्वस्त किये गये, अनेक ग्रंथालय अग्नि की लपटों में भस्मीभूत किये गये तथा बहुमूल्य मणिरत्न आत्मसात् कर लिये गये। भारतीय जनता का यवनीकरण भी कम नहीं हुआ। इन परिस्थितियों में भारतीय जनता के लिए एक ही रास्ता था कि वह अपनी मर्यादाओं में सीमित रहकर जिस किसी तरह अपने पूर्वजों की निधि–अपनी संस्कृति और धर्म की रक्षा करती।

भारतीय संस्कृति, सभ्यता और धर्म से जब इनका किसी भी तरह मेल न खाया तो इनका दानवी अधिकार-पद फूट पड़ा। परिणामत: जैनों और सिक्खों से भी भयंकर संघर्ष चले। समय निकलता गया। प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय अपने को पुष्ट बनाने के प्रयत्नों में लग गया। पारस्परिक असहिष्णुता तथा तज्जन्य संघर्ष भी होते रहे। असहिष्णुता और परस्पर में एक-दूसरे को छोटे-बड़े सिद्ध करने के लिए अनेक शास्त्रार्थ भी होने लगे। परस्पर का लक्ष्य एक-दूसरे को गिराना ही हो गया। इस विषमता तथा कटुता को वात्सल्य एवं मैत्री में परिवर्तित करने के लिए संतों ने अपने आदर्श मार्ग द्वारा प्रशस्य प्रयत्न किये।

संतों की भक्ति साधना और नीति प्रोज्ज्वल लहरें सर्वत्र उठने लगीं। निरंजन-निर्गुण ब्रह्म की उपासना प्रिय बन चली। कबीर-पंथ, दादू-पंथ महानुभाव-पंथ आदि पंथ पल्लवित हुए। किन्तु इनका प्रभाव निम्नश्रेणी की जनता तक ही सीमित रहा। इन संत कवियों ने अपनी वाणियों द्वारा मनुष्यत्व को सर्वोपरि रखा। भारतीय जनता

को मुसलमान होने से बचाने के लिये इन सुधारकों ने सरल और उदार भावना से पंथ और सम्प्रदायों की रचना की। वर्णाश्रम धर्म, अवतार वाद, बहुदेवो पासना. मूर्तिपूजा, साकारवाद आदि को छोड़ उन्होंने अपनी उपासना विधि मुसलमानों की भांति अत्यन्त सरल बना दी।

प्राचीन परम्परागत भक्ति भावना की रक्षा करने के लिए भागवत् सम्प्रदाय से उद्‌भुत भक्ति के स्वरूप का प्रचार सगुण भक्ति के सम्प्रदायों ने भी किया। वल्लभ सम्प्रदाय तथा निम्बार्क सम्प्रदाय ने राधा कृष्ण की सरल भाव की उपासना प्रसारित की। हित हरिवंश के राधावल्लभी सम्प्रदाय तथा चैतन्य सम्प्रदाय की प्रेमलक्षगा भक्ति आदि का प्रचार बढ़ा।

रामानन्द की अपनी दास्य भक्ति से परिपूरित राम भक्ति की धारा सम्पूर्ण भारत में प्रवाहित हुई। सब प्रकार के समाज में इस राम–नाम और राम भक्ति का सम्मान हुआ। ब्राह्मण वर्ग में राम भक्ति के साथ शिवपूजा का महात्म्य भी बढ़ता रहा। राजस्थान में शक्ति की उपासना भी अत्यन्त लोकप्रिय रही।

एक ओर निर्गुण ब्रह्म, रामकृष्ण, शिव–शक्ति की उपासना हो रही थी तो दूसरी ओर इस्लाम धर्म भी अपने पांव पसार रहा था। अधिकांश हिन्दू नरेशों ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। तथा उनसे विवाह सम्बन्ध भी जोड़ लिये थे। इधर सूफी साधकों की माधुर्य भावना हिन्दू–मुस्लिम एकता में मध्यस्थी का कार्य कर रही थी।

जैन धर्म गुजरात और राजस्थान में केन्द्रित हो गया था। इस धर्म का विशेष प्रचार राजस्थान और गुजरात की वैश्य जाति तक ही सीमित रहा। मध्यकालीन राजस्थानी–गुजराती साहित्य की सम्पन्नता का अधिकांश श्रेय इन्हीं जैन धर्मावलम्बियों को ही है।

और मध्ययुग में जो निर्मित हुआ उस समय भारत के विभिन्न प्रदेशों की ऐतिहासिक दशा प्रायः एक-सी थी।" १

क्योंकि औरंगजेब के तथा उसके निर्बल उत्तराधिकारियों के अत्याचारों से विवश सजग हिन्दू धर्मात्माओं ने उनके विरुद्ध विद्रोह द्वारा धर्मयुद्ध का आह्वान करके सारे देश में एक नई धार्मिक क्रांति को जन्म दे दिया था। एक ओर जहाँ मुगल हिन्दू जाति और धर्म का आमूल उच्छेदन करना चाहते थे वहां दूसरी ओर हिन्दू धार्मिकता दुगने-चौगुने जोश को लेकर उमड़ पड़ी थी। इस हिन्दू धार्मिकता के साथ उनका विभिन्न साहित्य भी पनपता रहा। यह धार्मिक साहित्य-सृजन का क्रम छोटे या बड़े रूप : १८वीं शती के अन्तिम चरण तक चलता रहा।

सामाजिक पृष्ठभूमि

सम्बन्धित दो शताब्दियों का इतिहास युद्धों और विप्लवों का इतिहास है अतः सामाजिक परिस्थिति भी संतोष कारक नहीं हो सकती। इस राजनैतिक उनहापोह और सामाजिक अव्यवस्था के परिणाम स्वरूप समाज का जीवन स्तर नीचे गिरता गया। ऐश्वर्य और वैभव में विलासिता की प्रधानता स्वतः आ जाती है। अकबर ने तो विलास की उद्दाम लहरों में अपने को संयत रक्खा पर जहाँगीर और शाहजहाँ के व्यक्तित्व में विलास-प्रियता असंतुलित रूप में प्रकट हुई जिनका प्रभाव तद्युगीन सामंतों और समाज के अन्य वर्ग पर भी पड़ा। फिर तो " यथा राजा तथा प्रजा " के अनुसार साधारण जनता में भी विलास अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया।

मुगल कालीन इतिहास के अध्यन के से यह ज्ञात होता है कि मुगल-कालीन समाज अनेक वर्गों में विभक्त था। परस्पर उनमें अत्यन्त असमानता थी पेशे और आर्थिक दशा के अनुसार समाज मुख्यतः तीन वर्गों में विभक्त था वस्तुतः इन तीन वर्गों के जीवन में जमीन आसमान का अन्तर था। जहां एक ओर उच्च वर्ग के लोग दिन-रात मदिरा में डूबे रहते थे वहाँ दूसरी ओर निम्न वर्ग के लोगों को जीवकोपार्जन के लिए कठिन श्रम करना पड़ता था। साधारण जनता और अधिकारी वर्ग के जीवन स्तर में कुछ कुत्ते और मालिक जैसा अन्तर था। पौष्टिक भोजन, सुन्दर वस्त्र, निर्वाह योग्य मकान तथा साक्षरता तो निर्धन वर्ग के भाग्य में ही नहीं। मुगल युग की इस सामाजिक स्थिति के संबंध में पाश्चात्य विद्वान फान्सिस पोलसर्क्रोट अपने ७ वर्षों के अनुभव को अभिव्यक्ति देते हुए लिखता है—

---

1 Odsbcure Religious Acts, p. 331.

"जनता के तीन वर्ग जो वास्तव में नाम मात्र से स्वतन्त्र हैं, परन्तु उनकी जीवन धारा स्वयं स्वीकृत दासता से नहीं के बराबर ही भेद खाती है। कार्यकर्ता, चपरासी, सेवक और व्यापारी, इनका कार्य स्वतन्त्र नहीं था। पारिश्रमिक अत्यल्प था। भोजन और मकान की व्यवस्था दयनीय थी। ये सब सदैव साही कार्लालय के दवाव के शिकार बने रहते थे। यद्यपि व्यापारी कभी कभी धनवान और आदृत थे, परन्तु बहुधा अपनी सम्पत्ति गुप्त रखते थे।" १

उच्च और निम्न वर्ग की अपेक्षा समाज में मध्य वर्ग के लोगों की संख्या अत्यन्त कम थी। उनका जीवन सादा था। साधारण जनता अशिक्षित थी। ब्राह्मणों में पठन-पाठन की प्राचीन पद्धति पूर्ववत थी। धर्म के प्रति आस्था भी वैसी ही थी। भक्ति की भावना समाज के प्रत्येक क्षेत्र में अपना प्रभुत्व जमा चुकी थी। संतों और साधुओं का समाज में आदर होता था। देव मन्दिरों में उपासना-कीर्तन होता रहता था। धर्म की विभिन्न धाराओं-सम्प्रदायों में संघर्ष प्रबल था। कवि और समाज सुधारक संत उस संघर्ष को सुलझाने में प्रयत्नशील थे।

वर्णाश्रम पर जनता की पूर्ण आस्था थी। स्त्रियों की दशा शोचनीय थी। पर्दा प्रथा तथा सती प्रथा प्रचलित थी। दहेज प्रथा, छूआछूत, बहुविवाह और बालविवाह आदि अनेक कुरीतियाँ उस समय के समाज में वर्तमान थी, जिससे साधारण जनता का जीवन कष्टपूर्ण हो गया था।

आर्थिक स्थिति भी अच्छी नहीं थी। सामन्त-सरदार और दरवारी लोग सुखी और समृद्ध थे किन्तु शेष जनता की दशा कष्टपूर्ण थी। २ सामाजिक और धार्मिक रीति रिवाजों तथा विश्वासों में रूढिवादिता आ गई थी। धार्मिक पुरुषों की भक्ति, उनकी मृत्यु के पश्चात उनके स्मारकों की भी पूजा, अन्धविश्वास और अन्धानुकरण आदि का खूब प्रचलन था। सभी वर्ग-सम्राट से सामान्य जनता तक के-अपने पुरुषत्व की अपेक्षा भाग्य (दैवी शक्ति) पर अधिक विश्वास करते थे। यह युग धार्मिक अतिविश्वास का युग था। धार्मिक ऐक्य और समन्वय साधने के प्रयत्न भी खूब हुए। नाथ पन्थियों, शैवी कनफटे तथा लिंगायत साधुओं, सूफियों' तान्त्रिकों आदि का तथा दैवी चमत्कारों का जनता पर अटूट प्रभाव था। जनता धन प्राप्ति के प्रलोभनों में पड़कर तथा विविध धर्मों, विश्वासों और तन्त्रों में पड़कर स्वयं पर से विश्वास खो चुकी थी। अतिभौतिक और अभौतिक चमत्कारों के बीच जनता भेड-सी चल रही थी।

---

1 जगदीशसिंह गहलोत, राजपूताने का इतिहास

2 HiStory of India dy Francis Felscret

शिक्षा की कमी और असभ्य समाज के कारण देश का सामाजिक जीवन पतन की ओर जा रहा था। असंयम और मद्यपान ने उन्हें अवनति के गर्त में फेंक दिया था। देश में स्थित प्रत्येक वर्ग के लोग घोर अन्धकार में पड़े हुए थे। निर्धन और धनवान प्रत्येक के जीवन का प्रत्येक कार्य ज्योतिष के अनुसार ही होता था। १

साधारण जनता में नृत्य और संगीत के प्रति रुचि थी। राजघरानों में नृत्य और संगीत कला अपने चरम रूप में विलास-लीला में योग दे रही थी।

निष्कर्षत: तत्कालीन समाज व्यवस्था की उन्नति के लिए साम्राज्य की ओर से कभी कोई प्रयत्न नहीं हुए। समाज की स्थिति अन्धविश्वास, बहुधर्मिता, निरक्षरता, अरक्षा और अज्ञान से विशृंखल, दयनीय एवं अशांत थी। काजियों के अमानवीय अत्याचारों में भी समाज त्रस्त बना हुआ था।

साहित्यक पृष्ठभूमि

मुगलों के शासन काल में साहित्य एवं कला की बहुत ही उन्नति हुई। कुछ सम्राटों की उदासीनता के अतिरिक्त प्राय: सभी सम्राट साहित्य एवं कला के प्रेमी थे। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ ने सभी धर्मों की स्वतंत्र रचनाओं को खुले वातावरण में पल्लवित होने का सुअवसर दिया। हिन्दी, फारसी, तथा उर्दू साहित्य की पर्याप्त अभिवृद्धि के साथ कला के प्रत्येक अंग ने भी जीवन पाया। इस काल की कविता मे भक्ति, वीरता और शृंगार रस आदि का प्रचार विशेषत: मिलता है। अकबर का अन्यान्य धर्मों के विद्वानों के प्रति उदार भाव तथा दार्शनिक-सांस्कृतिक कार्यों में प्रगाढ स्नेह पाकर देश-विदेश के विविध मार्गों से उसके दरबार में अनेक विद्वान आये। अब्दुर्रहीम खानखाना फारसी के साथ हिन्दी के विद्वान कवि, टोडरमलजी हिन्दू धर्मशास्त्रों के अच्छे ज्ञाता व लेखक, पृथ्वीराज राठौर, सुयोग्य गायक तथा कवि तानसेन, कवीन्द्राचार्य, सुन्दरदास, पुहकर चिंतामणि, बनवारी, हरिनाथ आदि अकबरी दरबार के कवि थे।

इस समय में श्वेताम्बर, दिगम्बर जैन साधुओं ने भी संस्कृत, प्राकृत और व्रजभाषा-लोकभाषा में पर्याप्त साहित्य सर्जन किया। तप-गच्छीय प्रभावक महापुरुष हीरविजयसूरि तथा उनके शिष्य उपाध्याय शांतिचंद्र, खरगच्छीय जिनचन्द्रसूरि आदि

---

१ डॉ० विश्वेश्वर प्रसाद, भारतवर्ष का इतिहास

ने अकबर बादशाह को जैन धर्म का स्वरूप समझाया तथा उसकी सद्‌भावना प्राप्त कर अनेक जैन तीर्थ संबंधी फरमान, जीव वध बंध करने के आदेश तथा पुस्तक आदि पर पुरस्कार प्राप्त किये। जहांगीर ने तपगच्छीय विजयसेनसूरि और खरतरगच्छीय जिनसिंहसूरि को धार्मिक उपाधियां दी। शाहजहाँ ने भी इन सूरियां के प्रति अपनी सद्‌भावना बताई। इस सामान्य शान्ति के काल में अन्याय धर्मों में जागृति आई और विपुल साहित्यसर्जना हुई।

फारसी उन्नति के साथ हिन्दी साहित्य की भी पर्याप्त उन्नति हुई। रहीम, राजा भगवानदास, बीरबल, तुलसी, केशव, बिहारी, मतिराम, देव, सेनापति, शिरोमणि मिश्र, बनारसीदास, भूषण आदि इस युग के अच्छे कवियों की अमूल्य भेटों से हिन्दी साहित्य को ऐसा तो स्वर्णिम बना दिया कि उसकी आभा कभी भी कम नहीं हो सकती।

औरंगजेब के शासनकाल में हिन्दी की अवनति हुई, क्योंकि औरंगजेब ने इसे तनिक भी संरक्षण नहीं दिया। किन्तु हिन्दू-राजदरबारों में तथा अन्यान्य धार्मिक सम्प्रदायों में कवि और उनका साहित्य फूलते-फलते रहे।

इस युग के जैन साहित्य का आधार अपभ्रंश का जैन-काल है। अपभ्रंश में जैन कवियों द्वारा लिखे गए महापुराण, पौराणिक-चरित-काव्य, रूपक काव्य, कथात्मक ग्रंथ, संधिकाव्य, रासग्रंथ आदि पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हैं। उनके अधिकांश ग्रंथ तीर्थंकर या जैन महापुरुषों के चरित्र वर्णन करने में किसी व्रत का महात्म्य बतलाने में या मत का प्रतिपादन करने में सर्जित हुए। उनकी अभिलाषा वास्तव में यह थी कि जैन धर्म के नैतिक और सदाचार सम्बन्धी उपदेश जनसाधारण तक अधिक से अधिक पहुंचे। १ यही कारण है कि इन रचनाओं में धार्मिक आग्रह विशेष है। इन रचनाओं में संसारिक राग के ऊपर विराग को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया है। २

यद्यपि भारतीय इतिहास का मध्यकाल अशांत और निराशा का रहा, फिर भी साहित्यक एवं धार्मिक दृष्टि से यह युग अत्यंत समृद्ध कहा जा सकता है। इस युग की एवं संघर्षपूर्ण परिस्थिति के मध्य में जैन, शैव, शाक्त, वैष्णवों एवं नाथों-संतों की रचनाएं जन-मानस को अनुप्रमाणित करने में सम्पूर्ण साहित्य अपभ्रंश और आदिकाल की परम्पराओं को लेकर चला है, परन्तु सामयिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक

---

१ डॉ० सरनामसिंह, "अरुण", राजस्थानी साहित्य—प्रगति और परम्परा, पृ० १२
२ डॉ० आनंद प्रकाश दीक्षित, वेलि क्रिसन रुकमिणी, भूमिका, पृ० २७

एवं साहित्यिक परिस्थितियों वश उसमें भाव, भाषा, शैली, काव्यरूप आदि की दृष्टि से परिष्कार व परिवर्धन अवश्य हुआ है।

निष्कर्षत: सम्पूर्ण भक्तियुग का साहित्य जिसका मुगलकाल की राजनीति और समाज व्यवस्था से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, इन्हीं सब परिस्थितियों के कारण अधिक धार्मिक दृढ़ता के साथ लिखा गया। इस युग में यदि इस प्रकार का, भक्ति एवं धर्म प्रधान साहित्य सर्जित न होता तो संभवत: अधिकांश भारत का यवनीकरण हो जाता। साहित्य की विशाल धरा पर धर्म सरल एवं सरस होकर जीवन के साथ एक हो जाता है। भक्तिकालीन साहित्य और परिस्थितियाँ इस बात का उज्ज्वल प्रमाण है।
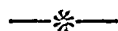
परिचय खण्ड २

प्रकरण २

१७वीं शती के जैन गूर्जर कवि और उनकी कृतियों का पचरिय

नयनसुन्दर, शुभचन्द्र भट्टारक, ब्रह्मजयसागर, रत्नकीर्ति भट्टारक, सुमति सागर, चन्
कीर्ति, विनयसमुद्र, आनन्दवर्धनसूरि, मालदेव, ब्रह्मरायमल, कनकसोम, कुशलला
साधुकीर्ति, वीरचन्द्र, जयवन्तसूरि, भट्टारक सकलभूषण, उदयराज, कल्याणसागरसू
अभयचन्द्र, समयसुन्दर, कल्याणदेव, कुमुदचन्द्र, जिनराजसूरि, वादिचन्द्र, भट्टार
महीचन्द्र, संयमसागर, ब्रह्मअजित, ब्रह्मगणेश, महानन्दगणि, मेघराज, लालविज
दयाशील, हीरानन्द (हीरो संघवी), दयासागर, हेमविजय, लालचन्द, भद्रसेन, गुणसाग
सूरि, श्रीसार, वालचन्द्र, ज्ञानानन्द, हंसराज, ऋषभदास, कनककीर्ति ।

—::—

प्रकरण : २

१७वीं शती के जैन गूर्जर कवि और उनकी कृतियों का परिचय

आलोच्य कविता के सामूहिक परिवेश तथा पृष्ठभूमि का अवलोकन कर चुकने के पश्चात् हम इस परिवेश में जन्मे कवियों और उनके द्वारा रची गई कविताओं को कालानुक्रम से देखने का उपक्रम करेंगे।

सत्रहवीं शती में हिन्दी में कविता करने वाले गुजरात से सम्पृत्तान जैन कवि विपुल संख्या में उपलब्ध होते हैं। इन कवियों में अधिकांशतः अज्ञात है या विस्मृत हो चुके हैं। इनकी रचनाएं भी जैन भण्डारों में दबी पड़ी हैं। हम इनमें से कुछ चुने हुए प्रमुख कवियों तथा उनकी कृतियों का संक्षिप्त साहित्यक परिचय देना प्रसंगप्राप्त समझते हैं क्योंकि इससे कवियों व उनकी कृतियों की भाषा सम्बन्धी स्थिति स्पष्ट होगी।

नयन सुन्दर : (सं० १५६२—१६१३)

ये वडतपगच्छीय मानुमेरुगणि के शिष्य थे। १ इन्होंने गुजराती में विपुल साहित्त की रचना की है। अंतःसाक्ष्यों के आधार पर इनके विस्तृत जीवनवृत्त का पता नहीं चलता। ये समर्थ कवि और विद्वान उपाध्याय थे।

हिन्दी में इनकी कोई स्वतंत्र कृति नहीं मिलती। इन्होंने गुजराती भाषा में प्रणीत अपनी विभिन्न कृतियों में संस्कृति, प्राकृत, हिन्दी तथा उर्दू के उद्धरण प्रचुर-मात्रा में दिये हैं। कुछ अंश तो पूरे के पूरे हिन्दी-गुजराती मिश्रित ही हैं। कुछ स्फुट स्तवनादि भी गुजरातीमिश्रित हिन्दी में प्राप्त हैं, जिनमें "शंखेश्वर पार्श्व स्तवन" १३२ गाथा का तथा शांतिनाथ स्तवन विशेष उल्लेखनीय हैं। २

ये बहुश्रुत और विविध भाषाओं के ज्ञाता थे। ३ जिनविजयजी के पास "नलदमयंती रास" की एक ऐसी प्रति है जिसमें प्राचीन कवियों के काव्यों का सुभाषित रूप में संग्रह किया गया है। कवि के समय में हिन्दी भाषा भी गुजरात में परिचित एवं मिश्ररूप से व्यवहृत थी इसका यह प्रमाण है। एक उदाहरण दृष्टव्य है—

उक्त पंक्तियों में कवि ने हिन्दी गुजराती की रूपात्मकता को बड़े ही सुन्दर ढंग से परस्पर संयुक्त कर दिया है । इसी तरह कहावतें और सुभाषित भी बड़े सरल और स्वाभाविक रूप से आये हैं । कवि की भावाभिव्यक्ति में हिन्दी का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है —

" दुनिया में यारा विगर, जे जीवणा सवि फोक,

कह्या न जावे हर किसे, आपणे दिल का शोक ॥ " १

इसी तरह " नलदमयंती रास " और " रूपचंद कुंवरदास " के कई प्रसंग बीच बीच में हिन्दी में रचित मिलते हैं ।

शुभचंद्र भट्टारक : (सं० १५७३—१६१३)

ये पद्मनन्दि की परंपरा में भट्टारक विजयकीर्ति के शिष्य थे । उनकी गुरू परंपरा इस प्रकार स्वीकृत है—पद्मनन्दि, सकलकीर्ति, भुवनकीर्ति, ज्ञानभूषण, विजयकीर्ति और शुभचंद्र । २

भट्टारक शुभचंद्र १६वीं-१७वीं शतातब्दी के महान् सहित्यसेवी, प्रसिद्ध भट्टारक, धर्म प्रचारक एवं शास्त्रों के अध्येता थे । शुभचंद्र के भट्टारक बनने के पूर्व भट्टारक सकलकीर्ति एवं उनके पट्ट, शिष्य-प्रशिष्य भुवनकीर्ति, ज्ञान भूषण एवं विजयकीर्ति ने अपनी विद्वत्ता, जनसेवा एवं सांस्कृतिक चेतना द्वारा वातावरण इतना सरल और अनुकूल बना दिया था कि इन संतों के लिए जैन समाज में ही नहीं जैनेतर समाज में भी अगाध श्रद्धा पैदा हो गई थी । जन्म, बाल्यकाल, गृहास्थ-जीवन, अध्ययन आदि के संबंध में कोई उल्लेख नहीं मिलता । उन्होंने सं० १५७३ में आचार्य अमृतचन्द्र के " समयसार कलशों " पर " अध्यात्मतरंगिणी " नाम की टीका लिखी और सं० १६१३ में वर्णी क्षेमचन्द्र की प्रार्थना से " स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा " की संस्कृत टीका रची । अतः रचना काल वि० सं० १५७३ से १६१३ सिद्ध है । संभवतः भट्टारक पद पर रहनेका भी यही समय है । श्री वी० पी० जोहारपुर के मतानुसार ये १५७३ में भट्टारक बने और संवत् १६१३ तक इस पद पर बने रहे । ३ बलात्कार गण की ईडर शाखा के ये भट्टारक थे । अपने ४० वर्ष के भट्टारक पद का खूब सदुपयोगकर इन्होंने राजस्थान, पंजाब, गुजरात

१ आनंद काव्य महोदधि, मौक्तिक ६, " नलदमयंती रास ", पृ० २०६

पाण्डवपुराण प्रशस्ति, अन्त भाग, श्लोक १६७-१७१, जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, पृ० ४६-५०

भट्टारक पट्टावलि, पृ० १५८

एवं उत्तर प्रदेश में साहित्य एवं संस्कृति का वड़ा उत्साहप्रद वातावरण विनिर्मित किया।

इनके अन्य संस्कृत ग्रंथों में " चंदना चरित " वागड प्रांत में निवद्ध किया और " कीर्तिकेयानुप्रेक्षा टीका " की रचना भी वागड के सागवाडा नगर में हुई। इसी तरह संवत् १६०८ में " पाण्डव पुराण " को हिसार (पंजाव) में सम्पूर्ण किया ।

भट्टारक शुभचंद्र अपने समय के गणमान्य विद्वान थे। संस्कृत भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था। उन्हें " त्रिविधिविद्याधर " और षट्भाषा कवि चक्रवर्ती की पदवियां मिली हुई थीं। १

षट्भाषाओं में संभवत: संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती एवं राजस्थान की भाषाएं थीं। कवि न्याय, व्याकरण, सिद्धांत, छन्द, अलंकार आदि विषयों के अप्रतिम विद्वान थे। २ ये ज्ञान के सागर, अनेक विषयों में पारंगत तथा वक्तृत्व कला में निपुण थे। उनका व्यक्तित्व वड़ा ही आकर्षक था। संस्कृत में इन्होंने विपुल साहित्य का सर्जन किया है। पाण्डव पुराण की प्रशस्ति में उनके द्वारा लिखे गये १५ ग्रंथों का उल्लेख है। डॉ० कस्तुरचंद कासलीवाल ने इनके ४० ग्रंथों का उल्लेख किया है।३ इनकी हिन्दी रचनाएं इस प्रकार हैं — महावीर छन्द, विजयकीर्ति छंद, गुरुछंद, नेमिनाथ छंद, चतुर्विशति स्तुति, क्षेत्रपालगीत, अष्टाहिनका गीत, तत्वसार दोहा तथा स्फुट पद। इन रचनाओं में अधिकांश तो लघु स्तवन मात्र हैं, जो श्री दिगम्वर जैन मन्दिर ववीचन्दजी, जयपुर, तथा पटौदी दिगम्बर जैन मन्दिर, जयपुर के संग्रहों में सुरक्षित हैं। इनकी भाषा पर गुजराती का प्रभाव विशेष है।

" इनकी " तत्वसार दोहा " कृति विशेष उल्लेखनीय है। इसकी एक प्रति ढोलियान जैन मन्दिर, जयपुर के भण्डार में सुरक्षित है। इसमें ९१ दोहे और छन्द हैं, जिनमें सात तत्वों पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। भाषा गुजराती प्रभावित है। मोक्ष का निरूपण करते हुए कवि ने कहा है—

" कर्म कलंक विकारनोरे, नि:शेष होय विनाश।
मोक्ष तत्व श्री जिन कही, जाणवा भावु अल्पास ॥ १६ ॥"

विभिन्न रागों में निवद्ध कवि का पद साहित्य भी, भाव, भाषा एवं शैली की दृष्टि से उत्तम है। इन पदों में कवि हृदय की भक्ति-भावना अत्यन्त सरल एवं स्वाभाविक

---

१ पं० नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३९३
२ " " ३८३
३ श्री कस्तुरचन्द कासलीवाल संपादित प्रशस्ति संग्रह, प्रस्तावना, पृ० १२

रूप में अभिव्यक्त हुई है । कवि प्रभु के अनन्तसौन्दर्य का वर्णन करता, उसी में अभिभूत हो अपने को उनके चरण कमलों में स्थान देने की सहृदय प्रार्थना करता हुआ कहता है—

"पेखो सखी चन्द्रप्रभ मुख-चंद्र ।
सहस किरण सम तन की आभा देखत परमानंद ॥ १ ॥
समवसरण शुभ भूति विभूति सेव करत सत इंद्र ।
महासेन-कुल-कंज दिवाकर जग गुरु जगदानंद ॥ २ ॥
मन मोहन मूरति प्रभु तेरी, मैं पायो परम मुनिंद ।
श्री शुभचद्र कहे जिनजी, मोकूं राखो चरन अरविन्द ॥ ३ ॥" १

राजमती के बहाने कवि का भक्त-हृदय परमात्मा के विरह में असीम व्यथा अनुभव करता है । मिलन की उत्कंठा और व्यग्रता का एक चित्र प्रस्तुत है —

"कोन सखी सुध लावे, श्याम की ॥
कोन सखी सुध लावे ॥
मधुरी ध्वनि मुख-चंद्र विराजित ।
राजमति गुण गावे ॥ १ ॥
अंग विभूषण मनिमय मेरे ।
मनोहर माननी पावे ॥
करो कछू तंत मंत मेरी सजनी ।
मोहि प्राननाथ मिलावे ॥ २ ॥"

शुभचंद्र भट्टारक की अधिकांश रचनाएं ऐसी हैं जिनमें हिन्दी-गुजराती और अपभ्रंश का मिलाजुला रूप दृष्टिगत होता है । किन्तु उनके स्फुट पद वास्तव में भाव एवं भाषा की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं । उनमें ब्रजभाषा की बड़ी सुन्दर श्रुति-मधुर एवं संगीतात्मक पदावली समुपलब्ध होती है ।

ब्रह्म जयसागर : (सं० १५८०–१६५५)

ये ब्रह्मचारी थे और भट्टारक रत्नकीर्ति के प्रमुख शिष्यों में से थे । इनका संबंध घोघानगर (गुजरात) से विशेष रहा । इनका समय संवत् १५८० से १६५५ तक का जाना है । २

---

१ नाथूराम प्रेमी कृत जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३९३
२ श्री कस्तूरचंद कासलीवाल संपा० हिन्दी पद संग्रह, पृ० २९८-३००

इनकी लगभग १२ लघु कृतियों का उल्लेख डॉ० कासलीवाल ने किया है। १ इनकी रचनाएं प्रायः लघु और साधारण कोटि की हैं जिनका उद्देश्य हिन्दी भाषा एवं जैन धर्म का प्रचार प्रतीत होता है। इनकी पंच-कल्याण गीत एवं चुनडी गीत रचनाएं विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रथम में शांतिनाथ के पांच कल्याणकों का वर्णन है तथा दूसरी कृति एक सुन्दर रूपक गीत है। उसमें नेमिनाथ के चरित्र रूपी चुनडी की विशेषता, भव्यता एवं अलौकिकता का कवि ने बड़ा ही काव्यमय वर्णन किया है। इस अध्यात्मिक रूपक-काव्य के अन्त में कवि कहता है—

" चित चुनड़ी ए जे धरमें, मनवांछित नेम सुख करसे।
संसार सागर ते तरसे, पुन्य रत्नो भंडार भरसे ॥
सुरि रत्न कीरति जसकारी, शुभ धर्म शशि गुण धारी।
नर-नारि चुनड़ी गावे, ब्रह्मजयसागर कहे भावे ॥ १६ ॥"

इनकी रचनाएं प्रायः अपभ्रंश मिश्रित राजस्थानी एवं गुजराती में हैं। विषय तथा भाषा शैली की दृष्टि से ये साधारण कोटि के कवि हैं।

रत्नकीर्ति भट्टारक ३ : (सं० १६००–१६५६)

इनका जन्म संवत् १५९० के आस पास घोघानगर (गुजरात) में हुआ था। २ ये जैनों की हुंवड़ जाति से उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम सेठ देवीदास और माता का नाम सहजलदे था। कवि के बचपन के नाम का उल्लेख नहीं मिलता। बचपन से ही ये व्युत्पन्नमति, होनहार एवं साहित्याभिरुचि युक्त थे। प्राकृत एवं संस्कृत ग्रंथों का इन्होंने गहरा अध्ययन किया था। एक दिन भट्टारक अभयनन्दि से इनका साक्षात्कार हुआ। भट्टारक अत्यन्त प्रसन्न हुए। इनकी बाल प्रतिभा, विद्वता एवं वाग-चातुर्य से प्रभावित होकर उन्होंने रत्नकीर्ति को अपना शिष्य बना लिया।

गुरु ने उन्हें सिद्धांत, काव्य, व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेदिक आदि विषयों के ग्रंथों का अध्ययन करवाया। व्युत्पन्नमति रत्नचंद्र ने इन सब विधाओं पर एवं मंत्र विद्या पर भी पूर्ण अधिकार कर लिया। गुरु भट्टारक अभयनंदि अपने युग के ख्याति प्राप्त विद्वान थे। रत्नकीर्ति उन्हीं के पास रहे और अध्ययन करते रहे। कालांतर में अभयनन्दि ने उन्हें अपना पट्टशिष्य घोषित किया और सं० १६४३ में एक विशेष

१ डॉ० कस्तुरचन्द कासलीवाल, राजस्थान के जैन संत-व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ० १५३

२ बलात्कार गण की सूरत शाखा की एक ओर परंपरा भ० लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य अभयचन्द्र से आरंभ हुई थी। उनके पट्ट शिष्य अभयनंदि थे। इन अभयनंदि के शिष्य रत्नकीर्ति हुए। भट्टारक सम्प्रदाय, जीवराज ग्रंथमाला, शोलापुर, पृ० २००

३ हिन्दी पद संग्रह, डॉ० कस्तुरचंद कासलीवाल, पृ०

समारोह के साथ भट्टारक पद पर अभिषिक्त कर दिया। उस पद पर ये संवत् १६५६ तक बने रहे। इनका रचनाकाल इससे कुछ पहले से माना जा सकता है।

रत्नकीर्ति अपने समय के प्रसिद्ध कवि एवं विद्वान थे सौन्दर्य, विद्वत्ता, वैभव एवं चरित्र आदि गुणों में ये अतिमानव थे। उन्हें दूसरा उदयन भी कहा गया है। दीक्षा, संयमश्री, मुक्तिलक्ष्मी आदि अनेक कुमारियों के साथ उनका विवाह हुआ था। ये उनके आध्यात्मिक विवाह थे। उनके सौन्दर्य के गीत उनके अनेक शिष्यों ने गाये हैं। तत्कालीन विद्वान और कवि, गणेश द्वारा भ० रत्नकीर्ति की सौन्दर्य-प्रसंसा में कहे शब्द अवलोकनीय हैं—

"अरघ शशिसम सोहे शुभ भाल रे।
वदन कमल शुभ नयन विशाल रे॥
दशन दाडिम सम रसना रसाल रे।
अधर बिम्बाफल विजित प्रवाल रे॥
कंठ कम्बूसम रेखात्रय राजे रे।
कर किसलय-सम नख छवि छाजे रे॥"

रचनाएं :

रत्नकीर्ति अपने समय के अच्छे कवि थे। अब इनके ४० पद तथा नेमिनाथफाग, नेमिनाथ बारहमासा, नेमीश्वर हिण्डोलना एवं नेमिश्वर रास आदि रचनाएं प्राप्त हो चुकी हैं। १

भट्टारक पद का उत्तर दायित्व बहुत बड़ा होता था। इनके निर्वाह के लिए कठोर हृदय की आवश्यकता होती थी अधिकांश भट्टारक परिस्थितिजन्य, निर्भय, बन जाते थे। रत्नकीर्ति जन्म जात कवि थे। इनका हृदय अत्यन्त सरस, द्रवणशील एवं सरल था। इनका प्रत्येक पद इस बात का प्रमाण है। संत होने के साथ साथ कवि के मन की रसिकता इनमें फूट पड़ी है। यही कारण है कि इनके पदों में नेमिनाथ के विरह से राजुल की व्यथित दशा एवं उसके विभिन्न मनोभावों का मार्मिक चित्रण है। राजुल की तड़फन से बहुत परिचित थे। किसी भी बहाने ये राजुल और नेमिनाथ का संयोग चाहते थे। राजुल के निष्ठुर नैन सदैव प्रतीक्षारत हैं। हृदय का बांध तोड़कर वे बह निकलना चाहते है। उस गिरि की ओर जाने की आकांक्षा बलवती होती जा रही है, जहाँ नेमिश्वर रहते हैं। यहाँ तो उसका मन ही नहीं लगता-रात भी तो समाप्त नहीं होती,

---

१ हिन्दी पद संग्रह, महावीर ग्रंथमाला, जयपुर, डॉ० कस्तुरचंद कासलीवाल, पृ० २

" वरज्यो न माने नयन निठोर।
सुमिरि-सुमिरि गुन भये सजल घन, उसंगि चले मति फोर ॥
चंचल चपल रहत नहिं रोके, न मानत जु निहोर।
नित उठि चाहत गिरि को मारग, जे ही विधि चन्द्र चकोर ॥
तन मन धन यौवन नहीं भावत, रजनी न जावत मोर।
रतनकीरति प्रभु वेग मिलो, तुम मेरे मन के मोर ॥ "

एक अन्य पद में राजुल कहती है – नेमिनाथ ने पशुओं की पुकार तो सुन ली पर मेरी पुकार क्यों नहीं सुनी,

" सखी री नेम न जानी पीर ॥
वहोत दिवाजे आये मेरे घरि,
संग लेकर हलधर वीर ॥ १ ॥
नेम मुख निरखी हरषीयन सूं,
अव तो हाइ नन धीर ॥
तामें पशूय पुकार सुनि करि,
गयो गिरिवर के तीर ॥ २ ॥

विभिन्न रागों में निवद्ध कवि का यह पद साहित्य भाषा–भाव एवं शैली की दृष्टि में उत्कृष्ट वन पड़ा है।

कवि की अन्य रचनाओं में " नेमिनाथ फागु " तथा " नेमिनाथ वारहमासा " विशेष उल्लेखनीय हैं। १ इनमें कथाभेद नहीं है, वर्णनभेद है।

सुमति सागर : (संवत् १६००–१६६५)

ये भ० अभयचंद्र के पश्चात् भट्टारक पद पर आने वाले भ० अभयनन्दि के शिष्य थे। गुजरात और राजस्थान दोनों में इन भट्टारकों का निकट का संवंध रहा है। सुमितसागर ब्रह्मचारी थे और अपने गुरु अभयनन्दि और उनकी मृत्यु के पश्चात् भ० रत्नकीर्ति के संघ में रहने लगे थे। इन्होंने अभयनन्दि और रत्नकीर्ति की प्रसंसा में अनेक गीत लिखे हैं। इन्होंने इन दोनों का समय देखा था और इसी नुमान पर डॉ० कस्तूरचंद कासलीवालजी ने इनका समय संवत् १६०० से १६६५ क का माना है। २

१ इनकी हस्तलिखित प्रतियां, श्री यशःकीर्ति, सरस्वती भवन, ऋषिमदेव
२ राजस्थान के जैन संत व्यक्तित्व, डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल पृ० १९२

इनकी १० लघु रचनाएं प्राप्त हैं। १ ये सभी रचनाएं भाषा एवं काव्यत्व की दृष्टि से साधारणतः अच्छी रचनाएं हैं। "नेमिवंदना" से एक उदाहरण दृष्टव्य है —२

"ऊजल पूनिम चंद्रसम, जस राजीमती जगि होई।
ऊजलु सोहइ अबला, रूप रामा जोइ।
ऊजल मुखवर भामिनी, खाय मुख तंबोल।
ऊजल केवल न्यान जानूं, जीव भव कलोल।"

चन्द्रकीर्ति : (सं० १६००–१६६०)

गुजरात के वलसाड, बारडोली तथा राजस्थान और गुजरात के सीमावर्ती बागड की भट्टारक गादियों से विशेष संबंधित भ० रत्नकीर्ति के प्रिय शिष्यों में से चन्द्रकीर्ति एक थे। ये प्रतिभा सम्पन्न तथा अपने गुरु के योग्य शिष्य थे। गुजरात और राजस्थान इनके विहार के क्षेत्र थे। इनके साहित्य निर्माण के केन्द्र विशेषतः बारडोली, भडौच, डूंगरपुर, सागवाड़ा, आदि नगर रहे हैं। इनके जन्म आदि के विषय में विशेष जानकारी नहीं मिलती।

कवि की एक रचना जयकुमार आख्यान में उन्होंने अपनी गुरुपरंपरा का वर्णन करते हुए अपने गुरू के रूप में रत्नकीर्ति को स्मरण किया है। ३ इस कृति की रचना बारडोली नगर में संवत् १६५५ में हुई। ४ रत्नकीर्ति अपने भट्टारक पद पर संवत् १६६० तक अवस्थित रहे। उनके पश्चात उनके शिष्य कुमुदचंद्र भट्टारक पद पर आते हैं। चन्द्रकीर्ति ने कुमुदचंद्र का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। इस आधार पर इनकी अवस्थिति संवत्१६६० तक मानी जा सकती है। डॉ० कासलीवाल जी ने भी इनका समय संवत् १६०० से १६६० तक माना है। ५

चन्द्रकीर्ति की प्राप्त रचनाओं में " सोलहकरण रास " और जयकुमार आख्यान विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके रचित कुछ हिन्दी पद भी उपलब्ध हैं।

सोलहकरण रास :

विभिन्न छन्दों और रागों में रचित कवि की लघु कृति है। इसमें रचना संवत् का उल्लेख नहीं है। इसकी रचना भडौच नगर के शांतिनाथ मन्दिर में हुई थी।१ कवि की इस रास कृति में षोडशकारण व्रत की महिमा गाई है। अन्त में कवि ने अपनी गुरुपरंपरा का उल्लेख किया है।

जयकुमार आख्यान :

चार सर्गों का वीर-रस प्रधान एक आख्यान काव्य है। प्रथम तीर्थंकर " ऋषिभदेव " के पुत्र सम्राट भरत के सेनापति " जयकुमार " का चरित्र, इसकी कथा का मुख्य आधार है। इसकी रचना वारडोली नगर में संवत १६५५, चैत्रसुदी दसमी के दिन हुई थी।

इसके प्रथम सर्ग में कवि ने जयकुमार और सुलोचना के विवाह का वर्णन किया है। दूसरे और तीसरे में दो भवों का (पूर्व के) वर्णन और चौथे में जयकुमार के निर्वाण प्राप्त करने की कथा वर्णित है। मूलत: वीर-रस प्रधान काव्य है फिर भी शृंगार एवं शांतरस का सुन्दर नियोजन हुआ है।

सुलोचना के सौन्दर्य के वर्णन का एक प्रसंग द्रष्टव्य है —

" कमल पत्र विशाल नेत्रा, नाशिका सुक चांच।
अष्टमी चन्द्रज भाल सौहे, वेणी नाग प्रपंच॥
सुन्दरी देखी तेह राजा, चिन्त में मन मांहि।
ए सुन्दरी सूर सुंदरी, किन्नरी किम कहे वाम॥"

युद्ध का वर्णन तो अत्यन्त मनोरम एवं स्वाभाविक वन पड़ा है। जयकुमार और अर्ककीर्ति के वीच युद्ध का एक प्रसंग अवलोकनीय है—

" हस्ती हस्ती संघाते आथंडे,
रथो रथ सूमट सहू इम भडे।
हय हयारव जव छजयो,
नीसांण नादें जग गज्जयो॥ "

भाषा राजस्थानी डिंगल है। भाषा एवं भाव की दृष्टि से कृति महत्वपूर्ण है।

---

१ श्री मरुचय नगरे मोमणु श्री शांतिनाथ जिनराय रे। – –

कवि की अन्य लघु कृतियां भी साधारणतः ठीक हैं। कवि के प्राप्त हिन्दी पदों में से एक अंश अवलोकनीय है —

" जागता जिनवर जे दिन निरख्यो,
धन्य ते दिवस चिन्तामणि सरिखो।
सुप्रभाति मुख कमल जु दीठु,
वचन अमृत थकी अधिक जु मीठ्ठु ॥१॥
सफल जनम हवो जिनवर दीठा,
करण सफल सुण्या तुम्ह गुण मीठा ॥२॥
धन्य ते जे जिनवर पद पूजे,
श्री जिन तुम्ह विन देव न दूजो ॥३॥
स्वर्ग मुगति जिन दरसनि पांमे,
" चन्द्रकीरति" सूरि सीसज नामे ॥४॥"

भाव, भाषा एवं शैली की दृष्टि से कवि की सभी कृतियां साधारणतः अच्छी हैं।

विनय समुद्र : (सं०१६०२—१६०४ आस पास)

ये उपकेशगच्छ में हुए सिद्धसूरि के शिष्य हर्षसमुद्र के शिष्य थे। १ इनके द्वारा रचित ७ कृतियों का उल्लेख मिलता है। २ कवि की समस्त रचनाएं गुजराती मिश्रित हिन्दी में हैं। अत्यधिक गुजराती प्रभावित भाषा से कवि का गुजरात-निवासी होने या गुजरात में दीर्घकाल तक रहने का अनुमान किया जा सकता है।

इनकी " मृगावती चौपाई " विशेष उल्लेखनीय है। इसकी रचना बीकानेर में सं० १६०२ में हुई थी। शील विषय पर रचित यह कवि का एक सुन्दर काव्य ग्रंथ है।

" चित्रसेन पद्मावती रास " में नवकार मंत्र की महिमा है। इसकी रचना सं० १६०४ में हुई थी।

" पद्मचरित्र " में राम और सीता का चरित्र प्रधान है। उनके शील एवं चरित्र की महिमा का अच्छा वर्णन हुआ है।

कवि की भाषा पर गुजराती तथा राजस्थानी का विशेष प्रभाव है। भाषा शैली की दृष्टि से ये साधारण कोटि के कवि हैं। इसकी रचना
सं० १६०४ में हुई थी।

---

१ विक्रम प्रबंध रास, राजस्थान के शास्त्र भण्डारों की ग्रंथ सूची, भाग ३, पृ०२६६
२ जैन-गूर्जर कविओ भाग-३, खंड १, पृ० ६१५-१६ तथा भाग १, पृ० १६८-७०

आणदवर्धन सूरि : (सं० १६०८ आसपास)

ये खरतरगच्छ के धर्मवर्धनसूरि के शिष्य थे। १ इनके समकालीन खरतरगच्छ में ही एक अन्य महिमा सागर के शिष्य आणंदवर्धन भी हो गये हैं।

इनकी रची हुई एक कृति 'पवनाभ्यास चौपाई' उपलब्ध है। २ भाषा गुजराती मिश्रित हिन्दी है : गुजराती वहुला हिन्दी प्रयोग को देखते हुए इनका गुजरात में दीर्घ-काल तक रहना सिद्ध है। इनकी अन्य किसी हिन्दी-गुजराती कृति की जानकारी नहीं मिलती। विशेष परिचय भी अनुपलब्ध है।

पवनाभ्यास चौपई :

इसमें कुल १२७ पद्य हैं। कवि ने इसे 'ब्रह्मज्ञान चौपाई' भी कहा है ' अखाजी जैसी ज्ञानश्रयी कविता की यह सुन्दर कृति है। इसकी रचना संवत् १६०८ में हुई थी। ३ उदाहरणार्थ प्रारंभ की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं —

" परम तेज पणमुं एक चित्त, जे माहि दीसइ वहुलुं चित्त,
जन हुइ पोतइ पूरव दत्त, तउ पामीजइ एहजि तत्त। "

भाषा, शैली की दृष्टि से ये साधारण कोटि के कवि हैं।

मालदेव : (सं १६१२ आसपास)

भाषा प्रौढ़ है ; परन्तु उसमें गुजराती की झलक है और अपभ्रंश शब्दों की अधिकता है। कारण, कवि गुजरात और राजपूताने की बोलियों से अधिक परिचित था।" इससे भी कवि का गुजरात से दीर्घकालीन सम्बन्ध स्थापित होता है।

मालदेव बड़े अच्छे कवि हो गये हैं। इनके प्राकृत एवं संस्कृत ग्रंथ भी मिलते हैं। गुजराती-राजस्थानी मिश्रित हिन्दी की रचनाएं स्तर एवं संख्या की दृष्टि से भी विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनकी ११ रचनाओं का पता चला है। १

इनके अनन्तर श्री नाहटाजी ने इनकी अन्य कुछ रचनाओं के साथ गीत, स्तवन, सज्झाय आदि का भी उल्लेख किया है। २ 'महावीर पारणा', 'महावीर लोरी,' तथा 'पुरन्दर चौपाई' का प्रकाशन भी श्री नाहटा जी द्वारा हुआ है। कवि की अधिकांश रचनाओं में रचना-संवत तथा रचना स्थान का उल्लेख नहीं है। इनकी 'वीरांगदा चौपाई' में रचना काल संवत १६१२ दिया गा है अतः इसी आधार पर उनका उपस्थित काल संवत १६१२ के आस पास माना जा सकता है।

कवि की अधिकांश रचनाएं लोक कथा पर आधारित हैं इनकी रचनाओं में प्रयुक्त सुभाषितों की लोकप्रियता तो इतनी रही कि परवर्ती कवियों ने भी इनके सुभाषितों को उद्धृत किया है। जयरंग कवि ने अपने संवत १७२१ में रचे कयवन्ना रास में माल कवि के सुभाषियों का खुलकर प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ—

" दुसह वेदन विरह की, साच कहे कवि माल,
जि जिणकी जोड़ी विछड़ो, तणिका कवण हवाल ॥३॥"

कवि की कुछ प्रमुख रचनाओं के द्वारा हम इनकी भाषा का परिचय प्राप्त करने का यत्न करेंगे।

पुरन्दरकुमार चौपई

रचना ३७२ पद्यों में रचित है। इसकी रचना संवत १६५२ में हुई। ३ मुनि श्री जिनविजयजी ने अपने पास की इसकी प्रति के विषय में लिखा है ४— " यह 'पुरन्दर कुमार चउपई' ग्रन्थ हिन्दी में है (गुजराती में नहीं) इसे मैंने आज ही ठीक ठीक देखा है। रचना अच्छी और ललित है।" अपनी इस कथा की सरसता के लिए कवि स्वयं कहता है —

१ जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खंड १, पृ० ८०७-८१६, तथा भाग-१, पृ० ३०४-१०
२ परंपरा, राजस्थानी साहित्य का मध्यकाल, ले० अगरचंद नाहटा, पृ१ ७२
३ जैन गूर्जर कविओ, भाग १, पृ० ३०६
४ हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, नाथूराम प्रेमी, पृ० ४४

"नरनारी जे रसिक ते, सुणियहु सब चितु लाइ।
ठूंठ न कव हि घुमाइयहिं, विना सरस तरु नाइ॥

सरस कथा जइ होई तौ, सुणइ सविहि मन लाइ।
जिहां सुवास होवहि कुसुम, सरस मधुप तिहां जाइ॥"

कवि की यह रचना प्रासादगुण युक्त है। इसमें उच्च कोटि की कवि प्रतिभा के दर्शन होते हैं।

भोज प्रबंध १

लगभग २००० श्लोकों से पूर्ण तीन अध्यायों में विभक्त कृति है। कथा का आधार प्रबंध चिन्तामणि तथा वल्लाल का भोज प्रबन्ध है, फिर भी रचना प्रौढ एवं स्वतंत्र है। भाषा कहीं सामान्य और कहीं अपभ्रंश से प्रभावित है—

"वनतें वन छिपतउ फिरउ, गव्हर वनहं निकुंज।
भूखउ भोजन मांगिवा, गोवलि आयउ मुंज॥ २४७॥

गोकुलि काई ग्वारिनी, ऊंची बइठी खाटि।
नात पुत्र सातइ वहू, दही विलोवहिं माटि॥ ४८॥"

इन पंक्तियों में राजा मुंज के युद्ध में पराजित होकर एक गांव में आने का वर्णन है।

ब्रह्म रायमल्ल : (सं० १६१५-१६३३)

ये मूलसंघ शारदा गच्छ के आचार्य रत्नकीर्ति के पट्टधर अनन्तकीर्ति के शिष्य थे। १ रत्नकीर्ति का सम्बन्ध राजस्थान और गुजरात की अनेक भट्टारक गद्दियों से रहा है। इन्हीं की परम्परा में हुए ब्रह्मरायमल्ल का जन्म हूंवड़ जाजि में हुआ था। इनकेपिताका नाम महीय एवं माता का नाम चंपा था। २ समुद तट पर स्थित ग्रीवापुर में " भक्तामर स्तोत्रव्रति" के रचने का उल्लेख डा० कासलीवाल ने किया है। ३ इनकी अधिकांश रचनाएं राजस्थान के विभिन्न स्थानों में रची गई हैं इसी आधार पर श्री नाहटा जी ने इन्हें राजस्थान का निवासी बताया है। ४ कवि के जन्म और जीवनवृत्त के संबध में जानकारी उपलब्ध नहीं परन्तु रचनाओं में गुजराती का पुट देखते हुए यह संभावना प्रतीत जोती है कि गुजरात में स्थित किसी भट्टारक गद्दी से इनका सम्बन्ध अवश्य रहा होगा।

सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में पाण्डे रायमल्ल भी हो गये हैं। ये संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के प्रकाण्ड विद्वान थे। कविवर बनारसी दास ने उन्हीं रायमल्ल का उल्लेख किया है। डॉ० जगदीश चन्द्र जैन इन्हीं रायमल्ल के लिए लिखा है कि ये जैनागम के बड़े भारी वेता तथा एक अनुभवी विद्वान थे। ५ विवक्षित ब्रह्म रायमल्ल इनसे पृथक हैं। ६

ब्रह्म रायमल्ल जन्म से कवि थे उनमें हृदय पक्ष प्रधान था। इन्होंने हिन्दी में अनेक काव्यों की रचना की। इनकी भाषा सरस और प्रसाद गुण से युक्त है। इन्होंने जैन नैयायिकों और सैद्धांतिकों का भी गहन अध्ययन किया था इनके सरल काव्यों में जैन धर्म के तत्त्व तथा मानव की सूक्ष्म वृत्तियों का गहन परिचय है यही कारण है कि इनका काव्य रसपूर्ण हो उठा है।

---

१ जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, दिलपी, पृ० १००

२ प्रशस्ति संग्रह' दि० जैन अतिशय क्षेत्र थी महावीरजी, जयपुर, डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल, पृ० ११

३ वही

४ हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, संपादक प्रधान डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ४७६

५ हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, कामताप्रसाद जैन, पृ० ७६

६ पं० नाथूराम प्रेमी ने दोनों को एक ही समझा था।
हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, पृ० ५०

ब्रह्म रायमल्ल के सात हिन्दी काव्य प्राप्त है, जिनकी प्रतियां जयपुर के भण्डारों में सुरक्षित हैं। १ इनकी रचनाएं इस प्रकार हैं—

१ नेमीश्वर रास (सं० १६१५)
२ हनुवन्त कथा (सं० १६१३)
३ सुदर्शन रास (सं० १६२६)
४ प्रद्युम्न चरित्र (सं० १६२८)
५ श्री पाल रास (सं० १६३०)
६ भविष्यदत्त कथा (सं० १६३३)
७ निर्दोष सप्तमी व्रत कथा (अप्राप्त)

" नेमीश्वर रास " नेमिनाथ की भक्ति में रचा गया काव्य है।

हनुवन्त कथा :

अंजना पुत्र हनुमान और भक्तमती अंजना की चरित्र गाथा है। हनुमान के पिता का अखण्ड विश्वास है कि जिनेन्द्र की पूजा से आत्मा निर्मल होती हैं और मोक्ष की प्राप्ति होतो है। पूजन की तैयारी का एक प्रसंग अवलोकनीय है—

" कूँकूँ चदंन घसिवा धरणी, मांझि कपूर मेलि अती घणी।
जिणवर चरण पूजा करी, अवर जन्म की थाली भरी॥"

क्षत्रिय पुत्र बालक हनुमान का भी ओजस्वी चित्रण हुआ है—

" बालक जब रवि उदय कराया, अन्धकार सब जाय पलाय।
बालक सिंह होय अति सूरो, दन्तिघात करे चक-चेरो।
सघन वृक्ष्त वन अति विस्तारो, रती अग्नि करे दह छारो॥
जो बालक क्षत्रिय को होय, सूर स्वभाय न छोड़े कोय॥"

प्रद्युम्न चरित्र की एक प्रति संवत् १८२० की लिखी आमेर शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है इसकी प्रशस्ति में बताया गया है कि इसकी रचना हरसोर गढ में संवत १६२८ को हुई थी।

सुदर्शन रास की रचना सं० १६२६, वैसाख शुक्ल सप्तमी को हुई थी। सम्राट अकबर के राज्यकाल में रचित इस कृति में अकबर के लिए कहा है कि वह इन्द्र के समान राज्य का उपभोग कर रहा था तथा उसके हृदय में भारत के षट् दर्शनों के प्रति अत्यन्त सम्मान था। —

" साहि अकबर राजई, अहो भोगवे राज अति इन्द्र समान।
और चर्चा उर राखै नहीं अहो छः दरसण को राखै जी मान॥१॥"

---

१ वीरवाणी वर्ष, २, पृ० २३१

रविार को सं० १६१६ में हुई थी। १ इस कृति में कुल साढे पाँच सौ चौपाइयाँ हैं। इस में माधवानल और कामकंदला के प्रेम का वडा मनोरम कथानक लिया गया है। प्रेम और शृंगार के विपय का वडा ही शिष्ट और मर्यादापूर्ण निर्वाह–इस काव्य की विशेपता है। कवि की यह रचना आज भी राजस्थान और गुजरात में अत्यधिक प्रसिद्ध है।

इनको दूसरी प्रसिद्ध और लोकप्रिय राजस्थानी कृति " ढोलामारू चौपाई " है। जिनकी रचना सं० १६१७ में हुई थी। २ लोक कथाओ सम्वन्धी कवि के ये दोनो ग्रन्थ आनन्द काव्य महोदधि में प्रकाशित हैं। " ढोला मारू–रा दोहा " का प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी से भी हुआ है और " माधवानल काम-कंदला " का प्रकाशन गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, वडौदा से।

कुशललाभ जैसलमेर के रावल हरराज के आश्रित कवि थे। इन्ही रावलजी के कहने से कवि ने इस कृति का निर्माण किया था। कवि ने राजस्थानी के आदि-काव्य " ढोला मारू रा दूहा " में चौपाईयां मिलाकर प्रवंधात्मकता उत्पन्न की है। ३

श्री नाहटाजो ने कुशल लाभ की ११ रचनाओं का उल्लेख किया है ४ इन रचनाओ में " श्री पूज्यवाहण गीतम् " ५, " नवकार छंद " तथा " गोडी पार्श्वनाथ छंद " इनकी हिन्दी की रचनाएँ है। कवि की अन्य हिन्दी रचानाओ में स्थूलीभद्र छत्तीसी " रचना भी प्राप्त है ६ श्रपूज्यवाहण के चरणों में समर्पित हो उठा है। काव्य वडा ही सरस, भाव सौन्दर्य भाषा सम्यया से ओत प्रोत है—

---

१ "रावल मालि सुपाट धरि, कुंवर श्री हरिराज।
विरचिएह सिण गारसि, तास केतूहल काज॥
संवत् सोल सोलोतरह, जैसलमेर मझारि।
फागुण सुदि तेरसि दिवसि, विरचि आदित्य वार॥
गाथा साढी पन्चणइः ए चउपइ प्रमाण।"

माधवानल चौपई, प्रशस्ति संग्रह, जयपुर, पृ० २४७–२४८

२ संवत् सोलसय सत्तरोत्तरई, आपा त्रीजि वार सुरगुरनई।
मारन ढोलानी चौपई, जैन गूर्जर कविओं, भाग १, पृ० २१३

३ डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने यही माना है–हिन्दी साहित्य का आदिकाल, विहार राष्ट्रभापा परिपद्, पटना, १९५२, ई०, पृ० ९७

४ परंपरा, श्री नाहटाजी का लेख, राजस्थानी साहित्य का मध्यकाल, पृ० ०५

५ प्रकाशित, ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, संपा० श्री अगरचंद नाहटा
राजस्थान में हिन्दी के हस्त० ग्रंथों की खोज, ४, पृ० १०५

"सदा गुरु ध्यान स्नान लहरि शीतल वहई रे।
कीर्ति सुजस विसाल सकल जग मह महइ रे।
साते क्षेत्र सुडाम सुधर्मह नीपजइ रे।
श्री गुरु पाय प्रसाद सदा सुख संपजइ रे॥६४॥"

"गौडी पार्श्वनाथ स्तवनम्" भी कवि की हिन्दी रचना है। १ प्रस्तुत स्तवन का मुख्य विषय भक्ति है। इसमें २३ पद्य हैं। २
नवकार छन्द की प्रति अहमदाबाद के गुलाव विजयजी के भण्डार में सुरक्षित है।३ इसमें १७ पद्य हैं तथा पंच परमेष्ठी की वंदना से संबंधित है।

स्थूलभद्र छत्तीसी :

इस कृति में कवि ने रचनाकाल नहीं दिया है। इसमें कुल ३७ पद्य हैं। यह कृति बीकानेर की अनूप संस्कृत लायब्रेरी के एक गुटके के पृष्ठ ९१–९८ पर अंकित है।४ आचार्य स्थूलभद्र की भक्ति इस काव्य का मुख्य विषय है। भाषा बडी भी सरल एवं भावानुकूल है। भावों में सजीवता है, स्वाभाविकता है–

"वैसा वाइड सुणी भयक लज्जित मुणि,
सोच करि सुगुरन कइ पास आवई।
चूक अव मोहि परी चरण तदि सिर धरि,
आप अपराध आपई खभावइ ॥३७॥"

साधुकीर्ति : (सं० १६१८–१६४६)

ये सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ के कवियों में से एक हैं। साधुकीर्ति खरतरगच्छीय मति वर्धन-मेरनतिलक-दयाकलश-अमरमाणिक्य के शिष्य थे।५ ये ओसवाल वंसीय सचिती गोत्र के शाह वस्तुपालजी की पत्नी खेमलदेवी के पुत्र थे। इसी नाम के एक और कवि पंद्रहवीं शती में हो गये हैं, जो वृद्रतपगच्छ के जिनदत्तसूरि के शिष्य थे।६ विवक्षित साधुकीर्ति खरतरगच्छ के साधु थे और इनका संबंध जैसलमेर वृहद् ज्ञान

१ इसकी एक प्रति, वडौदा के श्री शान्तिविजयजी के भण्डार में सुरक्षित हैं। इसकी दूसरी प्रति, जयपुर के पं० लूणकरजी के मन्दिर में, गुटका नं० ६६ में लिखित हैं।
२ जैन-गूर्जर कविओं, भाग १, पृ० २१६
३ जैन गूर्जर कविओं, भाग १, पृ० २१६
४ राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, चतुर्थ भाग, अगरचंद नाहटा संपादित, साहित्य संस्थान, उदयपुर, १९५४ ई०, पृ० १०५
५ जैन गूर्जर कविओं, भाग १, पृ० २१९
६ वही, पृ० ३४

भंडार के संस्थापक जिनभद्रसूरि की परम्परा से रहा है। ये अच्छे विद्वान थे। संस्कृत के तो प्रकाण्ड पंडित थे जिन्होंने सं० १६२५ मिगसर वदी १२ को आगरे में अकबर की सभा में तपागच्छीय बुद्धिसागर से शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त की थी। "विशेष नाममाला", "संघपट्टक वृत्ति", "भक्तामर अवचूरी" आदि इनकी संस्कृत रचनाएँ हैं। सं० १६२२ वैशाख शुक्ल १५ को जिनचन्द्र सूरि ने इनको उपाध्य पद प्रदान किया था। कवि ने स्थान-स्थान पर जिनचन्द्रसूरि का स्मरण किया है। सं० १६४६ की माघ कृष्णा चतुर्दशी को जालोर में अनशन कर ये स्वर्ग सिधारे।

इनके जन्म और जीवनवृत्त के संबंध में जानकारी का अभाव है। परन्तु इनकी कुछ रचनाएँ गुजरात में–खास कर पाठण में रची हुए प्राप्त हैं। इससे स्पष्ट है कवि का गुजरात से घनिष्ठ संबंध रहा है। इनकी हिन्दी, राजस्थानी रचनाओं में गुजराती के अत्यधिक प्रभाव को देखते हुए संभव है कवि गुजरात के ही निवासी रहे हों। श्री मो० द० देसाई ने इनकी १६ रचनाओं का उल्लेख किया है। १

साधुकीर्ति भक्त कवि थे। विशेषतः स्तुति, स्तोत्र, स्तवन और पदों की रचना की है। कुछ हिन्दी रचनाओं का परिचय यहाँ दिया जाता है।

'सत्तरभेदी पूजा प्रकरण' : कृति की रचना अणहिलपुर पाठण में सं० १६१८ श्रावण शुक्ल ५ को हुई थी। २ इसकी दूसरी प्रति जयपुर के ठोलियो के दिगम्बर जैन मन्दिर में गुटका नं० ३३ में निबद्ध है।

"चूनडी" की एक प्रति सं० १६४८ की लिखित जयपुर के ठोलियों के जैन मन्दिर में गुटका नं० १०२ में संकलित है। "राग माला" की प्रति भी उपर्युक्त मन्दिर के गुटके नं० ३३ में निबद्ध है। "प्रभाती" राग देशाख में रचित यह एक लघु रचना है।३

"शत्रुंजय स्तवन"–सत्रहवीं शताब्दी के प्रथम चरण की रचित कृति है। ४ इसका आदि-अन्त देखिए–

> "पय प्रणमी रे, जिणवरना शुभ भाव लई।
> पुंडरगिरि रे' गाइसु गुरन सुपसाउन लई॥"

---

१ जैन गूर्जर कविओ, भाग १, पृ० २१६–२२१ : भाग ३, खण्ड १, पृ० ६६६–७००, खंड–२, पृ० १४८०

२ अणहलपुर शांति मन्त्र सुखदाई, सो प्रभु नवनिधि सिधि दाजै।
संवत् सोल अठार श्रावण सुदि। पंचमि दिवसि समाजइ ॥३॥
जैन गूर्जर कविओ, भाग, पृ० २२०

३ जैन-गूर्जर कविओ, भाग १, पृ० २२१

४ वही

इम करीय पूजाय धाजो गहि संघ पूजा आदरई,
साहम्मिवच्छल करई भवियां, भव समुद्र लीला तरई ।
संपदा सोहग तेह मानव, रिद्धि वृद्धि वहु लहई,
अमर माणिक सीरन सुपरइ, साधुकीर्ति सुम लहई ॥"

'नमि राजर्षि चौपई'—इसकी रचना सं० १६३६ माघ शुक्ल ५ के दिन नागोर में हुई थी । १ इनकी भाषा गुजराती मिश्रित हिन्दी है ।

सुमतिकीर्ति : (सं० १६२० आसपास)

सत्रहवीं शताब्दी में "सुमतिकीर्ति" नाम के दो संत हुए और दोनों ही अपने समय के विद्वान थे । इनमें से एक भट्टारक ज्ञानभूषण के शिष्य थे तथा दूसरे भट्टारक शुभचंद्र के । आलोच्य" सुमतिकीर्ति" प्रथम सुमतिकीर्ति है जो मूलसंघ में स्थित नन्दिसंघ बलात्कारगण एवं सरस्वतीगच्छ के ज्ञानभूषणसूरि के शिष्य थे । २ इन्होंने अपनी" "प्राकृत पंचसंग्रह" टीका संवत् १६२० भाद्रपद शुक्ला दशमी को ईडर के ऋषदेव मन्दिर में पूर्ण की थी । जिसका संशोधन ज्ञानभूषण ने ही किया था । ३

सुमतिकीर्ति अपने समय के एक विद्वान संत थे और साहित्य-साधना ही इनका लक्ष्य था । संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी एवं राजस्थानी के अच्छे विद्वान थे । इनका अधिकांश समय साहित्य साधना में ही व्यतीत होता था । इनकी निम्न रचनाएँ उपलब्ध हैं –

(१) धर्म परीक्षा रास, (२) जिनवर स्वामी वीनती, (३) जिह्वादंत विवाद, (४) वसंत विद्या-विलास, (५) पद(काल भवे तो जीव बहूँ परिभमता देहल्यो मानव भव साधो रे भाई ।), तथा (६) शीतलनाथ गीत ।

धर्म परीक्षा रास :

इसकी एक प्रति अग्रवाल दिगम्बर जैन मन्दिर, उदयपुर में सुरक्षित है । यह एक हिन्दी रचना है जिसका उल्लेख पं० परमानंदजी ने अपने प्रशस्ति संग्रह की भूमिका में किया है । ४ इस ग्रंथ की रचना हंसोट नगर (गुजरात) में संवत् १६२५ में हुई । इसका अन्तिम छंद इस बात का प्रमाण है ।

---

१ वही, भाग ३, पृ० ६६९
२ राजस्थान के जैन संत-व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल, पृ०

३ पं० परमानन्दजी द्वारा सम्पादित, "प्रशस्ति संग्रह", पृ७ ७५
४ वही, पृ० ७४

"पंडित हेमे प्रेरया घणु वणाय गने वीरदास ।
हासोट नगर पूरो हुवो, धर्म परीक्षा रास ।।"
संवत् सोल पंचवीसमे, मार्गसिर सुदि वीज वार ।
रास रमडो रलियामणो, पूर्ण किधो छे सार ।।"

"जिनवर स्वामी वीनती" २३ छंदों में रचित एक स्तवन है। रचना साधारण कोटी की है। "जिह्वादन्त विवाद" ११ छंदों में रचित एक लघु रचना है। इसमें कवि ने जिह्वा और दांत के बीज के विवाद का सरल भापा में वर्णन किया है। "वसंत विलास गीत" की एक प्रति आमेर शास्त्र भण्डार के एक गुटके में निवद्ध है। २२ छंदों की इस रचना में कवि ने नेमिनाथ राजुल के विचाह-प्रसंग को लेकर सुन्दर एवं सरल अभिव्यक्ति की है। इस गीत में वसंतकालीन नैसर्गिक सुपमा का भी बड़ा विस्तृत वर्णन हुआ है। वसंत विलास गीत साधारणतः अच्छी रचना है।

कवि की अन्य रचनाएं लघु हैं। गीत, पद एवं संवाद रूप में ये लघु रचनाएं काव्यत्व से पूर्ण हैं।

ये गुजरात और राजस्थान की अनपढ़ और मिथ्याडम्बरों की विपाक्त प्रवृत्तियों में फंसी जनता में अपनी साहित्य साधना एवं आत्मसाधना द्वारा चेतना जगाने का निरन्तर कार्य करते रहे। अतः इनकी भाषा सर्वत्र गुजराती मिश्रित हिन्दी है।

वीरचन्द्र : (१७ वीं शती प्रथम चरण)

भट्टारकीय वलात्कार गण शाखा के संस्थापक भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ने जव सूरत मे भट्टारक गद्दी की स्थापना की, तव भट्टारक सकलकीर्ति का राजस्थान एवं गुजरात में विशेप प्रभाव था। इन्हीं भ० देवेन्द्रकीर्ति की परंपरा में भ० लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य वीरचन्द्र हुए, जो अपने गुरु लक्ष्मीचन्द्र की मृत्यु के पश्चात् भट्टारक वने थे। इनका सम्वन्ध भी विशेपतः सूरतगद्दी से था। १ लक्ष्मीचन्द्र सम्वत् १५८२ तक भट्टारक पद पर रहे, अतः इनका समय १७ वीं शती का प्रथम चरण ही होना चाहिए।

वीरचन्द्र व्याकरण एवं न्यायशास्त्र के प्रकाण्ड पंडित थे। साथ ही छन्द, अलंकार एवं संगीत आदि शास्त्रों में भी पूर्ण निपुण थे। ये पूर्ण साधुजीवन यापन करते हुए संयम एवं साधुता का उपदेश देते रहे।

संत वीरचन्द्र संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी एवं गुजराजी भापा के अधिकारी विद्वान थे। अव तक की खोजों में इनकी आठ रचनाएं उपलब्ध हैं जो इन्हें उत्तम कोटि के

१ राजस्थाद के जैन संत – व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ० १०६।

मर्जक सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। यहाँ इनकी प्रमुख रचनाओं का परिचय दिया जा रहा है।

नेमीश्वर विलास फाग :

२२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ के जीवन का एक प्रसंग लेकर १३७ पदों में रचित कवि का यह एक खण्ड-काव्य है। इसकी एक प्रति उदयपुर के खण्डेलवाल दिगम्बर जैन मन्दिर के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है। १ कृति में रचनाकाल का कहीं उल्लेख नहीं है।

फाग बड़ा ही सरस, सुन्दर एवं काव्यत्व पूर्ण है। राजुल की विरह दशा का वर्णन अत्यंत हृदय द्रावक बन पड़ा है—

"कनकमि कंकण मोडती, तोडती मिणिमिहार।
लूंचती केश-कलाप, विलाप करि अनिवार॥ ७४॥
नयणि नीर काजलि गलि, टलवलि भामिनी भूर।
किम करुं कहि रे साहेलडी, विहि नडि गयो मझनाह॥७१॥

अब यह कृति "राजस्थान के जैन संत-व्यक्तित्व एवं कृतित्व" में प्रकाशित है। २

जम्बू स्वामी वेलि :

इसकी एक जीर्ण प्रति उदयपुर के खण्डेलवाल दिगम्बर जैनमन्दिर के शास्त्र भंडार से प्राप्त है। ३ कवि की इस दूसरी रचना में जम्बूस्वामी का चरित्र वर्णित है। रचना साधारण है। वेलि की भाषा गुजराती मिश्रित राजस्थानी है। डिंगल का प्रभाव भी स्पष्ट है।

"जिन आंतरा" ४ कवि की यह लघु रचना साधारण कोटि की है। "सीमंधर स्वामी गीत" में कवि ने सीमन्धर स्वामी का स्तवन किया हैं। "संबोध सत्ताणु" दोहा छन्द में रचित ५७ पद्य की यह एक उपदेशात्मक कृति है। इसकी प्रति भी उदयपुर के उपर्युक्त संग्रह में संकलित है। इन शिक्षाप्रद दोहों में कवि के सुन्दर भावों का निर्वाह हुआ है—

---

१ राजस्थान के जैन संत — व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ० १०७

२ वही, पृ० २६६-२७०

३ वही, पृ० १०९

४ राजस्थान के जैन संत-व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ० ११०

"नीचनी संगति परिहरो, धारो उत्तम आचार।
दुर्ल्लभ भव मानव तणो, जीव तूं आलिमहार॥ ४०॥"

"नेमिनाथ रास"—इसमें नेमिनाथ और राजुल का सुप्रसिद्ध कथानक है। इसकी रचना संवत् १६७३ में हुई। १ रचना साधारण है। "चित्तनिरोध कथा" पद्यों की यह उपदेशात्मक लघु कृति है। इसमें चित्तनिरोध का उपदेश दिया है। इसकी प्रति भी उदयपुर वाले गुटके में संकलित है। "बाहुबलि वेलि" विभिन्न छन्दों में रचित कवि की एक लघु कृति है। इसकी भी उदयपुर से प्राप्त एक प्रति का उल्लेख डॉ० कासलीवाल जी ने किया है। २

भ० वीरचन्द्र की ये कृतियां उनकी प्रतिभा, विद्वता एवं साहित्यप्रेम की ज्वलंत प्रमाण हैं।

जयवंतसूरि : (१७ वीं शताब्दी प्र म चरण)

थे तपागच्छीय उपाध्याय विनयमण्डन के शिष्य थे। ३ सम्वत् १५८७ वैशाख कृष्णा ६ रविवार को शत्रुंजय पर ऋषभनाथ तथा पुण्डरीक के मूर्ति-प्रतिष्ठापन समारोह में आचार्य विनयमण्डन के साथ ये भी उपस्थित थे। ४ इनका दूसरा नाम गुण सौभाग्य भी था। ५ श्री देसाईजी ने इनकी कृतियों का परिचय दिया है। ६ इनकी "नेमिराजुल बार मास वेल प्रबन्ध", "सीमन्धर चन्द्राउला" तथा "स्थूलिभद्र मोहन-वेलि" आदि रचनाएं सरल राजस्थानी मिश्रित हिन्दी में हैं।

"नेमि राजुल बार मास वेल प्रबन्ध" ७७ छन्दों में परम्परागत पद्धति पर राजमती के विरह-वर्णन पर आधारित बारहमासा है। "सीमन्धर चन्द्राउला" (भक्तिकाव्य), "स्थूलिभद्र मोहन वेलि" (स्थूलिभद्र-कोश्या पर आवृत स्थानक हैं

---

१ संवत सोलताहोतरि, श्रावण सुदि गुरुवार।
दशमी को दिन रूपडो, रास रच्यो मनोहर॥ १७॥
उदयपुर के अग्रवाल दि० जैन मन्दिर के शास्त्र भण्डार वाली प्रति से।

२ राजस्थान के जैन संत - व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल पृ० ११२

३ श्री विनयमण्डन उवझाय अनोपम तपगछ गयणेचन्द्र।
तसु सीस जयवंत सूरिवर, वाणी सुणंता हुई आणंद॥ ७॥

४ मुनि जिन विजय कृत शत्रुन्जय तीर्थोद्धारा की प्रस्तावना

५ गुण सोभाग सोहामणि वाणी थउ रंगरेलि

६ जैन गूर्जर कविओ, भाग १, पृ० १६३-६८, तथा भाग ३ खन्ड–१, पृ० ६६६-७२

जिसमें - वासवदत्ता के आदर्श पर प्रेम-निरुपण है। लेखन-मार्गशीर्ष सुदी १० गुरुवार' १६४२) १ इनकी प्रमुख रचनाएं हैं।

स्थूलिभद्र मोहन वेलि—इसमें स्थूलिभद्र एवं कोश्या का कथानक वर्णित है। भाषादि की दृष्टि से "स्थूलिभद्र मोहन वेलि" से कुछ पंक्तियां यहां उद्धृत हैं—

"मन का दुख सुख कहन कुं – इकहि न जु आधार।
हृदय तलाव रुं दुख भर्‌यु, तूं कुद्दइ बिन धार ॥५६॥
इकतिइं सब जग वेदना, इक तिइं बिछुरन पीर।
तोह समान न होत सखी, गोपद सागर नीर ॥६५॥"

श्रृङ्गार के वियोग का बड़ा सुन्दर वर्णन हुआ। प्रकृति वर्णन भी मनोरम है। भाषा अलंकृत, ललित एवं प्रवाह-युक्त है।

भट्टारक सकल भूषण : (१७ वीं शती प्रथम वं द्वितीय चरण)

ये भट्टारक शुभचंद्र (संवत् १५४०-१६१३) के शिष्य थे। संवत् १६२७ में रचित अपने संस्कृत ग्रंथ "उपदेशरत्नमाला" से यह स्पष्ट है कि ये भ० सुमतिकीर्ति के गुरु भ्राता थे। २ अपने गुरु शुभचन्द्र को अपने "पान्डवपुराण" (संवत् १६०८ रचनाकाल) तथा "करकन्डु चरित्र" (रचना सम्वत् १६११) की रचना से इन्होंने सहयोग दिया था। ३

इनकी हिन्दी रचनाओं का पता डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल जी को सर्वप्रथम आमेर शास्त्र भन्डार, जयपुर से मिला है। उन्होंने इनकी निम्न हिन्दी लघु रचनाओं का उल्लेख किया है। ४

(१) सुदर्शन गीत (सेठ सुदर्शन के चरित्र पर आधृत चरित्रप्रधान कथाकाव्य),
(२) नारी गीत (उपदेशप्रधान लघुकाव्य) तथा पद।

सकलभूषण की भाषा पर गुजराती का विशेष प्रभाव है। रचनाएं साधारणतः अच्छी हैं।

---

१ मागशिर सुदि दशमी गुरो, सम्वत् सोल बिताल।
जयवन्त थूलिभद्द गावतइं, दिन दिन मंगल माल ॥ २१५ ॥

२ तस्याभूच्च गुरुभ्राता नाम्ना सकलभूषणः।
सूरिर्जिनमते लीनमनाः संतोष पोषकः ॥ ८ ॥ "उपदेश रत्नमाला"

३ श्री मत्सकलभूषेण पुराणे पाण्डवे कृतं।
साहाय्यं येन तेना ऽत्र तदाकारिस्वसिद्धये ॥ ५६ ॥ "करकण्डु चरित्र"

४ राजस्थान के जैन संत - व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल, पृ० २०७

उदयराज-उदो : (सं॰ १६३१ - १६७६)

ये खरतरगच्छीय भावहर्ष के शिष्य भद्रसार के पुत्र तथा श्रावक-शिष्य थे। १ इनका जन्म सम्वत् १६३१ से हुआ था। २ "चन्दन मलयागिरि कथा के प्रणेता तथा कवि भद्रसार या भद्रसेन का सम्बन्ध गुजरात से रहा ही है. जिसका उल्लेख हो चुका है। उदयराज का भी सम्बन्ध गुजरात से अवश्य होना चाहिए। उनकी रचनाओं में प्रयुक्त कुछ गुजराती प्रयोग भी इस बात का प्रमाण है। श्री नाहटाजी ने भी इस बात को स्वीकारा है। ३ इनकी निम्न रचनाएं प्राप्त हैं- ४

(१) मगन छत्तीसी सं० १६६७, भांडावई। (२) गुण बावनी सं. १६७६ बबेरइ। (३) वैद्य विरहणी प्रबंध. (४) चौंविस जिन सवैये. तथा (५) ५०० दोहे।

इनके दोहे. कवित्त तथा बावनी विशेष प्रसिद्ध हैं।

मगन छत्तीसी :

(रचना सं० १६६७ फाल्गुन वदी १३ शुक्रवार को मांडावई नामक स्थान पर) ५ कवि का मानना है कि भगवान जिनेन्द्र की भक्ति और प्रीति सांसारिक सम्बन्धों और मानापमानों को दूर करने में पूर्ण समर्थ है।

"प्रीति आप परजले, प्रीति अवरां पर जालै।
प्रीति गोत्र गालवै, प्रीति सुधवंश विरालै ॥ आदि ॥"

इसका भाषा-प्रवाह और भाव-प्रौढता कवि की उन्नत काव्यशक्ति का परिचातक है।

गुण बावनी :

(रचना सं. १६७६ वैशाख सुदी १५ के दिन बबेरइ में हुई थी) ६ ५७ पद्यों के इस काव्य में पाखण्ड निराकरण और अध्यात्मसम्बन्धी कवि के विचार अभिव्यक्त हुए हैं। कृति के प्रारम्भ में ही "प्रणव अक्षर" रूप ब्रह्म को कवि ने नमन किया है-

---

१ जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खंड १, पृ० ९७५
२ राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, भाग २, पृ० १४२
३ उनका हस्तलिखित मेरे नाम एक पत्र।
४ परंपरा में "राजस्थानी साहित्य का मध्यकाल", अगरचन्द नाहटा, पृ० ८६
५ वदि फागुण शिवरात्रि, श्रवण शुक्रवार समूरत।
मांडावाह मंझारि, प्रभु जगमाल्ल पृथ्वी पति ॥ मगन छत्तीसी, पद्य ३७।
६ गुण बावनी, अन्तिम प्रशस्ति, पद्य ५६, नाहटा संग्रह से प्राप्त।

"उनंकाराय नमो अलख अवतार अपरंपर,
गहिन गुहिर गम्भीर प्रणव अख्यर परमेसर।"

बाह्याडम्बर की व्यर्थता और अन्तःकरण की विशुद्धता पर बल देता हुआ कवि कहता है–

"शिव शिव किद्यां किस्यूं, जीत ज्यों नहीं काम क्रोध छल,
काति कहनायां किस्यूं, जो नहीं मन मांझि निरमल।
जटा वधायां किसूं, जांम पाखण्ड न छंडयउ,
मस्तक मूड्यां किसूं, मन जी माहि न मूंडयउ।"
लूगडे किसूं मैले कीये, जो मन माहि मइलो रहइ,
घरबार तज्यां सीधउ किमूं. अणबूझां उदो कहइ ॥ ५३ ॥"

वैद्य विरहणी प्रबन्ध :

७८ दोहों की इसकी एक प्रति अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर में मौजूद है। इसमें भक्ति और शृङ्गार का उज्ज्वल समन्वय हुआ है।

चोविस जिन सवैया :

इसकी एक प्रति का उल्लेख श्री नाहटा जी ने किया है।[1] इस कृति मे तीर्थंकरों की भक्ति में २०० सवैयों की रचना की है।

उदैराज रा दूहा :

श्री नाहटाजी ने उदयराज के करीब ५०० दोहों का उल्लेख किया है।[2] इन्हीं में मे अधिकांश दोहों की एक प्रतिलिपि उन्हीं के भण्डार में प्राप्त है। उदयराज के नीति-विषयक दोहों विशेषतः राजस्थान में अत्यधिक लोकप्रिय रहे हैं। उदयराज के दोहों की एक प्रति "मनःप्रशंसा दोहा"[3] नाम से जयपुर के बड़े मन्दिर के गुटका नं० १२४ में निबद्ध है। इसमें मन को सम्बोधित कर कवि ने अनेक दोहों की रचना की है।

कवि की भाषा ब्रज व राजस्थानी के संस्पर्शों से युक्त है। कवि की प्रतिभा उच्च कोटि की नजर आती है।

---

१ राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, भाग ४, अगरचन्द नाहटा, उदयपुर, १९५४, पृ० १२२

२ परम्परा - राजस्थानी साहित्य का मध्यकाल, ले० अगरचन्द नाहटा, पृ० ८९

३ राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, भाग २, पृ० ३५-३६

कल्याण सागर सूरि : (सं० १६३३ - १७१८)

ये अंचलगच्छ के ६४ वे पट्टधर आचार्य थे। १ इनका जन्म लोलाडा ग्राम में सं० १६३३ में हुआ था। सं० १६४२ में दीक्षा ली। सं० १६४९ में अहमदाबाद में आचार्यपद प्राप्त हुआ और सम्वत् १६७० में पाटण में गच्छेशपद प्राप्त किया। सम्वत् १७१८ में भुज नगर में इनका स्वर्गवास हुआ। विस्तृत परिचय श्री देसाई ने दिया है। २

कल्याण सागरसूरि कवि के साथ एक प्रतिष्ठित एवं प्रभावक आचार्य भी थे। इनकी दो कृतियां उपलब्ध है। प्रथम "अगडदतरास" गुजराती कृति है। जैन गुजराती कवियों का अगडदत प्रिय विषय रहा है। दूसरी कृति "वीसी" गुजरातीमिश्रित हिन्दी रचना है।

वीसी : (वीस विहरमान स्तवन) इसमें जिनेन्द्र की स्तुति, में रचित २० स्तवन हैं। भक्ति से पूर्ण इस रचना की एक प्रति सम्वत् १७१७ में भुजनगर में लिखी गई थी। ३ इसमें रचना सम्वत् नहीं दिया गया है। विरहातुर भक्त की पुकार द्रष्टव्य है–

"श्री सीमन्धर सांभलउ, एक मोरी अरदास,
सुगुण सोहावां तुम विना, रचणी होई छमासो।"

अभयचन्द्र : (सं० १६४० - १७२१)

ये भ० लक्ष्मीचन्द्र की परम्परा के भ० कुमुदचन्द्र के शिष्य थे। अभयचन्द्र ख्याति प्राप्त भट्टारक थे। इनका जन्म सं० १६४ के लगभग "हूंवडवंश" में हुआ था। २ इनके पिता का नाम "श्रीपाल" तथा माता का नाम "कोडमदे" था। बड़ी छोटी उम्र में ही इन्होंने पंच महाव्रतों का पालन आरम्भ कर दिया था। ५

"अभयचन्द्र" कुमुदचन्द्र के प्रिय शिष्यों में से थे जो उनकी मृत्यु के पश्चात् भट्टारक गद्दी पर बैठे। भट्टारक बनने के पश्चात् इन्होंने राजस्थान एवं गुजरात में

---

१ जैन गूर्जर कविओ, भाग १, पृ० ४८९
२ जैन गूर्जर कविओ, भाग २, पृ० ७७५
३ जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड १, पृ० ६७०
४ राजस्थान के जैन सन्त - व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ० १४८
५ हूंबड वंशे श्रीपाल साह तात, जनम्यो रूडी रतन कोडमदे मात।
लघु पणे लीधो महाव्रत भार, मनवश करी जीत्यो दुर्द्धर मार॥
– धर्मसागर कृत एक गीत।

खूब विहार किया और जन-साधारण में धार्मिक जाग्रति उत्पन्न की। डॉ० कासलीवाल जी के उल्लेख के अनुसार सम्वत् १६८५ की फाल्गुन सुदी ११ सोमवार के दिन बारडोली नगर में इनका पट्टाभिषेक हुआ और इस पर ये सम्वत् १७२१ तक बने रहे। १

इन्होंने संस्कृत और प्राकृत के साथ न्याय-शास्त्र, अलंकारशास्त्र तथा नाटकों का गहन अध्ययन किया था। २ इनके अनेक शिष्य थे जो इन्हीं के साथ सर्वसामान्य में आध्यात्मिक चेतना जगाया करते थे। इन शिष्यों ने भ० अभयचन्द्र की प्रशंसा में अनेक गीतों की रचना की है। इनके प्रमुख शिष्यों में दामोदर, धर्मसागर, गणेश, देवजी आदि उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार इनके विषय में अनेक प्रशंसात्मक गीतों में कवि के व्यक्तित्व, प्रतिभा एवं लोकप्रियता के साथ साहित्य-प्रेम की जानकारी मिल जाती है। कवि की रचनाओं में लघुगीत अधिक हैं। अबतक की इनकी १० कृतियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। ३ इनमें प्रमुख कृतियों का परिचय दिया जा रहा है।

"वासुपूज्य जी धमाल" – कवि की लघु रचना है, जिसमें वासुपूज्य तीर्थंकर का मानवरूप में निरूपण है। "चन्दागीत" ४ – कालिदास के मेघदूत की शैली पर रचित एक लघु विरह काव्य है। इसमें राजुल चन्द्रमा से अपने विरह का वर्णन करती है और चन्द्रमा के माध्यम से अपना संदेश नेमिनाथ के पास भेजती है—

"विनय करी राजुल कहे, चन्दा वीनतडी अब धारो रे।
उज्जलगिरि जई वीनवो, चन्दा जिहां छे प्राण आधार रे॥ १॥
गमने गमन ताहरुं रूवडुं, चन्दा अमीय वरषे अनन्त रे।
पर उपगारी तू भलो, चन्दा वलि वलि वीनवु संत रे॥ २॥"

"सूखडी"—३७ पद्यों की इस लघु रचना में तीर्थंकर शान्तिनाथ के जामोत्सव पर बनाये गये विविध व्यंजनों, शाकों तथा सूखे मेवों का वर्णन कवि ने किया है।

---

१ राजस्थान के जैन संत - व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ० १४८

२ तर्क नाटक आगम अलंकार, अनेक शास्त्र भर्या मनोहर।
भट्टारक पद ए हने छाजे, जेहवे यश जग मां वास गाजे॥
—धर्म सागर कृत एक गीत।

३ राजस्थान के जैन संत—व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ० १५१

४ प्रकाशित, वही, पृ० २७५

कवि की अत्यन्त लघु कृतियाँ अन्य हैं जो साधारण कोटि की है। अभयचन्द्र की कृतियों का महत्व भाषा के अध्ययन की दृष्टि से अधिक है। कवि की भाषा गुजराती मिश्रित राजस्थानी है। अभयचन्द्र की समस्त रचनाएं काव्यत्व, शैली एवं भाषा की दृष्टि से साधारण ही हैं।

समयसुन्दर महोपाध्याय : (सं० १६४१ - १७००)

अन्तः साक्ष्य के आधार पर ज्ञात होता है कि कवि समयसुन्दर जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के बृहद् खरतरगच्छ में अवतरित हुए थे तथा सकलचन्द्रमणि के शिष्य थे। १ राजस्थानी व गुजराती साहित्य के सब से बड़े गीतकार, व्याकरण, अलंकार, छन्द, ज्योतिष तथा जैन साहित्य आदि के प्रकाण्ड पण्डित कवि समयसुन्दर का जन्म मारवाड के साचौर (सत्यपुर) गांव की पोरवाल जाति में हुआ था। पिता का नाम रूपसी और माता का नाम लीलादे था। २ इनका जन्म १६२० सम्वत् में अनुमानित है। ३ वादी हर्षनन्दन द्वारा रचित "समयसुन्दर गीत" में वर्णित" नवयौवन भर संयम सग रह्यो जी" के आधार पर यह अनुमान लगाया गया कि इन्होंने तरुणावस्था में ही संन्यास ग्रहण कर लिया था। इनको दीक्षित करने के कुछ वर्षों के पश्चात् ही सकलचन्द्र का देहावसान हो जाने के कारण आपका विद्याध्ययन वाचक महिमराज और महोपाध्याय समयराज के सान्निध्य में हुआ। अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और असाधारण प्रतिभा के बल पर आप "गण" और तदुपरान्त महोपाध्याय के पद पर पहुँचे थे। इनके ४२ शिष्यों में से इनके अन्तिम समय में किसी ने भी साथ नहीं दिया जिसका इन्हें अन्त तक दुःख बना रहा फिर भी ये भाग्य को दोष दे कर अपने को सान्त्वना देते रहे। कवि की कृतियों व रचना-वर्षों को देखते हुए यह कहना उचित ही होगा कि इन्होंने अपना अन्तिम समय अहमदाबाद (गुजरात) में ही रह कर बिताया और सम्वत् १७०२ चैत्र शुक्ल १३ को अपनी इहलीला समाप्त की। ४

कवि समयसुन्दर ने साठ वर्ष तक निरन्तर साहित्य-साधना कर भारतीय वांगमय को समृद्ध किया। इनकी सैकड़ों कृतियों को ध्यान में रख कर ही शायद

---

१ सम्वत् १६४९ में रचित "अर्थरत्नावली वृत्ति" सहित "अष्टलक्षी" की प्रशस्ति, पीटरसन की चतुर्थ रिपोर्ट न० ११, पृ० ६४

२ "मातु "लीलादे", "रूपसी" जनमिया एहवा गुरु अवदातो जी।" देवीदास कृत "समयसुन्दर गीत"

३ सं० अगरचन्द नाहटा, सीताराम चौपाई, भूमिका, पृ० ३४

४ राजसोम, महोपाध्याय समयसुन्दरजी गीतम्।

यह कहा गया था। "समयसुन्दरना गीतडा, भीतां परना चीतरा या कुम्भे राणाना भींतढा"। इनकी लघु कृतियां बीकानेर से प्रकाशित "समयसुन्दर-कृति-कुसुमांजलि" में समाविष्ट हैं। विभिन्न विद्वानों के द्वारा इनकी अनेक कृतियों का उल्लेख किया गया है। इनमें से ज्ञात कृतियों के आधार पर यहां कवि की काव्य-साधना पर प्रकाश डालने का यत्न किया गया है।

कवि ने देशी भाषाओं में काव्य-रचना करने का आरम्भ "स्थूलिभद्ररास" से किया। इस प्रथम कृति में ही कवि ने अपनी काव्य-कला और प्रतिभा का सुन्दर दर्शन कराया है। कवि का "वस्तुपाल तेजपाल रास" ऐतिहासिह एवं सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। किन्तु कवि की सर्वश्रेष्ठ कृति "सीताराम चौपाई" है जिसमें जैन परम्परानुसार रामकथा है। इस बृहत्काव्य में ३७०० श्लोक हैं। इसके नायक स्वयं राम हैं और इसका उद्देश्य है रामगुण-गान। छंदों की विविधता, रसों का पूर्ण परिपाक, सम्बन्ध सूत्रात्मकता को देखते हुए इसे प्रबन्ध काव्यों की कोटि में सहज ही समाप्टि किया जा सकता है। इसमें परम्परागत शैली पर शृङ्गार व नखशिख-वर्णन तथा वियोग की अनेक अंतर्दशाओं के सुन्दर चित्र वर्तमान हैं। राम का विलाप और सीता के गुणों का प्रकाशन कितने सहज रूप में हुआ है—

"प्रिय भाषिणी, प्रीतम अनुरागिना, सघउ घणुं सुविनीत।
नाटक गीत विनोद सह मुझ, तुभन विणाभावइ चीत ।।
सयने रम्भा विलासगृह कामकाज, दासी माता अविहड नेह ।
मंत्रिवी बुद्धि निधान धरित्री क्षमानिधान, सकल कला गुण नेह ।।"

"सीताराम चौपई" का "सीता पर लोकापवाद" तथा "राम-लक्ष्मण-सम्वाद" और "नलदवदंती रास का करसम्वाद" — ये तीनों प्रसंग कवि की काव्य-कला एवं प्रतिमा के सुन्दर प्रमाण हैं। "चार प्रत्येक बुद्ध रास" और "मृगावती चरित्र" में आने वाले युद्ध तथा प्रतोक राग में रचित युद्धगीत समयसुन्दर की साहित्य को अमूल्य देन हैं।

रास साहित्य की भांति ही कवि का भक्ति-साहित्य भी महत्वपूर्ण है। इनमें कवि की उत्तम संवेदना तथा सर्वोच्च धर्म-भावना का प्रकाशन हुआ है। इनके द्वारा रचित धर्म, कर्म आदि छत्तीसियों में इनकी बहुश्रुतता एवं गहन ज्ञान के संकेत मिलते मिलते हैं। इस प्रकार इनके द्वारा रचित गीतों में लय-वैविध्य शब्दमाधुर्य, सुन्दर प्रास-योजना, अनेक लोकप्रिय ढालें, सरल तत्वज्ञान, उत्कट संवेदनशीलता आदि के दर्शन होते हैं हैं। इनमें भक्ति और शृङ्गार साथ-साथ चले हैं। १७ वीं शताब्दि का

"देवराजवच्छराज चउपई" ८४ पद्यों की रचना है। इसमें किसी राजा के पुत्र वच्छराज और देवराज की कथा है।

कुमुदचन्द्र : (सं० १६४५ - १६८७)

इनका जन्म गोपुर ग्राम में हुआ था। पिता का नाम सदाफल और माता का नाम पद्माबाई था। इनका कुल मोढवंश में विख्यात था। १ मोढ गुजराती वनिया होते थे। सम्भव है कुमुदचंद्र के पूर्वज गुजरात के निवासी हों और फिर राजस्थान के गोपुर ग्राम में आ बसे हों। उनकी हिन्दी रचनाओं पर राजस्थानी गुजराती का विशेष प्रभाव देखकर यह अनुमान दृढ़ होता है।

कुमुदचंद्र भट्टारक रत्नकीर्ति के शिष्य थे। ये बचपन से ही उदासीन और अध्ययनशील थे। युवावस्था से पूर्व ही इन्होंने संयम ले लिया था। अध्ययनशील मस्तिष्क के कारण इन्होंने शीघ्र ही व्याकरण, छंद, नाटक, न्याय आगम एवं अलंकार शास्त्र का गहरा अध्ययन कर लिया। घोम्मटसार आदि ग्रंथों का इन्होंने विशेष अध्ययन किया था। २ भट्टारक रत्नकीर्ति अपने शिष्य के गहन ज्ञान को देखकर मुग्ध हो गये। उन्होंने गुजरात के बारडोली नगर में एक नया पट्ट स्थापित किया। यहां जैनों के प्रमुख संत (भट्टारक) पद पर कुमुदचंद्र को सम्वत् वैशाख मास में अभिषिक्त कर दिया। ३ इस पद पर वे वि० सं० १६८७ तक प्रतिष्ठित रहे। ४ बारडोली गुजरात का प्राचीन नगर तथा अध्यात्म का केन्द्र रहा है। कुमुदचंद्र ने यहाँ के निवासियों में धार्मिक चेतना जाग्रत कर उन्हें सच्चरित्र, संयमी एवं त्यागमय जीवन की ओर प्रेरित किया।

---

१ मोढवंश शृङ्गार शिरोमणि, साह सदाफल तात रे।
जायो यतिवर जुग जयवंतो, पद्माबाई सोहात रे॥ —धर्मसागर कृत गीत।

२ अहनिशि छंद व्याकरण नाटिक भणे, न्याय आगम अलंकार।
वादी गज केसरी विरुद बास वहे, सरस्वती घच्छ सिणगार रे॥
- वही, धर्मसागर कृत गीत

३ सम्वत् सोल छपंने वैशाखे प्रगट पयोधर थाप्या रे।
रत्नकीर्ति गोर बारडोली वर सूर मंत्र शुभ आप्या रे॥
माई रे मनमोहन मुनिवर सरस्वती गच्छ सोहंत।
कुमुदचंद्र भट्टारक उदयो भवियण मन मोहंत रे॥
गणेश कवि कृत "गुरु स्तुति"।

४ वही

कवि का शिष्य परिवार भी बहुश्रुत एवं विद्वान् था। वैसे तो भट्टारकों में अनेक शिष्य हुआ करते थे जिनमें आचार्य, मुनि, ब्रह्मचारी, आर्यिका आदि होते थे। कवि की उपलब्ध रचनाओं में अभयचंद्र, ब्रह्मसागर, कर्मसागर, संयमसागर, जयसागर एवं गणेशसागर आदि शिष्यों का उल्लेख है जो हिन्दी संस्कृत के बड़े विद्वान तथा उत्तम कृतियों के सर्जक भी हैं। अभयचंद्र इनके पश्चात् भट्टारक बने।

कुमुदचंद्र की अब तक की प्राप्त रचनाओं में २८ रचनाएँ, प्रचुर स्फुट पद तथा विनतियां प्राप्त हैं। १

कवि की विशाल साहित्य सर्जना देखते हुए लगता है ये चिंतन, मनन एवं धर्मोपदेश के अतिरिक्त अपना पूरा समय साहित्य-सृजन में ही लगाते थे।

कवि की रचनाओं में राजस्थानी और गुजराती का अत्यधिक प्रभाव है। सरल हिन्दी में भी इनकी कितनी ही रचनाएँ मिलती हैं। प्रमुख रचनाओं में "नेमिनाथ बारहमासा", "नेमीश्वर गीत", "हिन्दोलना गीत", "वणजारा गीत", "दशधर्म गीत", "सप्तव्यसन गीत", "पार्श्वनाथ गीत", चिंतामणि पार्श्वनाथ गीत", आदि उल्लेखनीय है। इनके पद भी अनेक उपलब्ध हैं जो दि० जैन अ० क्षेत्र श्री महावीरजी, साहित्य शोध विभाग, जयपुर से प्रकाशित "हिन्दी पद संग्रह" में डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल के संपादकतत्व में प्रकाशित है।

नेमिनाथ के तोरणद्वार पर आकर पशुओं की पुकार सुन वैराग्य धारण करने की अद्भुत घटना से ये अत्यधिक प्रभावित थे। यही कारण है कि नेमि-राजुल प्रसंग को लेकर कवि ने अनेक रचनाएं की हैं। ऐसी रचनाओं में "नेमिनाथ बारहमासा", "नेमीश्वरगीत", "नेमिजिनगीत" आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

करता है। तदुपरांत उन्हें तत्काल केवलज्ञान प्राप्त होता है और मुक्ति को प्राप्त होते हैं। पूरा का पूरा खण्डकाव्य मनोहर, ललित शब्दों गुंथित है। पूरे काव्य में वीर और शांत रस का बड़ा सुन्दर नियोजन हुआ है। भाषा बड़ी सजीव और रसानुकूल है—

"चाल्या मल्ल आखडे बलीया, सुर नर किन्नर जोवा मलीया।
काछ्या काछ कशी कड तांणी, बोले बांगड बोली वाणी॥"

"आदिनाथ (ऋषभ) विवाहलो" भी कवि की एक महत्वपूर्ण कृति है। ११ ढालों वोलो इस छोटे खण्डकाव्य की रचना सं० १६७८ में घोघानगर में हुई थी। इस "विवाहलो" में ऋषभदेव की मां के १६ स्वप्न देखने से लेकर ऋषभ के विवाह तक का सुन्दर वर्णन है। अन्तिम ढाल में, जिसमें "विवाहला" शब्द सार्थक होता है, उनके वैराग्य धारण करने और मोक्ष प्राप्ति का उल्लेख है। इनके वर्णन में सहजता और भाषा में सौन्दर्य परिलक्षित हुए बिना नहीं रहता—

"दिन दिन रूपे दीपतो, कांइ बीजतणों जिमचंद रे।
सुर बालक साथे रमे, सहु सज्जन मनि आणंद रे॥
सुन्दर वचन सोहामणां, बोले बाठुअडो बाल रे।
रिम झिम बाजे घूघरी, पगे चाले बाल मराल रे॥"

जिनराजसूरि : (सं० १६४७ - ९९)

ये खरतरगच्छीय अकबर बादशाह प्रतिबोधक युगप्रधान विख्यात आचार्य जिनचंद्रसूरि के पट्टधर जिनसिंहसूरि के शिष्य तथा पट्टधर थे।[1] इनका जन्म वि० सं० १६४७ में हुआ था। इनके पिता का नाम धर्मसिंह और माता का नाम धारलदेवी था। सं० १६५६ मगसर सुदि ३ को बीकानेर में इन्होंने दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा नाम राजसमुद्र था।[2] सं० १६६० में इन्हें वाचक पद मिला। सं० १६७४ में ये आचार्य पद से विभूषित हुए।

ये बहुत बड़े विद्वान और समर्थ कवि थे। तर्क, व्याकरण, छंद, अलंकार कोश, काव्यादि के अच्छे जानकार थे। इन्होंने श्रीहर्ष के नैषधीय महाकाव्य पर "जिनराजि" नामक संस्कृत टीका रची है। इनके द्वारा रचित स्थानांग वृत्ति का उल्लेख भी मिलता हैं।[3] १९ वीं शताब्दी के समन्वयोगी प्रवर समालोचक तथा कवि

---

[1] जैन गूर्जर कविओ, भाग १, पृ० ५५३

[2] "जिनचंद जिनसिंह सूरि सीसें राजसमुद्रै संथुओ।" गुण स्थान बंध विज्ञप्ति स्तवन परम्परा – श्री नाहटाजी का लेख, राजस्थानी साहित्य का मध्यकाल, पृ० ८३

ज्ञानसार ने इनको अवव्य वचनी कहा है १ अर्थात् इनके वचनों में लोगों की अपार श्रद्धा थी । सं० १६६६ में अषाढ़ सुदि नवमी को पाठणा में इनका स्वर्गवास हुआ।

जिनराजसूरि अपने समय के एक अच्छे विद्वान एवं कवि थे। कवि की कुशाग्र बुद्धि एवं बाल्यावस्था के अध्ययन के सम्बन्ध में "श्रीसार" ने अपने रास में लिखा है—

"तेह कला कोई नहीं, शास्त्र नहीं वलि तेह ।
विद्या ते दीसइ नहीं, कुमर नइ नावह जेह ।। ३ ।।"

आदि—

इनकी उपलब्ध रचनाओं में सर्वप्रथम रचना सं० १६६५ की रचित "गुणस्थान विचारगर्भित पार्श्वनाथ स्तवन" है, जो जैन शास्त्र के कर्म सिद्धांत और आत्मोत्कर्ष की पद्धति से सम्बन्धित है। इनकी ६ कृतियां प्राप्त है। २

इनके द्वारा रचित "गुणधर्म रास", १६९६ तथा "चन्दराजा चौपाइ" का भी उल्लेख श्री चोकसी ने किया है। ३ श्री नाहटाजी ने "कयवन्ना रास" तथा "जैन रामयण" का राजस्थानी रूप आदि का उल्लेख किया है। ४

सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्युट, बीकानेर की ओर से श्री अगरचन्द नाहटा के सम्पादकत्व में कवि की प्रायः सभी महत्वपूर्ण कृतियों का संकलन "जिनराज-कृति-कुसुमांजलि" नाम से प्रकाशित हुआ है।

श्री नाहटाजी ने कवि की एक सब से बड़ी और महत्वपूर्ण रचना "नैवध-महाकाव्य" की ३६००० श्लोक परिमित वृहद्वृत्ती का उल्लेख भी किया है, जिसकी दो अपूर्ण प्रतियों में पहली हरिसागरसूरि ज्ञान भण्डार, लोहावर में तथा दूसरी औरियन्टल इंस्टीट्युत, पूना में है। एक पूर्ण प्रति जयपुर के एक जैनेतर विद्वान के संग्रह में महोपाध्याय विनयसागरजी के द्वारा देखे जाने का भी उल्लेख है। ५ अन्तिम प्रशस्तियों के अभाव में इनकी प्रतियों की रचना कब और कहां हुई इसका पता नहीं चला है। इन वृहद्वृति से कवि का काव्यशास्त्र में प्रकाण्ड पण्डित होना सिद्ध होता है।

---

१ जैन गूर्जर साहित्य रत्नो, भाग १, सूरत से प्रकाशित; पृ० ५६
२ जैन गूर्जर कविओ, भाग १, पृ० ५५३-६१ तथा भाग ३, खंड १, पृ० १०४७-४६
३ सतरमां शतकना पूर्वार्धनां जैनगूर्जर कविओ (पांडु लिपि) श्री बी० जै० चोकसी
४ परंपरा - श्री नाहटाजी का लेख, राजस्थानी साहित्य का मध्यकाल, पृ० ८३
५ जिनराजसूरि कृति कुसुमांजलि, भूमिका, पृ० घ। न।

"शालिभद्र रास" कवि की उल्लेखनीय साहित्य कृति है। यह आनन्द काव्य महोदधि मौक्तिक १ में प्रकाशित है। इसमें श्रेणिक राजा के समय में हुए शालिभद्र और धन्ना सेठ की ऋद्धि-सिद्धि और वैराग्यपूर्ण सुन्दर कथा गुंफित है, जो जैन साहित्य में अत्यधिक प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय है। कथा में सुपात्र दान की महिमा बताई गई है।

"गज सुकुमार रास" क्षमा धर्म की महिमा पर लिखी कृति है। इसमें बताया गया है कि जाति स्मरण ज्ञान होने से और अपने पूर्वभव की स्मृति आने से गजकुमार राज ऋद्धि का त्याग कर दीक्षा अंगीकार कर लेता है, और महामुनि बन जाता है।

सुकवि जिनराजसूरि की चौबीसी और बीसी मे तीर्थंकरों की भक्ति में गाये गीतों का संकलन है। इन भक्ति गीतों में कवि की चारित्रिक दृढ़ता, लघुता तथा भक्तहृदय के निश्छल उद्गार हैं। श्री ऋषभजिन स्तवन में कवि ने प्रभु के चरण-कमल तथा अपने मन-मधुकर का बड़ा ही सुन्दर रूपक खड़ा किया है। इसमें कवि बताता है कि जिसने प्रभु के गुणरूपी मधु का पान किया है वह भौंरा उड़ाने पर भी नहीं उड़ता। वह तो तीक्ष्ण कांटों वाले केतकी के पौधे के पास भी जाता है। चौबीसी का यह प्रथम स्तवन द्रष्टव्य है—

"मन मधुकर मोही रह्यउ, रिस्रभ चरण अरविंद रे।
उनडायउ ऊडइ नहीं, लीणउ गुण मकरन्द रे॥ १॥
रुपइ रूडे फूलडे, अलविन उनडी साइ रे।
तीखां ही केतकि तणा, कंटक आवइ दाइ रे॥ २॥
जेहनउ रंग न पालटइ, तिणसुं मिलियइ धाइ रे।
मंगन कीजइ तेह नउ, जे काम पडयां कुमिलाइ रे॥ ३॥"

कवि ने आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के स्तवन में बालक ऋषभ की सहज-[illegible] क्रीड़ाओं तथा माता मरुदेवी के मातृत्व का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन किया [illegible] जो सूर के बालवर्णन की याद दिलाता है—

"रोम रोम तनु हुलसइ रे, मूरति पर बलि जाउ रे।
कबही मोपइ आईयउ रे, हूं भी मात कहाऊं रे॥ ३॥
पगि घूघरडी घम घमइरे, ठमकि ठमकि धरइ पाउ रे।
बांह पकरि माता कहइ रे, गोदी खेलण आउ रे॥ ४॥
चिक्कारइ चिपटी दीयइरे, हुलरावइ उर लाय रे।
बोलइ बोल जु मनमनारे, दंतिआ दोइ दिखाइ रे॥ ५॥"

— (पृ० ३१)

कवि की विविध फुटकर रचनाओं में विरह, प्रकृति, भक्ति, वैराग्य तथा उपदेश के अनेक रंगी चित्र उतरे हैं। विरह वर्णन के प्रसंगों में प्रकृति का उद्दीपन रूप भी कवि ने बताया है।

कवि ने कथात्मक और स्तुतिपरक इन रचनाओं के साथ आध्यात्मिक उपदेश-परक पद, गीत, तथा छत्तीसियों की भी रचना की है जो "जिनराज कृति-कुसुमांजलि" में संकलित हैं। कवि ने इन स्फुट पदों में संसार की असारता, जीवन की क्षणभंगुरता तथा धर्म-प्रभावना के जो चित्र प्रस्तुत किये हैं उनमें संत कवियों का-सा बाह्य क्रिया-कांडों के प्रति विरोध है तो भक्त कवियो की तरह दीनता और लघुता का भाव है।

कवि ने अपनी शील बत्तीसी और कर्मबत्तीसी में शीलधर्म और कर्म की महिमा बताई है। शील का माहत्म्य वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

"सील रतन जतने करि राखउ, वरजउ विषय विकारजी।
सीलवन्त अविचल पद पामइ, विषई रूलइ संसार जी॥"
(पृ० ११२)

कवि की इन अध्यात्म रस की कृतियों में संसार की भौतिकता से ऊँचे उठाने की महान् शक्ति है, एक पावन प्रेरणा है। कवि खुलकर अपनी कमजोरियाँ बताता है, एक एक करके अपने अज्ञान का पर्दाफाश करता चला गया है पर कहीं भी हतोत्साह की हल्की रेखा भी नहीं आ पाई है। कवि जीव मात्र को उस अमर ज्योति के अनन्त-स्निग्ध प्रकाश से आलोकित करना चाहता है। कवि सरल भाव से आत्मीयता दिखाता हुआ जीव मात्र को इस मार्ग की ओर ले जाना चाहता है—

"मेरउ जीव परभव थई न उदई। – (पृ० ६६)"

रामायण की कथा भी कवि से अछूती नही है। रामायण सम्बन्धी संवादात्मक गेयशैली में बड़े ही मार्मिक और सीधी चोट करने वाले पद्य भी कवि ने लिखे हैं।

आचार्य जिनराजसूरि धर्मोपदेशक और कुशल कवि दोनों थे। उनकी भाषा में सादगी है, साहित्यिकता है, भावावेग है और अकृत्रिम अलंकरण भी है। उपमा, रूपक, तथा उत्प्रेक्षा का सहज प्रयोग, कहावतों व मुहावरों का प्रचलित रूप तथा विविध छन्द योजना भाषा की शक्तिमत्ता में सहायक है। भाषा बड़ी ही सरल, सरस, सुबोध तथा माधुर्यगुण और नाद-सौन्दर्य से युक्त है। विविध प्रकार की ढालों और राग-रागिनियों के सफल प्रयोग से काव्यवीणा के तार स्वतः झंनकृत हो उठे है।

वादिचन्द्र : (१६५१ - ५४)

श्री मो० द० देसाई ने इनको भट्टारक ज्ञानभूषण का शिष्य बताया है। १ वास्तव में थे मूलसंघ के भट्टारक ज्ञानभूषण के प्रशिष्य और प्रभाचन्द्र के शिष्य थे। इनकी गुरु परम्परा इस प्रकार स्वीकृति हैं– दिगम्बर मूलसंघ के विद्यानन्दि - मल्लिभूषण - लक्ष्मीचन्द्र - वीरचन्द्र - ज्ञानभूषण - प्रभाचन्द्र के शिष्य वादिचन्द्र। २ इनकी गद्दी गुजरात में कहीं पर थी। इनके जन्म तथा जीवनवृत्त का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। वादिचन्द्र एक उत्तम कोटि के साहित्य सर्जक थे। 'पार्श्वपुराण', 'ज्ञानसूर्योदय नाटक', 'पवनदूत' आदि संस्कृत ग्रंथों के साथ इन्होंने "यशोधर चरित्र" की भी रचा की जो अंकलेश्वर - रूच (गुजरात) के चिंतामणि प्राश्वर्वनाथ के मन्दिर में, मं० १६५७ में रची गई। ३

वादिचन्द्र की प्राप्त रचनाओं का यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

"श्रीपाल आख्यान" ४ - इस आख्यान की एक प्रति बम्बई के ऐलन पन्नालाल सरस्वती भवन में सुरक्षित है। इसकी रचना सं० १६५१ में हुई थी। ५ इस आख्यान के सम्बन्ध में श्री नाथूराम प्रेमी ने लिखा है कि यह एक गीतिकाव्य है और इसकी भाषा गुजराती मिश्रित हिन्दी है। ५

इस कृति में एक अपूर्व आकर्षण है। नव रसों का बड़ा सुन्दर परिपाक हुआ है। भाषा अत्यन्त सरल एवं प्रवाहयुक्त है। दोहे और चौपाइयों का प्रयोग विशेष है। विभिन्न रागों में सुनियोजित यह काव्य बड़ा ही सरस एवं भक्तिपूर्ण भावों की स्रोतस्विनी है।

---

१ जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड १, पृ० ८०३

२ नाथूराम प्रेमी कृत जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३८७, पादटिप्पणी

३ अंकलेश्वर सुग्रामे श्री चिन्तामणि मन्दिरे।
सप्त पंच रसाब्जां के वर्षे कारी सुशास्त्रकम् ॥

– यशोधर चरित्र की प्रशस्ति, ८१ वां पद्य प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, प्रस्तावना पृ० २४, पाद टिप्पणी ४ अ।

"भरत-बाहुबली छन्द" १ भरत और बाहुबली के प्रसिद्ध कथानक को लेकर रचित यह कवि का लघु काव्य है।

"आराधना गीत" - यह एक मुक्तक काव्य है। इसमें कुल २८ पद्य हैं। इसकी एक प्रति सादरापुर में पार्श्वनाथ चैत्यालय के सरस्वती भवन में धर्मभूषण के शिष्य ब्रह्म वाघजी की लिखी हुई सुरक्षित है। २ यह एक सुन्दर भक्ति काव्य है।

"अम्बिका कथा" - देवी अम्बिका की भक्ति से संबंधित यह कृति है। इसकी एक प्रति लखनऊ के श्री विजयसेन और यति रामपालजी के पास है। इसकी रचना सं० १६५१ में हुई थी। अब यह कथा प्रकाशित हो चुकी है। ३

"पाण्डव - पुराण" — इसकी रचना सं० १६५४ में नौघक में हुई थी। ४ इसकी एक प्रति जयपुर के तेरहपन्थी मन्दिर के संग्रह में सुरक्षित है।

भट्टारक महीचन्द्र : (सं० १६५१ के पश्चात)

ये भट्टारक वादिचन्द्र के शिष्य थे। ५ वादिचन्द्र अपने समय के एक समर्थ साहित्यकार थे। इनका समय सम्वत् १६५१ के आसपास का सिद्ध ही है। अतः भट्टारक महीचन्द्र का समय भी लगभग संवत् १६५१ के पश्चात् का ही ठहरना चाहिए। इनके संबंध में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं।

महीचन्द्र स्वयं भी समर्थ साहित्यकार थे। इनके पूर्व भट्टारक गुरुओं में वीरचन्द्र, ज्ञानभूषण, प्रभाचन्द्र, तथा वादिचन्द्र आदि राजस्थान के विशेषतः बागड़ प्रदेश तथा गुजरात के कुछ भागों में साहित्यिक एवं सांस्कृतिक जागरण का शंखनाद फूंकते रहे। भट्टारक महीचन्द्र का भी संबंध राजस्थान और गुजरात दोनों की ही

१ जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड १, पृ० ८०४ - ८०५

२ जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड १, पृ० ८०५

३ अगरचंद नाहटा. अम्बिका कथा, अनेकान्त, वर्ष १३, किरण ३-४

४ प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, दिल्ली, प्रस्तावना, पृ० १४, पादटिप्पणी ३

५ श्री मूलसंघे सरस्वती गच्छ जाणो, बलात्कार गण वखाणों।
श्री वादिचन्द्र मने आणों, श्री नेमीश्वर चरण नमेसूं ।।३२।।
तस पाटे मही चन्द्र गुरु थाप्यो,
देश विदेश जग बहु व्लाप्यो।
श्री नेमीश्वर चरण नमेसूं ।।३।।
"नेमिनाथ समवशरण विधि", उदयपुर के खन्डेलवाल मन्दिर के शास्त्र भंडार वाली प्रति।

गादियों में रहा होना चाहिए। इनकी रचनाओं में राजस्थानी और गुजराती प्रभाव भी इस बात का प्रमाण है।

अब तक की खोजों में इनकी तीन रचनाएं प्राप्त हुई हैं। १ आदित्य व्रत कथा, २ लवांकुश छप्पय, और ३ नेमिनाथ समवशरण विधि।

"आदित्यव्रत कथा" – इसमें २२ छंद है। रचना संवत् का उल्लेख नहीं है। "लवांकुश छप्पय" – छप्पय छन्द के ७० पद्यों में रचित यह कवि की बड़ी रचना है। इसकी एक प्रति श्री दिगम्बर जैन मन्दिर डूंगरपुर में, गुटका नं० ३५५ में निबद्ध है। इसे एक सुन्दर खण्डकाव्य कह सकते हैं। इसकी कथा का आधार लव और कुश की जीवन गाथा है। राम के लंका विजय और अयोध्या आगमन के पश्चात् के कथासूत्र को लेकर साहित्यिक वर्णन (इस काव्य में) हुआ है।

कृति में शांतरस का निर्वाह हुआ है फिर भी वीर रस के प्रसंग भी कम नहीं। वीर रस प्रधान डिंगल शैली का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"रण निसाण वजाय सकल सैन्या तव मेली।
चढ्यो दिवाजे करि कटक करि दश दिश भेली॥
हस्ति तुरंग मसूर भार करि शेषज शंको।
खडगादिक हथियार देखि रवि शशि पण कंप्यो॥
पृथ्वी आंदोलित थई छत्र चमर रवि छादयो।
पृथु राजा ने चरे कह्यो, ल्याव्र राम तवे आवयो॥१५॥

"रूंध्या के असवार हणी गय वरनि घंटा।
रथ की धाच कूचर हणी वली हयनी थरा॥
लव अंकुश युद्ध देख दशों दिशि नाठा जावे।
पृथुराजा वहु वढे तोहि पण जुगति न पावे॥
वज्र जंघ नृप देखतों बल साथे भागो यदा।
कुल सील हीन केनो जिते जिते पृथुरा पगे पड्यो तदा॥२०॥"

कृति काव्यत्वपूर्ण है। भाषा राजस्थानी डिंगल है। गुजराती शब्दों के प्रयोग भी प्राप्त हैं।

कवि की शेष रचनाओं में "नेमिनाथ समवशरण विधि" तथा "आदिनाथ विनति" कवि की लघु रचनाओं के संग्रह हैं। १

---

१ राजस्थान के जैन संत – व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ० १२-

संयम सागर : (सं० १६५६ आसपास)

बारडोली के संत भ० कुमुदचंद्र (सं० १६५६) के शिष्य थे। ये ब्रह्मचारी थे और स्वयं एक अच्छे कवि भी थे। ये अपने गुरु को साहित्य निर्माण में सहयोग देते रहते थे। अपने गुरु कुमुदचंद्र की प्रशंसा में इन्होंने अनेक गीत, स्तवन एवं पद लिखे हैं। उनका यह गीत एवं पद साहित्य ऐतिहासिक महत्व की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने संयम सागर की ७ रचनाओं का उल्लेख किया है। १ भाषाशैली की दृष्टि से रचनाएं साधारण हैं।

ब्रह्म गणेश : (सत्रहवीं शती द्वितीय - तृतीय चरण)

भ० रत्नकीर्ति (सम्वत् १६४३ - १५६६) भ० कुमुदचंद्र (संवत् १६५६) तथा भ० अभयचन्द्र (संवत् १६४० (जन्म) - १६८५ - १७२१ (भट्टारक पद) इन तीनों के ही प्रिय शिष्यों में से थे। इन भट्टारकों की प्रशंसा, स्तवन एवं परिचय के रूप में इन्होंने अनेक गीत लिखे हैं। डॉ कासलीवाल जी के उल्लेख के अनुसार इनके अबतक २० गीत प्राप्त हो चुके हैं। २ इन गीतों तथा स्तवनों में कवि हृदय बरस पड़ा है। भ० अभयचन्द्र के स्वागत गान में लिखा उनका एक गीत भाषा की दृष्टि से दृष्टव्य है—

"आजु भले आये जन दिन धन रयणी।
शिवया नन्दन वंदी रत तुम, कनक कुसुम वधावो मृग नयनी ॥ १ ॥
उज्जल गिरि पाय पूजी परमगुरु सकल संघ सहित संग सयनी।
मृदंग वजावते गावते गुनगनी, अभयचन्द्र पटधर आयो गज गयनी ॥ २ ॥
अब तुम आये भली करी, धरी धरी जय शब्द भविक सब कहेनी।
ज्यों चकोरीचन्द्र कुं इयत, कहत गणेश विशेषकर वचनी ॥ ३ ॥"

ब्रह्म अजित : (१७ वीं शती द्वितीय - तृतीय चरण)

ये भ० सुरेन्द्रकीर्ति के प्रशिष्य एवं विद्यानन्दी के शिष्य थे। ब्रह्म अजित संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। भट्टारक विद्यानन्दि बलात्कारगण, सूरत शाखा के के भट्टारक थे। ३ ब्रह्म अजित का मुख्य निवास भृगुकच्छपुर (भडौच) का नेमिनाथ चैत्यालय था। ब्रह्मचारी अवस्था में रहते हुए इन्होंने यहीं "हनुमच्चरित" की

---

१ वही, पृ० १९२

२ राजस्थान के जैन संत - व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल, पृ० १९२

३ भट्टारक सम्प्रदाय पत्र सं० १९४

रचना की। इस कृति में इनकी साहित्य निर्माण की कला स्पष्ट नजर आती है। १२ सर्ग का यह काव्य अत्यंत लोकप्रिय काव्य रहा है। इसकी एक प्रति आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर में सुरक्षित है।

इनकी हिन्दी रचना "हंसा गीत" १ प्राप्त है। इसका नाम "हंसा तिलक रास" अथवा "हंसा भावना" भी है। ३७ पद्यों में रचित यह एक लघु आध्यात्मिक तथा उपदेश प्रधान रचना है। एक अंश द्रष्टव्य है—

"ए वारइ विहि भावणइ जो भावइ दृढ़ चितु रे। हंसा।
श्री मूल संघि गछि देसीउए वोलइ ब्रह्म अजित रे॥ हंसा॥ ३६॥"

भाषा एवं शैली दोनों दृष्टियों से रचना अच्छी है। कृति में रचना सम्वत् का उल्लेख नहीं है। ब्रह्म अजित १७ वीं शताब्दि के संत कवि थे। २

महानन्द गणि: (सं॰ १६६१ आसपास)

ये तपागच्छ के अकबर बादशाह प्रतिबोधक प्रसिद्ध आचार्य हीरविजयसूरि की शिष्यपरम्परा में हुए विद्याहर्ष के शिष्य थे। ३ इनकी रचनाओं पर गुजराती का अत्यधिक प्रभाव देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि गुजराती ही इनकी मातृभाषा थी। संभवतः ये गुजराज के ही रहने वाले हों। इनके सम्बन्ध में विशेष कोई जानकारी नहीं मिलती। इनकी रचित एक कृति "अंजना सुन्दरी रास" ४ प्राप्त है जो रायपुर में वि० सं० १६६१ में रची गई थी। यह एक सुन्दर चरित्र कथा है जिस में हनुमान की मां अंजना का चरित्र वर्णित है। इसी कथानक को लेकर अनेक गूर्जर जैन कवियों ने काव्य रचनाएं की हैं। अंजना देवी पर अनेक आपत्तियां आती हैं पर वे भगवान जिनेन्द्र की भक्ति से विचलित नहीं होती। इनका सम्पूर्ण जीवन भक्तिमय था। अंजना के चरित्र की सब से बड़ी विशेषता यह थी कि उसने गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों का भी विधिवत पालन किया साथ ही वीतरागी प्रभु से प्रेम कर अलोक का भी समान रूप से निर्वाह किया। इनकी भाषा राजस्थानी-गुजराती मिश्रित हिन्दी है। विरह के एक मधुर पद द्वारा इसकी प्रतीति कराई जा सकती है—

---

१ राजस्थान के जैन संत - व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ० १७८-८०

२ वही, पृ० १६६

३ गणि महानन्द, अंजनासुन्दरी रास, जैन सिद्धान्त-भवन आरा की हस्तलिखित प्रति।

४ जैन सिद्धान्त - भवन, आरा में इसकी हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है। इसमें कुल २२ पन्ने हैं।

"मधुकर करइ गुंजारव मार विकार वहंति ।
कोयल करइ पट हूकटा टूकडा मेलवा कंत ।।
मयलयाचल की चलकिउ पुलकिउ पवन प्रचंड ।
मदन महानृप पासइ विरहीन सिर दंड ।।५५।।"

मेघराज : (सं० १६६१ आसपास)

कवि मेघराज पार्श्वचन्द्रगच्छीय परम्परा में श्रवणऋषि के शिष्य थे। इनके सम्बन्ध में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। श्री मो० द० देसाई ने इनकी गुजराती रचनाओं का उल्लेख किया है जिससे यह सिद्ध होता है कि वे गुजराती थे। हिन्दी में इनकी छोटी - मोटी स्तुतियाँ प्राप्त होती हैं, यथा - पार्श्वचन्द्रस्तुति, सद्गुरुस्तुति तथा संयमप्रवहण आदि। स्वच्छ शैली तथा गुजराती-हिन्दी मिश्र भाषा में आपने अपनी भावनाओं को अभिव्यक्ति दी है।

"गच्छरति दरसणि अति आणन्द ।
श्री राजचन्द सूरिसर प्रतपउ जा लगि हु रविचन्द ।।
गुण गच्छपति ना भवइ भापइ पहुचइ आस जगीस ।।१५२।।"

लालविजय : (सं० १६६२ - ७३)

ये तपागच्छीय विजदेवसूरि के शिष्य शुभविजय के शिष्य थे। १ इनके द्वारा रचित इनकी दो गुजराती कृतियों के अतिरिक्त एक हिन्दी कृति "नेमिनाथ द्वादशमास" भी उपलब्ध है जिसमें परम्परागत शैली में राजमती के विरह को बारहमासे के माध्यम से व्यक्त किया गया है। भाषा प्रवाहमयी है और भाव स्पष्टता से अभिव्यक्ति पा सके हैं।

"तुम काहि पिया गिरनार चढे हम से तो कहो कहा चूक परी,
यह वेस नहीं पिया संजम की तुम काँहीकु ऐसी विचित्र धरी,
कैसे बारहमास बीतावोगे समझावोगे मुझि याह धरी ।। १ ।।"

दयाशील : (सं० १६६४ - ६७)

ये अंचलगच्छीय धर्मसूरि की परम्परा में विजयशील के शिष्य थे। इनकी दो गुजराती कृतियों का तथा हक हिन्दी कृति का उल्लेख प्राप्त होता है। २ इस हिन्दी कृति का नाम है। "चन्द्रसेन चन्द्रघेता नाटकीया प्रबन्ध"। इसकी रचना मीनमाल में सम्वत् में हुई थी। ३ यह कृति शान्तिनाथ के चरित्र के आधार हर रचित

१ मो० द० देसाई, जैन गूर्जर कविओ, पृ० ४८७
२ मो० द० देसाई, जैन गुर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड १, पृ० ६०२-५
३ वही, पृ० ६०५

के आधार पर रचित एक चरितकाव्य है। पाटण भण्डार में सुरक्षित इसकी एक प्रति में भाषा का स्वरूप इस प्रकार है।

"मेरी सज्जनी मुनि गुण गावु री।
चन्द्रधोत चन्द्र मुणिन्द मेरा नामइ हुइ आणन्द।
संसार जलनिधि जलह तारण, मुनिवर नाव समान ॥ मेरी० ॥ २ ॥"

हीरानन्द : हीरो संघवी, गृहस्थ कवि; (सं० १६६४ ६८)

गुजराती कृतियों के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर इनके पिता का नाम कान्ह १ और गुरु का नाम विजयसेनसूरि २ सिद्ध होता है। शेष जीवनवृत के बारे में अभी तक जानकारी उपलब्ध नहीं होती। हीरानन्द एक अच्छे कवि थे। ५२ अक्षरों में से प्रत्येक अक्षर पर एक-एक पद्य की रचना सहित ५७ पद्यों से सुसज्ज इनकी "अध्यात्म बावनी" ज्ञानाश्रयी कविता की प्रतिभापूर्ण हिन्दी काव्यकृति है। ३ इसकी रचना लाभपुर के भोजिग किशनदास शाह वेणिदास के पुत्र के पठनार्थ हुई थी। ४ इसका मुख्य विषय अध्यात्म है। इनकी भाषा प्रवाहपूर्ण व समर्थ है तथा कवित्व उच्च प्रकार के गुणों से युक्त है। परमात्मतत्व की महिमा में उद्गीत प्रारम्भिक पंक्तियाँ द्रष्टव्य है।

"ऊंकार सरुपुरुष ईह अलख अगोचर,
अन्तरज्ञान विचारी पार पावई नाहि को नर।"

विषय और भाषा दोनों के गौरव का निर्वाह कवि ने बड़ी सुन्दरता के साथ किया है।

दयासागर वा दामोदर मुनि : (स० १६६५ - ६९)

ये अंचलगच्छीय धर्ममूर्तिसूरि की परम्परा में उदयसमुद्रसूरि के शिष्य थे। ५ गुजराती की कृयितों में एक कृति "मदनकुमार रास" की प्रशस्ति में „मदन शतक" का उल्लेख है जो इनकी एक १०१ दोहे में रचित हिन्दी रचना है। इस गन्थ का उल्लेख हिन्दी साहित्य द्वितीय खण्ड में भी किया गया है। वस्तुतः यह एक प्रेमकथा है।

---

१ वही, पृ० ६४० २ वही
३ बावन अक्षर सार विविध वरनन करि भाख्या।
चेतन जड संबंध समझि निज चितमई राख्या ॥ - अध्यातम बावनी
४ जैन गूर्जर कविओ, भाग १, पृ० ४६६-६७
५ वही भाग १, पृ० ४०४

हेम विजय : (सं० १६७० के आसपास)

हेमविजय जी प्रसिद्ध आचार्य हरिविजयसूरि के प्रशिष्य और विजयसेनसूरि के शिष्य थे।१ कवि का जीवनवृत्त अज्ञात है। उनके काव्य में गुजराती का प्रयोग दिखाई देने से तथा प्रेमी जी के इस कथन से "आगरा और दिल्ली की तरफ बहुत समय तक विचरण करते रहे थे, इसलिए इन्हें हिन्दी का ज्ञान होना स्वाभाविक है" यह अनुमान लगाया जाता है कि ये गुजरात में ही कहीं जन्मे थे। हिन्दी में रचित इनके उत्तम पद प्राप्त हैं जिनमें हीरविजयसूरि तथा विजयसेनसूरि की स्तुतियां तथा तीर्थंकरों के स्तवन वर्तमान हैं। मिश्रबन्धु विनोद में भी सम्वत् १६६६ में इनके द्वारा बनाए गए स्फुट पदों का उल्लेख प्राप्त होता है।२ कवि ने नेमिनाथ तथा राजुल के कथा प्रसंगों को लेकर राजुल की विरह-व्यथा को बड़े ही मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया है—

"घनघोर घटा उनयी जु नई, इततैं उततैं चमकी बिजली।
पियुरे पियुरे पपिहा बिललाति जु, मोर किंगार करंति मिली।
बिच बिन्दु परे दृग आंसु झरें, दुनि धार अपार इसी निकली।
मुनि हेम के साहिब देखन कूं, उग्रसेन ललि सु अकेली चली।।"

लालचन्द : (सं० १६७२-९५)

लालचन्द जी खरतरगच्छीय जिनसिंहसूरि के शिष्य हरिनन्दन के शिष्य थे।३ इस युग में इसी नाम के तीन और व्यक्ति हो गए हैं किन्तु ये इन तीनों से पृथक् मात्र लालचन्द नाम से ही प्रसिद्ध है। इनकी गुजराती रचनाओं के साथ एक हिन्दी की कृति "वैराग्य बावनी" भी प्राप्त है जिसकी रचना संवत् १६९५ भाद्रशुक्ल १५ को हुई थी। अध्यात्म-विचार और वैराग्यभावना इस कृति का मुख्य उद्देश्य है। कवि सन्तों की सी भाषा में बोलता मिलता है। भाषा पर गुजराती प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। इसकी तुलना हीरानन्द संघवी की "अध्यात्मक बावनी" से की जा सकती है।

भद्रसेन : (सं० १६७४-१७१६)

इनके विषय में जानकारी उपलब्ध नहीं होती। मात्र इतना ही सिद्ध होता है कि जब जिनराजसूरि ने शत्रुंजय पर प्रतिष्ठा की उस समय कवि भद्रसेन व गुणविनय

---

१. नाथूराम प्रेमी, हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, पृ० ४७।
२. मिश्रबन्धु विनोद, भाग, १, पृ० ३६७।
३. जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खंड १, पृ० ९६०।

आदि उपस्थित थे।[१] १८४ पदों में रचित इनका "चन्दन मलयागिरि चौपई" एक सुन्दर लोक कथा काव्य है। इस कृति की लोकप्रियता का उज्ज्वल प्रमाण यह है कि उसकी असंख्य प्रतियाँ राजस्थान व गुजरात के भण्डारों में प्राप्त हैं जिसमें कुछ सचित्र भी हैं। संवत् १६७५ के आसपास रचित इस कृति में भाषा सरल तथा शैली प्रसादात्मक है। इसमें कुसुमपुर के राजा चन्दन और शीलवती रानी मलयगिरि की कथा निवद्ध है।

गुणसागरसुरि : (सं० १६७५–९१)

गुणसागर जी विजयगच्छ के पद्मसागरसूरि के पट्टधर थे। इनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार है–विजयगच्छ के विजय ऋषि–धर्मदास–खेमजी—पद्मसागर।[२] 'कृतपुण्य (कयवन्ना) रास', 'स्थूलिभद्रगीत', 'शान्तिजिनविनती रूप स्तवन', 'शान्तिनाथ छन्द' तथा 'पार्श्वजिन स्तवन' आदि कवि की हिन्दी रचनायें हैं। इनके सम्बन्ध में शेप जानकारी उपलब्ध नहीं है। 'कृतपुण्य रास' दान-धर्म की महिमा पर आघृत २० ढालों से युक्त एक कृति है। भापा गुजराती से अत्यधिक प्रभावित है। 'स्थूलिभद्रगीत' १२ पद्यों की विभिन्न रागों में निवद्ध एक लघु रचना है। इसी प्रकार अन्य कृतियाँ भी कवि की लघु रचनाएँ हैं और भक्ति-भावना से आपूर्ण है। भगवान के दर्शनों की महिमा बताता हुआ कवि कहता है—

"पास जी हो पास दरसण की बलि जाइये, पास मन रंगै गुण गाइये।
पास वाट घाट उद्यान में, पास नागै संकट उपसमै। पा०।
उपसर्मै संकट विकट कष्टक, दुरित पाप निवारणो।
आणंद रंग विनोद वारू, अपै संपति कारणो॥ पा०॥"

श्रीसार : (सं० १६८१–१७०२)

श्रीसार जी खरतर गच्छीय उपाध्याय रत्नहर्प तथा हेमनन्दन के शिष्य थे।[३] इनकी रचनाओं में गुजराती प्रभाव को देखते हुए यह अनुमान करना स्वाभाविक हो जाता है कि इनका सम्वन्ध गुजरात से दीर्घ काल तक रहा होगा। इनकी वारह कृतियों का उल्लेख प्राप्त होता है।[४] इन कृतियों में दो हिन्दी कृतियाँ विशेप उल्लेख्य है—(१) मोती कपासीया संवाद, तथा (२) सार वावनी। 'मोती कपासीया संवाद'

---

१. जैन गूर्जर कविओ, भाग १, पृ० ५६७–६८।
२. वही, पृ० ४६७।
३. मो० द० देसाई, जैन गूर्जर कविओ, भाग १, पृ० ५३५।
४. वही, पृ० ५३४–५४१ तथा भाग ३, पृ० १०२६–३२ तथा अगरचन्द नाहटा राजस्थानी साहित्य का मध्यकाल, परम्परा, पृ० ८०–८१।

इनकी एक महत्वपूर्ण साहित्यिक कृति है। भाषा सरल व प्रसाद गुणयुक्त है किन्तु है गुजराती से प्रभावित ही—

"मोती घरव्यउ महीप लइ हुं मोटो संसार,
मोह तमोवडि कोई नहीं, हुं सिगलइ शिरदार।
संप हुओ-मोती कपासीयें, मिलीया माहो माहिं", आदि।

'सार बावनी' की प्रत्येक पंक्ति में कक्काक्रम से एक-एक अक्षर को लेकर एक-एक कवित रचा गया है। आरम्भ 'ॐ' कार से हुआ है।

वालचन्द : (सं० १६८५ के आसपास)

कवि वालचन्द लोंकागच्छीय परम्परा में गंगदास मुनि के शिष्य थे।[१] ज्ञानाश्रयी कविता के उज्जवल प्रमाणस्वरूप ३३ पद्यों से पूर्ण तथा भावनगर के जैन प्रकाश में प्रकाशित 'वालचन्द बत्तीसी' के आधार पर उनका गुजराती होना सिद्ध होता है। इनकी भाषा सरल व प्रभावपूर्ण है—

"सकल पातिक हर, विमल केवल धर,
जाको वासो शिवपुर तासु लय लाइए।
नाद विंद रूपरंग, पाणिपाद उतभंग,
आदि अन्त मध्य भंगा जाकूँ नहि पाइए ॥आदि॥"

ज्ञानानन्द : (१७ वीं शती)

ज्ञानानन्द जी का इतिवृत्त अभी तक प्राप्त नहीं है। इनके पदों में 'निधिचरित' नाम जिस श्रद्धा के साथ व्यक्त हुआ है उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि संभवत: निधिचरित आपके गुरु रहे हों। पंडित बेचरदास ने इनका १७ वीं शती में होना माना है[२] और डॉ० अम्बाशंकर नागर ने इनकी भाषा में गुजराती प्रभाव को देखकर इनके गुजराती होने का या गुजरात में दीर्घकाल तक रहने का अनुमान लगाया है।[३] सन्तों की सी इनकी भाषा में सरलता-सजीवता एवं गांभीर्य के दर्शन होते हैं तथा अभिव्यक्ति में असाम्प्रदायिक शुद्ध ज्ञान मुखर हो उठा है। इस कारण इनका पद-साहित्य भारतव्यापी संत परम्परा का प्रतीक है—

राग-जोसी रासा

"अवधू. सूतां, क्या इस मठ में।

---

१. जैन गूर्जर कविओ, भाग १, पृ० ५४२।
२. भजन संग्रह, घूमांमृत, २१
३. गुजरात की हिन्दी सेवा (अप्रकाशित)।

इस मठ का है कबन भरोसा, पड़ जावे चटपट में ॥
छिन में ताता, छिन में शीतल, रोगशोक वहु घट में ॥आदि…आदि ।

हंसराज : (१७ वीं शती उत्तरार्द्ध)

हंसराज खरतरगच्छीय वर्द्धमानसूरि के शिष्य थे ।१ इनके सम्बन्ध में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है । श्री मो० द० देसाई ने इन्हें १७ वीं शती का कवि माना है ।२ 'ज्ञान बावनी' इनकी एक हिन्दी रचना है जिसकी प्रतियां गुजरात और राजस्थान के अनेक भण्डारों में प्राप्त होती हैं जो इस कृति की लोकप्रियता के साथ इस बात को भी प्रमाणित करती हैं कि कवि का गुजरात से दीर्घकालीन सम्बन्ध रहा है । 'ज्ञान बावनी' भक्ति एवं वैराग्य के भावों से परिपूर्ण ५२ पद्यों में रचित एक सुन्दर कृति है । इनकी भाषा सरल व प्रवाहयुक्त है—

"ओंकार रूप ध्येय गेय है न कछु जानैं,
पर परतत मत मत छहुं मांहि गायो है ।
जाको भेद पावै स्यादवादी और कहो
जानै मानै जातै आपा पर उरझायो है ।" आदि…आदि

ऋषभदास (श्रावक कवि) : (सत्रहवीं शती का उत्तरार्द्ध)

ये खंभात के प्रसिद्ध श्रावक कवि थे । तपा गच्छीय आचार्य विजयानंदसूरि इनके गुरु थे ।३ कवि एक धर्मसंस्कारी, बहुश्रुत एवं शास्त्राभ्यासी विद्वान श्रावक थे। ये गुजराती भाषा के प्रेमानन्द और अखा की कोटि के कवि थे । इन्होंने छोटी-मोटी अनेक कृतियां रची हैं । श्री मो० द० देसाई ने इनकी ४३ रचनाओं का उल्लेख किया है ।४

हिन्दी के वीरकाव्यों में इनके 'कुमारपाल रास' का उल्लेख हुआ है ।५ इसके अतिरिक्त 'श्रेणिक रास' तथा 'रोहिणी रास' का उल्लेख भी हिन्दी कृतियों में हुआ है ।६ कवि का अधिकांश साहित्य अभी अप्रकाशित है । कुछ कृतियों का तो कवि की विभिन्न कृतियों में उल्लेख मात्र ही मिलता है । संभव है ये कृतियां अब भी विभिन्न जैन शास्त्र भण्डारों में अज्ञातावस्था में पड़ी हो इस दिशा विशेष संशोधन की आवश्यकता है ।

---

१. ज्ञान बावनी, ५२ वां पद ।   २. जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, पृ० १६२४ ।
३. श्री गुरुनामि अती आनंद, चंदो विजयानंद सुरिंद ।   श्री हीर विजयसूरि राग
४. जैन गूर्जर कविओ, भाग १, पृ ४०६–४५८ तथा भाग ३, पृ० ६१७--६३३ ।
५. धीरेन्द्र वर्मा सम्पादित--हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृ० १७७ तथा १८० ।
६. [illegible]

कवि की विभिन्न कृतियों के अवलोकन से देश्य भाषा का प्राचीन रूप तथा हिन्दी का विकसित रूप स्पष्ट परिलक्षित होता है। भाषा बड़ी सरल तथा प्रासादिक है। विभिन्न भाषा प्रयोग की दृष्टि से कवि या 'हीरविजयसूरि रास' विशेष उल्लेखनीय है। प्रसंगानुकूल और भावानुकूल भाषा संयोजन की उत्तम कला इसमें दिखाई देती है। बादशाह के पश्चाताप का एक प्रसंग द्रष्टव्य है—

"पहिले में पापी हुआ बोहोत, आदम का भव युहीं खोत,
चित्तोड़ गढ़ लीना में आप, कह्या न जावे वो महापाप।
जोरन मरद कुत्ता बी हण्या, अश्व उकांट लेखे नहिं गणया,
ऐसे गढ लीने में बोहोत, बड़ा पाप उहां सही होत।"

उर्दू निष्ट कविता का एक और उदाहरण अवलोकनीय है—

"या खुदा मिवडा ·दोज्रखी, कीनी बोहोत वुजगारी;
इस कारणी थी वीहस्त न पाऊँ, होइगी बोहोत खोआरी ॥६६॥"

इस प्रकार के अनेक हिन्दी-उर्दू निष्ठ प्रसंग कवि की विभिन्न रचनाओं में विशेषत: 'हीरविजयसूरि रास' में प्राप्त होते हैं। संभव है खोज करने पर कवि की कोई स्वतंत्र हिन्दी रचना भी प्राप्त हो जाय।

कनक कीर्ति : (१७ वीं शती का अन्तिम चरण)

खरतर गच्छीय प्रसिद्ध आचार्य जिनचन्द्रसूरि की परम्परा में जयमंदिर के शिष्य[१] कनक कीर्ति का कोई जीवनवृत्त उपलब्ध नहीं होता। इनकी काव्यकृतियों हिन्दी तथा गुजराती—दोनों भाषाओं में रची गई प्राप्त होती हैं। इनकी हिन्दी कृतियों में गीत, स्तुति, वंदना, सज्झाएँ आदि हैं। ये सब भगवान तथा किसी ऋषि की स्तुति अथवा वंदना में रचित कृतियाँ हैं। इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं—'भरतचक्री सजझाय' (भक्ति-काव्य), 'मेघकुमार गीत' (वंदना), 'जिनराज स्तुति', 'विनती', 'श्रीपालस्तुति', 'कर्मघटावली' 'भक्तिकाव्य' तथा स्फुट भक्तिपद।

इनकी भाषा के अनेक रूप प्राप्त होते हैं, यथा—ढूंढारी से प्रभावित (जहां 'है' के स्थान पर 'छै' का प्रयोग है), गुजराती से प्रभावित, मारवाड़ी, व्रज के समीप तथा खड़ी बोली। खड़ी बोली का एक उदाहरण दृष्टव्य है—

"तुम प्रभु दीनदयालु, मुझ दुषि दुरि करोजी।
लीजै अनंतन ही तुम घ्यान धरों जी॥"

१. जैन गुर्जर कविओ, भाग, पृ० ५६८।

प्रकरण ३

१८ वीं शती के जैन गूर्जर कवियों तथा उनकी कृतियों का परिचय

पिछले प्रकरण में हम १७ वीं शती के प्रमुख हिन्दी कवियों का अवलोकन कर चुके हैं। १८वीं शती में जैन-गूर्जर कवियों की हिन्दी-साधना उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती दिखाई देती है। इस शती में अनेक सुकवियों की सुन्दर रचनाएं हमें समुपलब्ध होती हैं। इस प्रकरण से हम १८ वीं शती के प्रमुख कवियों तथा उनके साहित्यिक व्यक्तित्व पर दृष्टिपात करना प्रसंगप्राप्त समझते हैं।

आनन्दघन : (सं० १६८० - १७४५)

सच्चे अध्यात्मवादी महात्मा आनन्दघन श्वेताम्बर जैन कवि तथा साधु थे। १ इनका मूल नाम लाभानन्द था। जैनों के किसी सम्प्रदाय अथवा गच्छ में इनकी कोई रुचि नहीं दिखाई देती। २ इनके समकालीन जैन कवि यशोविजय की उपलब्ध "अष्टपदी" में भी उनके रहस्यवादी व्यक्तित्व का ही वर्णन मुख्य है। इनके जन्म आदि को लेकर साहित्य-क्षेत्र में अनेक अटकलें लगाई गईं—यथा आनन्दघन गुजरात के रहने वाले थे, ३ आनन्दघन का जन्म बुन्देलखण्ड के किसी नगर में हुआ था और मेडता नगर के आसपास इनका रहना अधिक हुआ। ४ इनकी प्रथम कृति "आनन्दघन चौवीसी" गुजरात में रचित होने के कारण यह सिद्ध होता है कि आनन्दघन जी या तो गुजराती थे अथवा गुजरात में उनका निवास दीर्घकाल तक रहा होगा।

आनन्दघन जी का समय तो निश्चित-सा ही है। मेडता नगर में ही यशोविजय जी से उनका साक्षात्कार हुआ था परिणामतः यशोविजय ने उनसे प्रभावित होकर उनकी प्रशंसा में 'अष्टपदी' रच डाली थी। ५ यशोविजय के समकालीन होने के साथ डभोई नगर में स्थित यशोविजय जी की समाधि पर मृत्यु सम्वत् १७४५

---

१ मो० द० देसाई, जैन साहित्यनो इतिहास, पृ० ६२२

२ 'गच्छना भेद बहु नयणा निहालतां, तत्वनी वात करता न लाजे'।
आनन्दघन चोवीसी, जैन काव्य दोहन, भाग १, पृ० ८

३ डॉ० अम्बाशंकर नागर, गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रंथ, पृ० ३४

४ मो. गि. कापडिया, आनन्दघननां पदो।

५ बुद्धिसागर के आनन्दघन पद संग्रह में प्रकाशित "आनन्दघन अष्टपदी"।

लिखा हुआ है। उक्त दोनों तथ्यों को ध्यान में रख कर ही शायद मोतीलाल कापडीया ने आनन्दघन का जन्म सम्वत् १६७० से ८० के बीच अनुमानित किया है। १ ये आनन्द घन सुजानवाले घनानन्द से भिन्न व्यक्ति थे, कारण (क) इन्होंने घनानन्द के 'सुजान' शब्द का कहीं पर भी प्रयोग नहीं किया। (ख) ये दूसरे आनन्द-घन से भिन्न थे क्योंकि इस दूसरे आनन्दघन का साक्षात्कार चैतन्य से हुआ था जो हमारे आनन्दघन के जीवन से भिन्न घटना है। इसी प्रकार ये 'कोक मंजरी' के लेखक घनानन्द से भी भिन्न हैं।

आनन्दघन के काव्य में विस्तार कम किन्तु गहराई अधिक है। काव्यगत स्तुतियों में कवि के अथाह ज्ञान और अपूर्व शैली के दर्शन होते है। गुजराती की उक्त रचना के अतिरिक्त हिन्दी की भी एक कृति प्राप्त होती है। इस कृति का नाम है—आनन्दघन बहोतरी। नाम के अनुसार तो इसमें केवल ७२ पद ही होने चाहिए किन्तु विभिन्न प्रकाशित प्रतियों को देखने से पता चलता है कि यह संख्या १०८ तक पहुँच गई है। कुछ विद्वानों ने इस संस्था को संदेह की दृष्टि से देखा है और नाथूराम प्रेमी ने तो इसमें प्रक्षिप्तता की स्थिति को स्वीकार करते हुआ कहा है, जान पड़ता है, उसमें बहुत से पद औरों के मिला लिए गये है। थोड़ा ही परिश्रम करने से हमें मालूम हुआ है कि इसका ४२ वां पद "अब हम अमर भये न मरेंगे" और अन्त का पद "तुम ज्ञान विभौ फूली वसंत" ये दोनों द्यानतरायजी के हैं। इसी तरह जांच करने से औरों का भी पता चल सकता है।" २

"आनन्दघन बहोतरी" के पदों में भक्ति, वैराग्य, उपदेश, ज्ञान, योग, प्रेम, ईश्वर, उलटवासियां, आध्यात्मिक रूपक, रहस्य-दर्शन आदि की अपूर्व सुसंयोजित अभिव्यक्ति हुई है। परमतत्व से लो लगाने की बात को कवि ने किस सहजता से व्यक्त किया है; देखिए—

"ऐसे जिन चरणे चित लाउं रे मना,
ऐसे अरिहंत के गुन गाउं रे मना॥ ऐसे...॥
उदर भरन के कारणे रे, गोंआ वन में जाय।
चारो चरे चिहुं दिश फिरे, वाकी सुरत वाछरुआ मांहे रे॥ ऐसे॥
मात पांच साहेलियां रे हिल मिल पाणी जाय।
ताली दिए खड खड हंसे रे, वाकी सुरति गगरुआ मांहे रे॥ ऐसे॥"

---

१ आनन्दघनना पदो, पृ० १८
२ हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, पृ० ६१ (पाद टिप्पणी)

जैनधर्मी कवि आनन्दघन की इस कृति में असम्प्रदायिक दृष्टि से ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति की त्रिवेणी प्रवहमान है, इसमें धर्म-सम्प्रदाय की सीमाएं नहीं है, "स्व" के आचरण पर "स्व" के विवेक का अंकुश वर्तमान है, परभाव का त्याग और आत्म परिणति की निर्मलता प्रत्येक जीव में उद्‌बुद्ध करने की प्रवृति है। इसी उद्‌बोधन के परिवेश में सुमति और शुद्ध चेतना आदि पात्र जन्में हैं। मूढ मानवों की मायाप्रियता दर्शाते हुए कवि सहज भाव से ऊंचे घाट की वाणी मुखरित कर देता है—

"वहिरातम मूढा जग तेता, माया के फंद रहेता ।
घट अन्तर परमातम ध्यावे, दुर्लभ प्राणी तेता ॥"

आनन्दघन में संतो के-से अभेद भाव की अभिव्यक्ति अनेक स्थलों पर हुई है। इनके काव्य में राम-रहमान, कृष्ण-महादेव, पारसनाथ आदि अद्‌वैत रूप में प्रतिष्ठित है, नामभेद होते हुए भी सभी एक है, ब्रह्म हैं—

"राम कहो रहमान कहो कोउ, कान कहो महादेव री,
पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्म, सकल ब्रह्म स्यवमेव री।
भाजन भेद कहावत नानो एक मृतिका रूप री,
तैसे खण्ड कल्पना रोपित आप अखण्ड सरूप री।
निज पद रमे राम सो कहिए, रहीम कहे रहमान री,
कर कर कान सो कहिये, महादेव निर्वाण री।
परसे रूप पारस सो कहिये, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री,
इह विध साचो आप आनन्दघन, चेतनमय निःकर्म री ॥६७॥"

आनन्दघन में जहां एक ओर "मैं आयी प्रभु सरन तुम्हारी, लागत नाहीं धको" के द्वारा वैष्णवी प्रपति के दर्शन होते हैं, वहां कबीर का-सा ज्ञान भी दिखाई देता है—

"अवधू ऐसो ज्ञान विचारी, वामे कोण पुरुप कोण नारी ॥
वम्मन के घर न्हाती धोती, जोगी के घर चेली ॥
कलमा पढ़-पढ़ भई तुरकडी तो, आप ही आप अकेली ॥" आदि।

अवधू को सम्बोधित करते हुए कवि कबीर की वाणी में ही बातें करता प्रतीत होता है—

अवधू सो जोगी गुरु मेरा, इन पद का करे रे निवेडा।
तरुवर एक मूल विन छाया, विन फूले फल लागा ॥
शाखा पत्र नहीं कछु उनकु, अमृत गगने लागा ॥" आदि।

इस प्रकार देखने से सारांशतः यह कहा सकता है कि आनन्दघन जी कवीर की भाँति ज्ञानवादी व रहस्यवादी कवि थे। इनकी भाषा यों तो ब्रज है किन्तु उस पर गुजराती, मारवाड़ी, पंजावी आदि भाषाओं का प्रभाव कुछ इस प्रकार दिखाई दे जाता है कि उसे सीधी भाषा में सधुक्कडी कह देना अनुचित न होगा। उनका छन्द-विधान विभिन्न राग-रागनियों में निवद्ध है। इनके प्रमुख राग हैं–विलावल, टोडी, सारंग, जयजयवन्ती,केदार आसावरी, वसंत, सोरठ दीपक मालकोस आदि। ये राग त्रिताल, चौताल, एक ताल और धमार आदि तालों पर निवद्ध हैं।

यशोविजयजी उपाध्याय : (सं० १६८०–१७४३)

काशी में रह कर तत्कालीन सर्वोत्कृष्ट विद्वान भट्टाचार्य जी के सानिध्य में रहकर षडदर्शन का ज्ञान प्राप्त कर द्वितीय हेमचन्द्राचार्य का विरुद धारण करने वाले, वहीं एक सन्यासी को शास्त्रार्थ में पराजित कर न्याय-प्रिशारद की उपाधि प्राप्त करने वाले तथा चार वर्ष आगरे में रहकर तर्कशास्त्र व जैन-न्याय का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त करने वाले उपाध्याय यशोविजय जी का हिन्दी की कृतियों के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर कोई प्रामाणिक जीवनवृत्त प्राप्त नहीं होता। जो कुछ भी प्राप्त होता है उसके दो स्रोत हैं–(१) समकालीन मुनिवर कान्तिविजय जी की गुजराती काव्यकृति 'सुजस-वेलिभास', तथा (२) महाराजा कर्णदेव का वि० सं० १७४० का ताम्रपत्र। इस ताम्रपत्र से यह सिद्ध होता है कि इनका जन्म गुजरात में पाटण के पास कनौडा गांव में हुआ था। इनका जन्म-काल अभी तक निश्चित नहीं किया जा सका है। अनुमान है कि इनका जन्म सम्वत् १६७० से १६८० के बीच में कभी हुआ होगा। इनका मरण डभोई (गुजरात) में १७४३ में हुआ। इनके पिता का नाम नारायण और माता का नाम सौभाग्य देवी था। माता-पिता की धर्म परायणता, उदारता, तथा दानशीलता के संस्कार पुत्र पर पूर्णतः पड़े दिखाई देते हैं।

"मारग चलत-चलत गात, आनन्दघन प्यारे, रहत आनन्द भरपूर ॥
ताको सरूप भूप त्रिहुं लोक थे न्यारो, वरखत मुख पर नूर ॥
सुमति सखि सखि के संग, नित-नित दोरत, कबहुं न होत ही दूर ॥
जशविजय कहे सुनो आनन्दघन, हम तुम मिले हजूर ॥"

यानन्दघन आनन्दरूप हैं। उन्हें पहचानने के लिए ज्ञाता के चित में उसी आनन्द की अनुभूति का होना आवश्यक है—

"आनन्द की गत आनन्दघन जाने।
वाइ सुख सहज अचल अलख पद, वा मुख सुजस वखाने ॥
सुजस विलास जव प्रकटे आनन्दरस, आनन्द अखय खजाने।
ऐसी दशा जव प्रगटे चित अन्तर, सोहि आनन्दघन पिछाने ॥"

'दिक्पट चौरासी वोल' हेमराज के 'सितपट चौरासी वोल' के उत्तर में तथा वनारसीदास के पंथ के विरोध में रची गई कृति है। इस कृति में दिगम्बरी मान्यताओं का खण्डन है। यदि खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति में ये न पड़े होते तो शायद हेमचन्द्राचार्य से भी महान सिद्ध होते। 'समाधिशतक' में दिगम्बर प्रभावन्दसूरि के 'समाधिशतक—समाधितन्त्र' नामक १०० श्लोकों के उत्तम ग्रंथ का शब्दानुवाद दिया गया है। इसमें स्थिर संतोप को ही मुक्ति का साधन माना है—'मुक्ति दूर ताकूं नहीं, जाकूं स्थिर संतोप।' 'समता शतक' कवि की चौथी हिन्दी कृति है जिसमें १०५ पद्य हैं। इसकी रचना विजयसिंहसूरि के 'साम्य शतक' के आधार पर मुनि हेम विजय के लिए लिखी गई थी। इसमें इन्द्रियों पर विजय पाने के उपाय वताए गए हैं। अन्य संत कवियों की भाँति इन्होंने माया को सर्पिणी के रूप में चित्रित किया है जो देखने मे मधुर पर गति से वक्र और भयंकर है—

"कोमलता वाहिर धरतु, करत वक्र गति चार।
माया सापिणी जग डरे, ग्रसे सकल गुण सार।"

स्तवन, गीत, पद एवं स्तुतियों के इस संकलन 'जसविलास' में भक्ति, वैराग्य और विश्वप्रेम के १०० पद संकलित हैं। भक्त का प्रभु के ध्यान में मग्न होना ही वस्तुतः सभी दुविधा का अंत है। भक्तिरूपी निधि प्राप्त करने के पश्चात् भक्त के लिए हरि-हर और ब्रह्मा की निधियाँ भी तुच्छ लगने लगती हैं, उस रस के आगे अन्य सभी रस फीके लगने लगते हैं; खुले मेदान में माया, मोह रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त हो जाती है—

"हम मगन भए प्रभु ध्यान में।
बिसर गई दुविधा तन-मन की, अचिरा सुत गुन ज्ञान में ॥

हरि हर ब्रह्म पुरन्दर की ऋद्धि, आवत नहिं कोउ मान में ।
चिदानन्द की मोज मची है, समता रस के पान में ।।"

चित्तदमन, इन्द्रियनिग्रह आदि को अन्य संतों की भाँति यशोविजयी ने भी अपने काव्य का विषय बनाया है । 'जब लग मन आवे नहि ठाम । तब लग कष्ट क्रिया सवि निष्फल ज्यो गगने चित्राम" यशोविजय जी के पास ज्ञान की शुष्कता ही नहीं थी अपितु भक्ति की स्निग्धता भी वर्तमान थी । उनकी प्रेम दिवानी आत्मा पिउ की रट लगाए बैठी है—'विरह दीवानी फिरूँ ढूँढती, पीउ पीउ करके पोकारेंगे ।" और जब उनकी आत्मा को मात्र पुकारने से संतोष नहीं मिलता और दर्शन की उत्कण्ठा बढ़ जाती है तब कवि की वाणी मुखर हो उठती है—

"चेतन अब मोहि दर्शन दीजे ।
तुम दर्शनें शिवसुख पामीजे, तुम दर्शने भव छीजे ।
तुम कारन तप संयम किरिया, कहो कहाँ लो कीजे ।
तुम दर्शन बिनु सब या झूठी, अन्तर चित्त न भीजे ।।"

यशोविजय जी की विभिन्न कवियों के अध्ययन से यह प्रतीति हुए बिना नहीं रहती कि उनकी वाणी प्रभावोत्पादक है । भाषा प्रसाद गुण सम्पन्न है, शैली सरसता से पूर्ण और छन्द शास्त्रीय राग-रागनियों में निबद्ध ।

ज्ञानविमलसूरि१ : (सं० १६९४ (जन्म)–१७८२ (मृत्यु))

इनका जन्म वीसा ओसवालवंश में संवत् १६९४ में (भिन्नमाल में) हुआ था ।२ इनके पिता का नाम वासव श्रेष्ठि तथा माता का नाम कनकावती था । तपगच्छीय विनयविमल के शिष्य धीरविमय से इन्होंने सं० १७०२ में दीक्षा ली । इनका दीक्षा-पूर्व का नाम 'नाथुमल्ल' था । दीक्षा नाम 'नयविमल' रखा गया । उन्होंने काव्य, तर्क, न्याय तथा अन्य शास्त्रादि में निपुणता प्राप्त की । नय-विमल की सम्पूर्ण योग्यता देख श्री विजयप्रमसूरि ने उन्हें सं० १७२७ में सादडी (मारवाड) के निकटवर्ती ग्राम 'घाणे राव' में पंडितपद (पंन्यास पद) प्रदान किया । सं० १७३६ में इनके गुरु काल धर्म को प्राप्त हुए । तदन्तर संवत् १७४७ में ये पाटण आये । यहाँ श्री महिमासागरसूरि ने संडेसर (संडेर) ग्राम में सं० १७४८ में इन्हें आचार्य पद से विभूषित किया । आचार्यपद प्राप्त नयविमल अब ज्ञानविमलसूरि बन गये ।

---

१. 'श्री ज्ञानविमलसूरि चरित्र रास' की एक प्राचीन प्रति मिली है, जिससे कवि के विषय में अच्छी जानकारी मिलती है । प्रकाशित, प्राचीन स्तवनादि रत्न-संग्रह, भाग १, पृ० १७ ।

२. जैन गूर्जर कविओ, भाग २, पृ० ३०८ ।

इनके मुख्य विहार के स्थान सूरत, खंभात, राजनगर, पाटण, राधनपुर, मादडी, धागेराव, सिरोही, पालीताणा, जुनागढ आदि रहे। श्री महोपाध्याय विनयविजय जी, यशोविजय जी तथा पं० ऋद्धिविमलगणि आदि ये प्रायः साथ-साथ विहार करते थे। श्रीमद् देवचंद जी से भी इनका घनिष्ट संबंध रहा है।

इन्होंने सिद्धाचल की यात्रा अनेक बार की थी। अनेक साधुओं को दीक्षा दी, उन्हें वाचक पद और पंडित पद से विभूषित भी किया। खंभात में ८९ वर्ष की आयु पूरी कर संवत् १७८२ आश्विन वदी ४, गुरुवार की प्रातः अनशन पूर्वक ये स्वर्गधाम सिधारे।

आप संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और गुजराती आदि सभी भाषाओं में सिद्ध-हस्त थे। इन्होंने इन सभी भाषाओं में सफल काव्य रचना की है।

इन्होंने गुजराती में विपुल साहित्य की सर्जना की है। 'प्राचीन स्तवन रत्न संग्रह' की भूमिका में इनके कुल ग्रन्थों की संख्या २५ से भी अधिक बताई है। तदुपरात. स्तवन. स्तुति. पदादि की संख्या तो काफी बढ़ गई है। ३६०० स्तवन इनके रचे बताये गये हैं और उनके रचित ग्रन्थों का श्लोक प्रमाण पचास हजार है।१

गुजराती में इनके अनेक रासादि ग्रन्थ भी मिलते हैं। हिन्दी में भी इनकी मुक्तक रचनायें स्तवन, गीत, सज्झाय पद आदि विपुल संख्या में प्राप्त हैं। इनकी प्राप्त हिन्दी रचनायें 'प्राचीन स्तवन रत्न संग्रह' भाग १, और में २ में संग्रहीत हैं। इनकी एक हिन्दी रचना 'कल्याण मन्दिर स्तोत्र गीत'२ भी है।

ज्ञानविमलसूरि की गद्य रचनाएँ भी प्राप्त हैं। सूरि जी एक सफल कवि, भक्त, अध्यात्म तत्व विवेचक, उपदेशक तथा सिद्धहस्त गद्यकार थे।

सूरिजी के गीत, स्तवन, स्तुतियाँ तथा पद विभिन्न राग-रागनियों में तथा देशियों में निबद्ध संगीतशास्त्र के अनुकूल हैं। कवि ने संगीत का भी गहरा अभ्यास किया था 'कल्याणमंदिर स्तोत्र गीत' से एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

> कुशल सदन जिन, भवि भवभय हरन,
> अशरन शरन जिन, सुजन बरनत है।
> भव जल राशि भरन, पतित जन तात तरन,
> प्रवहन अनुकरन, चरन सरोज है॥"

कवि की पद रचना बड़ी ही सरल और प्रभावशाली है। उनके एक प्रसिद्ध पद की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

---

१. श्री ज्ञानविमलसूरिश्वर रचित प्राचीन स्तवन रत्न संग्रह भाग १

२. 'श्री ज्ञानविमलसूरिश्वर रचित प्राचीन स्तवन संग्रह', भाग १।

"वालमीयारे विरथा जनम गमाया,
पर संगत कर दर विसी भटका, परसे प्रेम लगाया।
परसे जाया पर रंग माया, परकुं भोग लगाया। १"

दिव्य अनुभूति की इस भावाभिव्यक्ति में सहज कवित्व के दर्शन होते हैं। भाषा सरल, सादी एवं प्रभावशाली है। भाषा पर गुजराती का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। कवि की विभिन्न मुक्तक कृतियाँ भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से बड़ी समृद्ध एवं हिन्दी की उत्तम कृतियो में स्थान पाने योग्य है।

धर्मवर्धन : (सं० १७०० (जन्म) - १७८३ ८४ (मृत्यु))

आप खरतरगच्छीय जिन भद्रसूरि शाखा में हुए विजयहर्ष के शिष्य थे। २ इन्होंने १६ वर्ष की उम्र में प्रथम कृति "श्रेणिक चौपई" की रचना की। ३ इस आधार पर इनका जन्म सम्वत् १७०० सिद्ध है। इनका मूल नाम धर्मसी अथवा धर्मसिंह था। १३ वर्ष की अल्पायु में खरतरगच्छाचार्य श्री जिनरत्नसूरि से दीक्षा ग्रहण कर अपने विद्यागुरु विजयहर्ष से इन्होंने अनेक शास्त्रों एवं भाषाओं में विद्वता प्राप्त की। इन्हें उपाध्याय और महोपाध्याय पद से भी विभूषित किया गया। सम्वत् १७८३-८४ में कवि ने यशस्वी एवं दीर्घजीवन पावन कर अपनी इहलीला संवरण की। ४

कवि की विभिन्न राजस्थानी तथा गुजराती कृतियां गुजरात में रचित प्राप्त है। ५ इन कृतियों से उनके गुजरात के विभिन्न नगरों-ग्रामों में विहार कर धर्म-प्रचार करने की वात पुष्ट होती है। अतः कवि का गुजरात से दीर्घकालीन सम्बन्ध सिद्ध ही है।

कवि धर्मवर्धन के शिष्य विद्वान तथा कवि थे। इनकी शिष्य-परम्परा १९वीं शती तक चलती रही। आप राजमान्य कवि थे। ये अनेक विषयों के ज्ञाता, बहु भाषाविद्, एवं समर्थ विद्वान थे। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में भी इनकी उच्चकोटि की रचनाएं मिलती हैं। कवि की अधिकांश हिन्दी कृतियां (राजस्थानी, डिंगल, पिंगल कृतियां) प्रकाशित को चुकी है। ६ डिंगल-गीत अपनी

---

१ जैन गूर्जर कविओ, भाग २, पृ० ३३२
२ जैन गूर्जर कविओ, भाग २, पृ० ३३६
३ "श्रेणिक चोपाई", जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड २, पृ० १३१२
४ राजस्थानी, वर्ष २, अंक २, भाद्रपद १९९३, श्री नाहटाजी का लेख
५ शनिश्चर विक्रम चोपई, जैन गूर्जर कविओ, भाग २, पृ० ३४१
६ धर्मवर्धन ग्रंथावली संपादक श्री अगरचन्द नाहटा, सा० रा० रि० ८०, बीकानेर।

वर्णन शैली एवं अपनी स्वतंत्र छन्द रचना के कारण भारतीय साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त किये हुए हैं। इस विशाल डिंगल गीत-सम्पति के विकास में मात्र चारणों का ही योगदान रहा हो। ऐसी बात नहीं, अन्य वर्गों के कवियों ने भी पूरा योगदान दिया है। कवि धर्मवर्द्धन के भी डिंगल गीत अपने अर्थ-गांभीर्य के कारण अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। इन गीतों में विषय वैविध्य है। मात्र युद्धवर्णन या विरदगान तक ही सीमित नहीं, इनमें देवस्तुति, प्रकृतिवर्णन निर्वेद एवं राष्ट्रीयता आदि का भी सम्यक निदर्शन हुआ है। ऐसे गीतों में प्रासादिकता कवि की अपनी विशेषता है।

कवि की छोटी-बड़ी कुछ मिलाकर २६५ रचनाएं 'धर्मवर्धन ग्रंथावली" में में प्रकाशित हैं। इनकी अनेक हस्तलिखित प्रतियां भी गुजरात तथा राजस्थान के अनेक शास्त्रभण्डारों में सुरक्षित हैं।

कवि द्वारा प्रणीत धर्म बावनी, कुण्डलिया बावनी, छप्पय बावनी आदि बावनियां नीति, उपदेश एवं सरल संतोचित असाम्प्रदायिक अभिव्यक्ति की दृष्टि से विशेष महत्व की हैं। धर्म बावनी से एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"चाहत अनेक चित्त, पाले नहीं पूरी प्रीत;
केते ही करै है मीत, सोदौं जैसे हाट को।
छोरि जगदीस देव, सारैं ओर ही की सेवु;
एक ठोर ना रहै, ज्युं मोगल-कपाट को ॥ २७ ॥"

कवि की "चौवीसी" रचना में उनके हृदय की अगाध भक्ति धारा फूट पड़ी है। प्रभु की वन्दना करने से समस्त पाप दूर हो जाते हैं—

"नाभि नरिंद को नन्दन नमतां,
दूरित दशा सब दूरी दली री।
प्रभु गुण गान पान अमृत को,
भगति सुसाकर मांहि मिली री।"

इसी तरह "चौवीस जिन सवैया", "बारहमासा"; "औपदेशिक पद" आदि की भाव सम्पत्ति भी विशेष महत्त्व रखती है। इस रचनाओं में भक्ति, वैराग्य, उपदेश, विरहानुभूति आदि की सरल अभिव्यक्ति है। कवि के औपदेशिक पद एवं मुक्तक स्तवन अनेक राग रागिनियों में निबद्ध संगीत शास्त्र के अनुकूल है। राग गौड़ी में रचित एक पद दृष्टव्य है।

"कछु कही जात नहीं गति मन की।
पल पल होत नइ नइ परणति, घटना संध्या घन की ॥

अगम अथम मग तु ं अवगाहत, पवन के धज प्रवहण की ।
विधि विधि बंध कितेही बांधत, ज्यु ं खलता खल जनकी ॥
कबहु विकसत फुनि कमलावत, उपमा है उपवन की ।
कहै धर्मसिंह इन्हैं वश कीन्हे, तिसना नहीं तन धन की ॥ ३ ॥।"

लोकगीतों के क्षेत्र में भी कवि ने स्तुत्य कार्य किया है। कवि की कुछ आधार भूत धूनों की आद्यपंक्तियां लोकप्रिय और प्रचलित हो गई हैं। कवि ने चित्रकाव्य और समस्यपूर्ति काव्य भी लिखे हैं। इनमें प्रसंगोद्भावना एवं कल्पना-शक्ति के दर्शन होते हैं। कवि धर्मवर्धन ने तत्कालीन प्रचलित प्राय: सभी काव्य शैलियों अपनाया है। कवि का व्यक्तित्व सद्धर्म-प्रचारक, भक्त, सरल उपदेशक, समर्थ विद्वान एव सरस कवि के रूप में अपनी कृतियों में प्रतिबिम्बित है।

आनंदवर्धन : (सं० १७०२ - १७१२)

ये खरतरगच्छीय महिमासागर के शिष्य थे। इनके जन्म, दीक्षा, विहारादि की जानकारी उपलब्ध नहीं। श्री मो० द० देसाई ने इनकी रचित दो कृतियों का उल्लेख किया है। १ प्रथम रचना "अर्हन्नक रास" (सं० १७०२) गुजराती में तथा दूसरी रचना "चौवीसी" (सं० १७१२) गुजराती मिश्रित दिन्ही की रचना है। श्री नाहटा की ने इनकी राजस्थानी कृतियों में इनके अतिरिक्त "अन्तरीक स्तवन", "विमलगिरी स्तवन", "कल्याण मंदिर ध्रुपद" और "भक्ताभर सवैया" आदि का उल्लेख किया है। २ इससे सिद्ध हैं कवि काराजस्थान तथा गुजरात से घनिष्ट संबंध रहा है। उनकी हिन्दी-रास्थानी रचनाओं पर गुजराती का अत्यधिक प्रभाव देखते हुए संभव हैं इनका जन्म गुजरात में ही कहीं हुआ हो। इनका गुजराती में रचा हुआ "अंतरिक्ष पार्श्वनाथ स्तवन" प्राप्त है। ३

विभिन्न राग-रागिनियों में निवद्ध इनकी "चौवीसी" ४ एक वड़ी ही सुन्दर रचना है। भक्ति, वैराग्य और उपदेश विषयक कवि की यह रचना काव्य कला की दृष्टि से भी उत्तम वन पड़ी है। एक उदाहरण देखिये—

"मेरे जीव में लागी आस की, हु ं तो पलक न छोडु ं पास रे ।
ज्यु ं जानो त्यु ं राखीये, तेरे चरन का हुं दास रे ॥ १ ॥

---

१ जैन गूर्जर कविओ, भाग २, पृ० १२४ तथा पृ० १४६
२ परम्परा, राजस्थानी साहित्य का मध्यकाल, श्रीनाहटाजी, पृ० १०६–७
३ श्री जैन गूर्जर साहित्य रत्नो भाग १, पृ० ७२, सूरत से प्रकाशित ।
४ वही, कुछ स्तवन प्रकाशित, पृ० ६६-७३

क्यु कहो कोई लोक दिवाने, मेरे दिले एक तार रे ;
मेरी अंतरगति तु ही जानत, और न जानन हार रे ॥ २ ॥"

वैराग्य और उपदेश की संत-वाणी भी उतना ही प्रभावोत्पादक हो उठी है,—

"योवन पाहुना जात न लागत वार।
चंचल योवन थिर नहीं रे, ज्यान्यो नेमि जिना ॥ १ ॥
दुनिया रंग पतंगसी रे, वादल से सजना ;
ए संसार असारा ही रे, जागत को सुपना ॥ ४ ॥"

चौवीसी की रचना सं० १७१२ में हुई। १ इसकी एक प्रति नाहटा संग्रह से प्राप्त है। कवि की अन्य रचनाओं में 'अन्तरीक स्तवन', 'कल्याण मन्दिर ध्रुपद', 'भक्तामर सवैया' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रायः इन कृतियों का विषय प्रभु-भक्ति है। 'भक्तामर सवैया' से एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"सै अकुले कुल मच्छ जहां गरजैं दरिया अति भीम मथो है,
ओ वडवानल जा जुलमान जलै जल मैं जल पान क्यों है।
लोल उतंराकलोलनि कै पर वरि जिहाज उच्छरि दयो है,
ऐसे तुफान मैं तौहि जपै तजि में सुख सौ शिवधान लयो है ॥४०॥"

इनकी भाषा पर गुजराती का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। कवि प्रतिभा सम्पन्न जान पड़ते हैं।

केशरकुशल : (सं० १७०६ आसपास)

ये तपगच्छीय वीरकुशल के शिष्य सौभाग्य कुशल के शिष्य थे। २ इनका विशेष इतिवृत ज्ञात नहीं है।

सांतलपुर में रचित इनकी एक २६ पद्य की ऐतिहासिक गुजराती कृति 'जगडु प्रबंध चौपाई" प्राप्त है, जिसकी रचना सम्वत् १७०६ श्रावण मास में हुई थी। ३

हिन्दी में रचित इनकी एक कृति 'वीसी' ४ प्राप्त है। यह तीर्थंकरों की स्तुति में रची गई है। स्तवन सरल एवं भाववाही है। एक उदाहरण अवलोकनीय है—

"सीमंधर जिनराज सुहंकर, लागा तुमसु नेहावो।
सलूने सांइ दिल सौ दरसन देह ॥

---

१ जैन गर्जर कवियो, भाग २, पृ० १४६
२ 'जगडु प्रवन्ध चौपाई' जैन गूर्जर कविओ, भाग १, पृ० १७४
३ 'जगडु प्रवन्ध चौपई', जैन गूर्जर कविओ, भाग २, पृ० १७४
४ जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खंड २. पृ० १२०६

तुम हीं हमारे मनके मोहन, प्यारे परम सनेहा वो ।–१ सलूने"

कृति सुन्दर एवं सरस है । भाषा गुजराती प्रभावित खड़ी बोली है ।

हेमसागर : (सं० १७०६ आसपास)

आप अंचलगच्छीय कल्याणसागरसूरि के शिष्य थे ।१ इनका विशेष इतिवृत्त अज्ञात है ।

इनकी एक हिन्दी कृति 'छंदमालिका' सूरत के समीप हंसपुर (गुजरात) में रचित प्राप्त है ।२ इसमें अत्यधिक गुजराती प्रयोगों को देखते हुए कवि के गुजराती होने का अनुमान किया जा सकता है ।

'छन्दमालिका' एक छन्द ग्रंथ है, जिसमें १९४ पद्य हैं । इसकी रचना संवत् १७०६ भाद्रपद वदी ९ को हुई थी ।३ कई भण्डारों में इसकी प्रतियां सुरक्षित हैं । भाषा शैली की दृष्टि से एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

"अलस लख्यौ काहुन परै, सब विधि करन प्रवीन ।
हेम सुमति वंदित चरन, घट घट अंतर लीन ॥१॥"

वृद्धि विजयजी : (सं० १७१२–३०)

तीन वृद्धि विजय हो गये हैं । प्रथम तपगच्छीय विजयराजसूरि की परंपरा में रत्नविजय और सत्यविजय के शिष्य थे । दूसरे तपगच्छ के विजयप्रभसूरि के समय में श्री लाभविजय के शिष्य थे और तीसरे १९ वीं शताब्दी में 'चित्रसेन पद्मावती रास' के कर्ता वृद्धिविजय हो गये हैं । विवक्षित वृद्धिविजय प्रथम रत्न विजय और सत्य विजय के शिष्य हैं । इनके जन्म, मृत्यु, विहारादि के विषय में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है । इनकी ४ गुजराती रचनाएँ प्राप्त हैं ।४

चौवीसी गुजराती मिश्रित हिन्दी की रचना है । इसकी रचना संवत् १७३० में औरंगाबाद में हुई ।५ इसमें कवि की भक्ति एवं वैराग्य दशा की सरल अभिव्यक्ति है । कवि किस व्यग्रता एवं आतुरता से प्रभु को दर्शन देने की विनती करता है—

"शांति जिणेसर साहिबो रे, वसियो मन मां आई,
वीसायो नवि वीसरई रे, जो वरिसां सो थाई ॥१॥

---

१. छंदमालिका, राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, भाग २, पृ० ९ ।
२. वही ।
३. छंदमालिका, राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, भाग २, पृ० ९
४. जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड २, पृ० १२०० तथा भाग २, पृ० १५०-५२ ।
५. जैन गूर्जर साहित्य रत्नो, भाग १, पृ० १४७, सूरत से प्रकाशित ।

रात दिवस सूतां जागतां रे, दिलथी दूर न होय;
अंतर जामी आपणो रे, तिलक समो तिहुं लोय ॥२॥"

लोक-गीतों की विभिन्न देशियों में ढले चौवीसी के स्तवन अतीव सुन्दर एवं मर्मस्पर्शी हैं।

जिनहर्ष : (सं० १७१३-१७३८)

जिनहर्ष खरतरगच्छ के आचार्य जिनचन्द्रसूरि की परम्परा में मुनि शांतिहर्ष के शिष्य थे।[1] कवि जिनहर्ष के विषय में कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं मिलती। अपनी 'जसबावनी', 'दोहामातृका बावनी', बारहमासाद्वय तथा दोहों में इन्होंने अपना नाम 'जसा' या 'जसराज' दिया है। संभवत: यह उनका गृहस्थावस्था का नाम हो। इनकी सर्वप्रथम रचना 'चन्दन मलयागिरि चौपाई' (सम्वत् १७०४ में रचित) प्राप्त होती है जिसके आधार पर अगरचन्द नाहटा ने 'जिनहर्षग्रंथावली' में सम्वत् १६८५ के लगभग इनके जन्म लेने का अनुमान किया है और दीक्षा सं० १६९५ से १६९९ में लेने का अनुमान लगाया है। नाहटा जी इन्हें मारवाड़ में जन्मा मानते हैं।[2] और नाथूराम प्रेमी इन्हें पाटण का निवासी बताते हैं।[3] रचनाओं के स्थानों पर ध्यान देने से इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि जिनहर्ष जी, चाहे कहीं भी पैदा हुए हों, गुजरात व राजस्थान दोनों से अत्यधिक सम्बद्ध थे।

सभी कृतियों के पीछे कवि का प्रमुख लक्ष्य जन-कल्याण प्रतीत होता है। इसीलिए इन्होंने अपनी रचनाएँ लोकभाषा में की हैं। इन कृतियों की एक लम्बी सूची 'जिनहर्ष ग्रंथावली' में दी गई है। यहाँ कुछ प्रमुख रचनाओं के आधार पर कवि के साहित्यिक व्यक्तित्व को देखने का प्रयास किया जा रहा है।

"नन्द बहोत्तरी—विरोचन मेहता वार्ता"—संवत् १७१४ में रचित इस रचना में राजानन्द तथा मंत्री विरोचन की रसप्रद कथा दी गई है। इस वृत्तान्त वार्ता में कुल ७२ दोहे हैं, भाषा राजस्थानी हिन्दी है—

"सूरवीर आरण अटल, अनियन कंद निकंद।
राजत हैं राजा तहां, नन्दराइ आनन्द ॥८॥"

संवत् १७३८ फाल्गुन वदी ७ गुरुवार के दिन रचित 'जसराज बावनी' कवि की दूसरी प्रमुख रचना है।[4] इस ग्रंथ में ५७ सवैये हैं। इस कृति का आरम्भ ही निर्गुणियों की भाँति किया है—

---

१. जैन गुर्जर कविओ, खण्ड २, भाग ३, पृ० ११३० ।
२. जिनहर्ष ग्रंथावली, पृ० २६ ।
३. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, पृ० ७१ ।
४. राजस्थान के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, भा० ४, पृ० ८५ ।

"ऊंकार अपार जात आधार, सवै नर नारी संसार जपे है।
वावन अक्षर माहिं धुरक्षर, ज्योति प्रद्योतन कोरि तपे है।
सिद्ध निरंजन भेख अलेख सरूप न रूप जोगेन्द्र थपे है।
ऐसो महातस है ऊंकार को, पाप जसा जाके नाम खपे है ॥१॥"

"क्षौर सुसीम मुंडावत हैं केइ लम्ब जटा सिर केइ रहावै" के द्वारा कवि वाह्याडम्बर का विरोध करता है और अन्त है में 'ग्यान विना शिप पंथ न पावै" कह कर ज्ञान की प्रतिष्ठा करता है।

संगीतात्मक गेय पदों में रचित कवि की तीसरी प्रसिद्ध रचना है 'चौवीसी' इसमें तीर्थंकरों की स्तुति गाई गई है। इन स्तुतियों के माध्यम से कवि के भक्त हृदय के दर्शन हुए विना नहीं रहते--

"साहिव मोरा हो अव तो माहिर करो, आरति मेरी दूरि करो।
खाना जाद गुलाम जाणि कै. मुझ ऊपरि हित प्रीति धरौ ॥ आदि"

सम्वत् १७१३ में रचित 'उपदेश छत्तीसी' १ में ३६ पद्य संकलित हैं। अन्य भक्ति काव्यों की भाँति ही इसमें भी संसार की माया मोह आदि को छोड़ कर भगवान (जितेन्द्र) के चरणकमलों में समर्पित होने का उपदेश दिया गया है। सम्वत् १७३० आपाढ़ शुक्ल ९ को रचित 'दोहा मातृका वावनी' में जीवनोपयोगी सद्धर्म की अभिव्यक्ति हुई है-

'मन तें ममता दूरि कर समता धर चित मांहि।
रमता राम पिछाण कै, शिवपुर लहै क्यु. नांहि ॥'

कवि जिनहर्ष ने नेमिनाथ और राजमती की प्रसिद्ध कथा लेकर दो वारहमासों की रचना की है--(१) नेमिवारहमासा, १ तथा (२) नेमि-राजमती वारहमास सवैया। २ इन वाररमासों में प्रेम और विरह का वड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है। इनकी अन्य प्रमुख रचनाओं में 'सिद्धचक्र स्तवन', 'पार्श्वनाथ नीसाणी', 'ऋषिदता चौपई', तथा 'मंगल गीत' महत्वपूर्ण हैं। इनमें क्रमश: सिद्धचक्र की भक्ति, पार्श्वनाथ की स्तुति, महाराजा श्रेणिक का चरित्र, मुनि आदि की स्तुतियां तथा अरिहंतो, सिद्धों आदि की स्तुतियां निवद्ध हैं।

कवि की भाषा प्रसादगुण सम्पन्न, परिमार्जित एवं सुलन्ति है। माधुर्य और रसात्मकता इनकी भाषा के विशेष गुण हैं। कवि द्वारा प्रयुक्त व्रज भाषा तो और भी

१ वही, पृ० १०१
२ जैन गुर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड २. पृ० ११७१
३ जिनहर्ष ग्रंथावली, पृ० २००-२२२

मधुर और सजीव है। साहित्यकता कहीं स्खलित नहीं होने पाई है। 'रास' संज्ञक काव्यों के साथ कवि ने अनेक काव्यात्मक शैलियों का प्रयोग किया है।

देवीविजय : (सं० १७१३ - १७६०)

ये तपगच्छीय विजयसिंहसूरि के प्रशिष्य थे। इनके गुरु का नाम उदयविजय था।[१] इनकी गुजराती कृति 'विजयदेवसूरिनिर्वाण' एक ऐतिहासिक कृति है, जो सं० १७१३ खंभात में रची गई थी। श्री देसाई ने इनकी एक और गुजराती कृति 'चम्पक रास' का भी उल्लेख किया है, जिसकी रचना सम्वत् १७३४ श्रावण सुदी १३ को धाणेराव में हुई।[२] इनके विषय में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं।

हिन्दी में रचित इनकी एक कृति 'भक्तामर स्तोत्र रागमाला काव्य' प्राप्त है, जो विभिन्न रागों में सं० १७३० पौस सुदी १३ के दिन विनिर्मित हुई।[३] इसमें ४४ पद्य हैं। अब यह भीमसी माणेक, बम्बई द्वारा प्रकाशित भी है।

प्रारम्भ में कवि जिन वंदना करता हुआ कहता है—

"भक्त अमर गन प्रणत मुगट मणि,
उल्लसत प्रभाएं न ताकूं दूति देत हे। भ० १
पाप तिमिर हरे सकृत संचय करें,
जिनपद जूगवर, नीके प्रनमेतु हे। भ० २"

भट्टारक शुभचन्द (द्वितीय) : (सं० १७२१ - १७४५)

'शुभचन्द्र' नाम के पांच भट्टारक हुए हैं। इनमें से '४ शुभचन्द्र' का उल्लेख "भट्टारक संप्रदाय" में हुआ है।[४] इनमें से विजयकीर्ति के शिष्य भ० शुभचन्द्र का परिचय दिया जा चुका है। विवक्षित पांचवें शुभचन्द्र, भ० रत्नकीर्ति के प्रशिष्य एवं भ० अभयचन्द्र के शिष्य थे, जिनका 'भट्टा० अभयचन्द्र' के पश्चात् सम्वत् १७२१ की ज्येष्ठ सुदी प्रतिपदा को पोरबन्दर में एक विशेष उत्सव का आयोजन कर, भट्टारक गादी पर अभिषेक किया गया।[५]

---

१ श्री विजयसिंह सूरीश्वर केरा, सीस अनोपम कहीइजी,
उदयविजय उवझाय शिरोमणि, बुद्धि सुरगुरु लहीइजी।
—विजयदेवसूरि, जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खंड २, पृ० १३२४

२ जैन गूर्जर कविओ, भाग २, पृ० ३४६

३ वही, भाग ३, खंड २, पृ० १३२४

४ भट्टारक सम्प्रदाय, पृ० ३०६

५ 'राजस्थान के जैन संत - व्यक्तित्व एवं कृतित्व'. डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल पृ० १६१

पूर्ण युवा "शुभचन्द्र" ने भट्टारक बनते ही समाज के अज्ञानान्धकार को दूर करने का तथा गुजरात एवं राजस्थान के विभिन्न स्थलों में विहार-भ्रमण कर अपने प्रवचनों द्वारा जन साधारण के नैतिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय विकास का अपना जीवन लक्ष्य निर्धारित किया। उन्हें इस क्षेत्र में काफी सफलता मिली। इन्होंने साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यों में विशेष रुचि दिखाई।

'शुभचंद्र' का जन्म गुजरात के 'जलसेन' नगर में हुआ था।१ यह स्थान उस समय जैन-समाज का प्रमुख केन्द्र था। इनके पिता का नाम 'हीरा' तथा माता का नाम 'माणकदे' था। इनके बचपन का नाम 'नवलराम' था। 'बालक नवलराम' व्युत्पन्न-मति थे—अतः अल्पायु में ही उन्होंने व्याकरण, न्याय, पुराण, छन्दशास्त्र अष्ट-सहस्त्री तथा चारों वेदों में निपुणता प्राप्त कर ली थी।२ भट्टारक अभयचंद्र से ये अत्यधिक प्रभावित हुए और आजन्म साधु-जीवन स्वीकार कर लिया।

श्रीपाल, विद्यासागर, जयसागर आदि इनके प्रमुख शिष्य थे। इन्होंने शुभचंद्र की प्रशंसा में अनेक गीत लिखे हैं। श्रीपाल रचित ऐसे अनेक गीत व पद प्राप्त हैं, जो साहित्यिक एवं ऐतिहासिक महत्व रखते हैं।

भट्टारक शुभचंद्र संवत् १७४५ तक भट्टारक पद पर बने रहे। तदनन्तर 'रत्नचंद्र' को इस भट्टारक पद पर अभिषिक्त किया गया। इन २४-२५ वर्षों में बहुत संभव है, इन्होंने अच्छी कृतियां की हो, पर अभी तक इनकी कोई बड़ी कृति देखने में नहीं आई। इनका पद-साहित्य उपलब्ध हैं, जिनमें इनकी साहित्याभिरुचि का प्रमाण मिल जाता है।

इन पदों में कवि के हृदय की मार्मिक भावाभिव्यक्ति हुई है। भ० शुभचंद्र भी 'नेमिराजुल' के प्रसंग से अत्यधिक प्रभावित रहे—यही कारण है कि राजुल की विरहानु-भूति एवं मिलन की उत्कंठा हृदय का बांध तोड़कर इन शब्दों में व्यक्त हुई है—

"कौन सखी सुध ल्यावे श्याम की।
मधुरी धुनी मुखचंद विराजित, राजमति गुण गावे ॥श्याम॥१॥
अंग विभूषण मनीमय मेरे, मनोहर माननी पावे।
करो कछू तंत मंत मेरी सजनी, मोहि प्राणनाथ मीलावे ॥श्याम॥२॥"

---

१. 'राजस्थान के जैन संत—व्यक्तित्व एवं कृतित्व' डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल पृ० १६२।

२. व्याकर्ण तर्क वितर्क अनोपम, पुराण पिंगल भेद।
अष्टसहस्त्री आदि ग्रंथ अनेक जुन्हों विद जाणो वेद रे ॥
—श्रीपाल रचित एक गीत।

भट्टारक शुभचंद्र के पदों में भक्तिरस प्रधान है। भाव, भाषा एवं शैली की दृष्टि से पदों में साहित्यिकता है।

देवेन्द्रकीर्ति शिष्य : (सं० १७२२ आसपास)

आप भट्टारक सकलकीर्ति की परम्परा में पद्मनंदि के शिष्य देवेन्द्रकीर्ति के कोई शिष्य थे।१ इनका विशेष जीवनवृत्त ज्ञात नहीं। भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति का सूरत तरफ की भट्टारक गद्दियों से विशेष संवंध रहा।२ संवत् १७२२ में रचित इनका एक-एक गुजराती ग्रंथ 'प्रद्युम्न प्रवंध' भी प्राप्त है।३

'आदित्यवार कथा' इनकी हिन्दी कृति है संवत् १८६८ की लिखित आगरा भण्डार की प्रति में ६० पद्य हैं। यह कृति साधारणतः अच्छी हैं। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—

"रवि व्रत तेज प्रताप गइ लच्छि फिरि आइ,
कृपा करी धरनेन्द्र और पद्मावति आइ।
जहां गये तहां रिद्धि सिद्धि सव ठौर जुपाइ,
मिलै कुटम्व परिवार भले सज्जन मनभाइ॥"

लक्ष्मीवल्लभ : (१८ वीं शताब्दी का दूसरा पाद)

ये खरतरगच्छीय शाखा के उपाध्याय लक्ष्मीकीर्ति के शिष्य थे।४ 'अमरकुमार चरित्र रास' में लक्ष्मीकीर्ति के लिए 'वाणारसी लखमी–किरति गणी' लिखा गया है।५ इससे स्पष्ट है कि वे वनारस के निवासी थे। विद्वत्ता के क्षेत्र में इनकी ख्याति अपूर्व रही होगी। इन्हीं गुरु के चरणों में लक्ष्मीवल्लभ ने अपनी शिक्षा-दीक्षा आरम्भ की थी। इन्हें राजकवि का भी विरुद प्राप्त था।६ इनका जन्म नाम हेमराज था।

इनके जन्म, दीक्षा काल, तथा स्वर्गवास आदि की जानकारी प्राप्त नहीं होती। गुजराती की इनकी विपुल साहित्य सर्जना तथा इनकी हिन्दी रचनाओं पर गुजराती का अधिक प्रभाव देखते हुए इन्हें जैन-गूर्जर कवियों में निस्संदेह स्थान दिया जा सकता है। उनका हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती और संस्कृत चारों भाषाओं पर

---

१. जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड २, पृ० १०६६–६७।
२. डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल, राजस्थान के जैन संत, पृ० ११३।
३. जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड २, पृ० १०६६।
४. रत्नदास चौरई, जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खंड २, पृ० १२४६।
५. जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खंड २, पृ० १२४७।
६. जैन गूर्जर साहित्य रत्नो, भाग १, सूरत, पृ० २६८।

समानाधिकार था। संस्कृत में विनिर्मित उनके साहित्य से सिद्ध है कि वे उच्चकोटि के विद्वान तथा कवि थे। 'कल्पसूत्र' और 'उत्तराध्ययन' की कृतियां लिखने वाला कोई साधारण विद्वान नहीं हो सकता।

कवि की हिन्दी रचनाओं पर गुजराती का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। भाषा परिमार्जित संस्कृत-तत्सम शब्द बहुला है। गुजराती-राजस्थानी में इनके कई रास स्तवनादि प्राप्त हैं। इनकी हिन्दी रचनाएं निम्न हैं—

(१) चौवीसी, २५ पद,
(२) महावीर गौतम स्वामी छन्द ६६ पद्य
(३) दोहा बावनी
(४) काव्यज्ञान-पद्यानुवाद
(५) सवैया बावनी
(६) भावना विलास
(७) नेमिराजुल बारहमासा
(८) नवतत्व चौपाई
(९) उपदेश बत्तीसी
(१०) चेतन बत्तीसी
(११) देशान्तरी छन्द, तथा
(१२) अध्यात्म फाग।

इनके अतिरिक्त राजबावनी सं० १७६८, जिनस्तवन २४ सवैया तथा कुछ फुटकर पद्यादि प्राप्त है जिसका उल्लेख 'हिन्दी साहित्य' (द्वितीय खंड) में हुआ है।[१] श्री नाहटाजी ने भी इस कविकी अनेक कृतियां गिनाई हैं। यथा 'अभ्यंकर श्रीमती चौपई,' 'रत्नहास चौपई,' 'अमरकुमार रास,' 'विक्रमपंचदंड चौपइ,' 'रात्रि-भोजन चौपई,' 'कवित्व बावनी,' 'छप्पय बावनी,' 'भरतबाहुबली मिंडाल छन्द,' कुण्डलिया, 'श्री जिनकुशलसूरिछंद,' 'बीकानेर चौवीसठा-स्तवन,' शतक व्यठवा और स्तवनादि फुटकर कृतियां आदि।

श्री मोहनलाल दलिचन्द देसाई ने इस कवि की छोटी बड़ी कुल मिलाकर करीब २० कृतियों का उल्लेख किया है।[२]

हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी और संस्कृत की इस विपुल साहित्य सर्जना को देखते हुए लगता है कवि असाधारण प्रतिभा सम्पन्न रहा होगा। यहां इनकी प्रमुख रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया दिया है।

'चौवीसी' में चौवीस तीर्थंकरों की भक्ति से सम्बन्धित स्तवन संगृहीत हैं। कुल पद्य संख्या २५ है। इसकी दो प्रतियां अभय जैन पुस्तकालय, बीकानेर में है। राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, भाग ४ में भी इन दोनों प्रतियों का उल्लेख है।[३] दोनों प्रतियों में चार-चार पन्ने हैं। पद्यों की रचना विभिन्न

---

१ हिन्दी साहित्य, द्वितीय खंड, संपा० धीरेन्द्र वर्मा पृ० ४८६

२ जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड, २ पृ० १२४६-५५

३ राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, भाग ४, पृ० २२-२३

राग-रागिनियों में की गई है। यह कवि का एक उत्तम मुक्तक काव्य है। एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

"किते दिन प्रभु समरन विनु ए।
परनिंदा मैं परी रसना विषया रस मन मोए ॥१॥
मच्छर माया पंक मे अपने, दुरलभ ज्ञानसु गोए।
काल अनादि असंख्य निरंतर मोह नींद मैं सोए ॥२॥"

इस कृति में भक्त हृदय की निश्छल भाव-धारा के साथ उपदेश भी बड़े ही सुन्दर, सरल, हृदयग्राही एवं मर्मस्पर्शी बन पड़े हैं। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से कवि की यह कृति उत्तम काव्य कृतियों में स्थान पाने योग्य है।

'महावीर गौतम स्वामी छंद' में कुल मिलाकर ९६ पद्य हैं। सभी पद्य भगवान् महावीर और उनके प्रमुख गणधर गौतम की भक्ति से सम्बन्धित हैं। इसकी रचना संवत् १७४१ से पूर्व ही हो गई थी। इनकी दो हस्तलिखित प्रतियां अभय जैन पुस्तकालय, बीकानेर में सुरक्षित हैं।

'दोहा बावनी' की दो प्रतियां अभय जैन पुस्तकालय, बीकानेर में विद्यमान हैं। पहली प्रति हीरानन्द मुनि की संवत् १७४१ पौस सुदी १ की लिखी हुई है तथा दूसरी भुवनविशालगणि के शिष्य फहरचन्द की संवत् १८२१ आश्विन वदी ७ की लिखी हुई है। १ इसमें कुल ५८ दोहे संगृहीत हैं। उदाहरणार्थ एक दोहा देखिए—

"दोहा बावनी करी, आतम परहित काज।
पढत गुणत वाचत लिखत, नर होवत कविराज ॥५८॥"

'कालज्ञान प्रबंध' (पद्यानुवाद) कवि का वैद्यक ग्रंथ है। इसकी रचना सं० १७४१ भाद्रापद शुक्ल १५ गुरुवार को हुई। २ इसमें कुल १७८ पद्य हैं।

'सवैया बावनी' में ५८ सवैया हैं। इसकी रचना संवत् १७३८ मागसर सुदी ९ को हुई थी। ३

'भावना विलास' में जैनधर्म की बारह भावनाओं का बड़ा ही आकर्षक वर्णन हुआ है। इसमें ५२ पद्य हैं। सवैया छन्द का प्रयोग हुआ है। रचना अत्यधिक रोचक बन पड़ी है। इसकी रचना संवत् १७२७ पौष वदी १० को हुई थी। ४

---

१ राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, भाग ४, पृ० ८६

२ जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खंड २, पृ० १२५१-५२

३ वही, पृ० १२४९-५०

४ वही, भाग ३, खंड २, पृ० १२४८ (अ)
(ब) राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, भाग ४, पृ० १५२

इसकी एक प्रति अभय पुस्तकालय, बीकानेर में है। इसे मुनि हर्षसमुद्र ने नापासर में सं० १७४१ आसो वदी १४ को लिखा था। १ इसके प्रारम्भिक सवैये की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—

"प्रणमि चरणयुग पास जिनराज जू के,
विधिन कै चूरण हैं पूरण है आस के।
दिढ दिल मांझि ध्यान धरि श्रुत देवता को,
सेवैं तै है मनोरथ दास के।।"

'अध्यात्मक फाग' काव्य की रचना सं० १७२५ के आसपास हुई।१ इसकी एक पन्ने की हस्तलिखित प्रति वड़ौदा के जैन ज्ञान मन्दिर के प्रवर्तक श्री कान्ति विजयजी महाराज के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है। यह लघु कृति महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, वड़ौदा के प्राचीन गुर्जर ग्रन्थमाला, ग्रन्थ ३ 'प्राचीन फागु संग्रह' प्रकाशित है। इसमें कुल १३ पद्य हैं।२

यह एक सुन्दर रूपक काव्य है। जब शरीर रूपी वृन्दावन-कुन्ज में ज्ञान-बसंत प्रगट होता है तब बुद्धि रूपी गोपी के साथ पंच गोपों का (इन्द्रियों) मिलन होता है। सुमति राधा के साथ आतम-हरि होली खेलते हैं। प्रसंग बड़ा ही रमणीय है। देखिए—

"आतम हरि होरी खेलिये हो, अहो मेरे ललनां
सुमति राधाजू के संगि।
सुख सुरतरु की मंजरी हो, लई मनु राजा राम,
अब कउ फाग अति प्रेम कउ हो, सफल कीजे मलि स्याम।आतम० २

कवि पर वेदान्त और योग की असर भी दिखाई देती है—

वजी सुरत की वांसुरी हो, उठे अनाहत नाद,
तीन लोक मोहन भए हो, मिट गए दंद विषाद ॥आतम० ७"

लक्ष्मीवल्लभ उपाध्याय की रचनाएँ सं० १७१४ से १७४७ तक की रचित प्राप्त हैं। अतः उनके साहित्य का निर्माणकाल अठारहवीं शती का दूसरा पाद ही माना जा सकता है। निःसंदेह लक्ष्मीवल्लभ इस शती के उत्तम कवियों में एक हैं।

श्री न्याय सागरजी : (सं० १७२८-१७९७)

ये तपगच्छ की सागर शाखा में हुए थे। मारवाड़ के भिन्नाल (मरुधर) गांव में ओसवाल जाति के शाह मोटा और रूपा के यहाँ इनका जन्म संवत् १७२८ श्रावण शुक्ल ८ को हुआ था।३ इनका नाम नेमिदास था। श्री उत्तम सागर मुनि के पास दीक्षा ली थी केशरयाजी तीर्थ में दिगम्बर नरेन्द्रकीर्ति के साथ वाद-विवाद में विजय प्राप्त की। संवत् १७९७ में अहमदावाद की लुहार की पोल में इनका स्वर्गवास हुआ।४ इनकी गुरु परंपरा इस प्रकार बताई गई है—धर्मसागर, विमलसागर, पद्मसागर, उत्तमसागर, न्यायसागर।५

---

१. देखिए—प्राचीन फागु संग्रह, संपा० डॉ० भोगीलाल सांडेसरा, पृ० ४३।
२. प्रकाशित, प्राचीन फागु संग्रह, संपा० डॉ० भोगीलाल सांडेसरा, पृ० २१७-१८।
३. जैन गूर्जर कविओ, भाग २, पृ० ५४२।
४. जैन ऐतिहासिक गूर्जर काव्य संचय ५. जैन गूर्जर कविओ, भाग २, पृ० ५४२

इन्होंने दो चौवीसियों की रचना की है। भाषा बड़ी ही सरल एवं सादी है। विभिन्न राग एवं देशियों में इनके रचे स्तवन भी मिलते हैं। इनका विहार गुजरात में अधिक रहा। इनकी प्राप्त ६ रचनाएं भी भरुच, सूरत और रानेर आदि स्थानों में रची गई है।

इनकी चौवीसी१ और वीसी२ के अधिकांश स्तवन हिन्दी में रचे हैं। इन स्तवनों में कवि का भक्त हृदय अंकित हो उठा है।

"साहिब कब मिले ससनेही, प्यारा हो, साहिब०
काया कामिनि जीउसें न्यारा, ऐसा करत विचारा हो। सा० १
सुन सांइ जब आन मिलावे, तब हम मोहनगारा हो। सा० २
में तो तुमारी खिजमतगारी, झूठ नहिं जे लारा हो। सा० ३"

भक्त के मन-मन्दिर में प्रभु का वास है, और किसी के लिए स्थान नहीं। प्रभु के मुख-पंकज पर कवि का मन-भ्रमर मुग्ध हो उठा है—

"मो मन भितर तुंहि बिराजे और न आवे दाय;
तुझ मुख-पंकज मोहियो, मन भमर रहियो लोभाय।
सनेही साहिब मेरा वे।" ए

भक्त-हृदय का दैन्य और गुणानुराग अपनी सरल एवं संगीतात्मक शैली में मुखर हो उठा है। कवि संगीत का तो गहरा अभ्यासी लगता है। इन्होंने 'महावीर राग माला' की रचना छत्तीस रागों में की है। चौवीसी के स्तवन बड़े ही सरल, सरस एवं भाववाही बन पड़े हैं।

अभयकुशल : (सं० १७३० आसपास)

ये खरतरगच्छ की कीर्तिरत्नसूरि शाखा के ललितकीर्ति के शिष्य पुण्यहर्ष के शिष्य थे।३ इनकी एक गुजराती कृति का उल्लेख श्री मो० द० देसाई ने किया है, जिसकी रचना महाजन नगर में संवत् १७३० में हुई थी।४ इनके संबंध में विशेष जानकारी नहीं मिलती। इनकी एक हिन्दी रचना 'विवाह पटल भाषा' प्राप्त है, जिसकी एक प्रति अभय ग्रन्थालय, बीकानेर में सुरक्षित है।

"विवाह पटल भाषा" कवि की ५६ पद्यों में रचित एक हिन्दी कृति है।

भाषा पर गुजराती का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। भाषा-शैली के उदाहरण के लिए एक पद्य द्रष्टव्य है—

'विवाह पटल ग्रंथ छे मोटो, कहितां कवही नावे त्रोटो
मूरख लोक समझावण सारु. ए अधिकार कीयो हितकार ॥५५॥'

मानमुनि : (स० १७३१-१७३९)

आप नवलऋषि के शिष्य थे। शेष इतिवृत्त अज्ञात है।

इनकी रचित 'संयोगबत्तीसी', १ 'ज्ञानरस' २, 'सवैया मान बावनी' ३ आदि कृतियाँ प्राप्त है। इनकी रचनाओं पर गुजराती का विशेष प्रभाव देखते हुए कवि का गुजरात से दीर्घकालीन संबंध का अनुमान दृढ होता है। श्री मो० द० देसाई ने भी इन्हें जैन गूर्जर कवियों में स्थान दिया है।

'ज्ञानरस' की रचना सं० १७३९, वर्षाऋतु आनन्दमास में हुई थी। इस कृति में १२६ पद्य हैं। आध्यात्म और वैराग्य का सरल उपदेश कृति का लक्ष्य है। भाषा-शैली की दृष्टि से एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"अनंत तुंह अनहद, ग्यान ध्यान मह गावें;
मात ताढा नह मांन, प्रभु नात जात न पावें।
नाद विंद विण नांम, रूप रंग विण रत्ता;
आदि अनन्द नहीं ऐम ध्यान योगेसर धरता।"

केशवदास : (सं० १७३६ - १७४५)

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि केशवदास से ये जैन कवि केशवदास भिन्न हैं। आप खरतरगच्छ की जिनभद्र शाखा में हुए लावण्यरत्न के शिष्य थे। ४ इनका विशेष इतिवृत्त ज्ञात नहीं।

इनकी गुजराती कृति 'वीरमाण उदयभाण रास' को देखते हुए तथा इनकी हिन्दी रचनाओं में गुजरात में प्रचलित देशज शब्दों के प्रयोग को देखकर कवि का गुजरात-निवासी होने का अनुमान किया जा सकता है।

'शीतकार के सवैया' तथा 'केशवदास बावनी' इनकी हिन्दी रचनाएं हैं। दोनों ही खेड़ा के भण्डार में सुरक्षित हैं। इनकी 'बावनी' अधिक लोकप्रिय एवं उत्तम

---

१ जैन गूर्जर कविओ, भाग २, पृ० २८२
२ वही, भाग ३, खण्ड २, पृ० १२८०
३ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६७, अङ्क ४
४ जैन गूर्जर कविओ, भाग २, पृ० ३३६

रचना है। इसकी रचना सं० १७३६ श्रावण सुदी ५ मंगलवार को हुई थी। १ इसमें कुल ६० पद्य हैं। कवि ने वर्णमाला के बावन अक्षरों प्रभुगुण गान किया है। इसे कवि का सफल नीतिकाव्य कहा जा सकता है। भाषा शैली के उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियां देखिए—

'ध्यान में ग्यान में वेद पुराण में कीरति जाकी सबै मन भावै;
केशवदास कु दीजइ दोलत भाव सौ साहिव के गुण गावै।"

असाम्प्रदायिक भावों तथा प्रभावपूर्ण भाषा के कारण यह कवित्त सवैया मय रचना बड़ी सुन्दर वन पड़ी है।

विनयविजय : (सं० १७३९ तक वर्तमान)

आप तपागच्छ के श्री हीरविजयसूरि की परम्परा में उपाध्याय श्री कीर्ति-विजयजी के शिष्य थे। कीर्तिविजय जी वीरमगाम के रहने वाले थे। २

गुजरात निवासी जैन कवि विनयविजय यशोविजय के समकालीन थे। दोनों सहाध्यायी थे– काशी में साथ रहकर विद्याध्ययन किया था। ३ ये संस्कृत, हिन्दी और गुजराती के प्रसिद्ध ग्रंथकार और सुकवि थे। न्याय और साहित्य में इनकी समान गति थी। इनका एक 'नयकर्णिका' नामक दर्शन ग्रंथ अंग्रेजी टीका सहित छप चुका है। उपाध्याय यशोविजय तथा आनन्दघन के समकालीन साहित्यप्रेमी, आगम अभ्यासी, समर्थ विद्वान तथा प्रसिद्ध 'कल्पसूत्र सुवोधिका' के कर्ता रूप में विनयविजय ने संस्कृत तथा गुजराती में विपुल साहित्य की रचना की।

इस महोपाध्याय का जन्म सं० १६६० - ६५ के आसपास अनुमानित है। ४ और निधन सम्वत् १७३८ वताया है। ५ जन्म स्थान एवं प्रारम्भिक जीवन वृत्त के विषय में पूरी जानकारी का अभाव है। इनके पिता का नाम तेजपाल तथा माता का नाम राजश्री था। इनकी दीक्षा सं० १६८० के आसपास हुई थी।

इनका 'श्रीपाल रास' ६ अतिप्रसिद्ध, लोकप्रिय और [illegible]

उपा० श्री यशोविजय ने पूर्ण किया। तार्किक शिरोमणी, प्रखर विद्वान् यशोविजयजी 'श्रीपाल रास' को पूर्ण करते हुए उनकी प्रशस्ति में लिखते हैं—

'सूरि हीर गुरुनी बहु कीर्ति; कीर्तिविजय ऊवज्झायाजी।
शिष्य तास श्री विनय विजयवर, वाचक सुगुण सोहायाजी ॥७॥
विद्या विनय विवेक विचक्षण, लक्षण लक्षित देहाजी।
सोभागी गीतारथ सारथ, संगत सखर सनेहा जी ॥८॥

इसे 'नवपद महिमा रास' भी कहा गया है, क्योंकि इसमें नव पद—अर्हत् सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन नव पद के सेवन से श्रीपाल राजा कितनी बड़ी महानता को प्राप्त करता है, इसी का वर्णन है। विनयविजय जी विरचित इस रास की आरंभिक पंक्तियां इस प्रकार हैं।—

दोहा :

"कल्पवेलि कवियण तणी, सरसति करी सुपसाय,
सिद्धचक्र गुण गावतां, पूर मनोरथ माय। १
अलियविघन सवि उपशमे, जपतां जिन चोवीश,
नमतां निजगुरुन पयकमल, जगमां वधे जगीश। २"

भाषा गुजराती मिश्रित राजस्थानी लगती है। इस प्रकार इन्होंने विविध भाषाओं में अनेक ग्रन्थों की रचना की है और प्राय: सभी उपलब्ध हैं। काशी में रहने के कारण उन्होंने हिन्दी में भी समुचित योग्यता एवं भाषाधिकार प्राप्त कर लिया था। इनके हिन्दी पदों का संग्रह 'विनय-विलास'[1] नाम से प्रकाशित हो गया है। इसमें कुल ३७ पद संगृहीत हैं। इन वैराग्य विषयक पदों में आत्मानुभव का सुमधुर स्त्रोत फूट पड़ा है।

विनय विजयजी ने काशी में रहकर अनेक शास्त्रों का गहन अध्ययन किया था और ये वि॰ संवत् १७३६ तक विद्यमान थे। विस्तृत जीवन चरित्र के लिए 'शांत-सुधारस' भाग २ द्रष्टव्य है।

'विनयविलास' एक विशिष्ट आत्मानुभूति सम्पन्न विद्वान की यह कृति है। इनके प्रारम्भिक साम्प्रदायिक ग्रन्थों को देखने से इस बात की प्रतीति होती है कि कवि प्रारम्भ में जैनमत की ओर प्रवृत्त हुए पर आगे चलकर अपनी 'भाषा' की कविता में अन्तर्मुखी हो गये और इनका संकुचित दृष्टिकोण विस्तृत होकर समदर्शी और सर्वधर्म समन्वयकारी हो गया था।

---

१. प्रका० सज्झाय पद संग्रह में, भीमसी माणेक, बम्बई।

संतोचित वाणी में कवि जीव की मूढता का यथार्थदर्शन कराता हुआ कहता है—

"मेरी मेरी करत बाउरे, फिरे जीउ अकुलाय ।
पलक एक में बहुरि न देखे, जल-बुंद की न्याय ।।
प्यारे काहे कूं ललचाय ।।
कोटि विकल्प व्याधि की वेदन, लही शुद्ध लपटाय ।
ज्ञान-कुसुम की सेज न पाई, रहे लघाय अघाय ।।
प्यारे काहे कूं ललचाय ।।"

सिद्धों और संतों की योग और साधना पद्धति का प्रभाव भी कवि पर स्पष्ट लक्षित होता है । परन्तु विनय विजयजी में भक्ति और वैराग्य का स्वर ऊँचा है । प्रभु का प्रेम पाने के लिए कवि जोगी बनना पसंद करता है । निर्विषय की मुद्रा, मन की माला, ज्ञान-ध्यान की लाठी, प्रभुगुण की भभूत, शील-संतोष की कंथा, आदि धारण कर विषयों की घूणी जलाना चाहता है—

"जोगी ऐसा होय फरुं ।
परम पुरुष सूं प्रीत करुं, और से प्रीत हरुं ।।१।।
निर्विषय की मुद्रा पहरुं, माला फिराऊं प्रभुगुनकी ।।२।।
शील संतोष की कंथा पहरुं, विषय जलाऊं घूणी ।
पांचू चौर पैर की पकरुं, तो दिल में न होय चोरी हूणी ।।३।।"

विनयविजय जी ने उपाध्याय यशोविजय जी के साथ काशी में संस्कृत, न्याय तथा दर्शन के साथ संगीत का भी अपूर्व ज्ञान प्राप्त किया था । उनका पद साहित्य विभिन्न राग-रागिनियों में निबद्ध है । कवि की दृष्टि बड़ी विशाल और अन्तर्मुखी रही है । विनयविजय जी की यह 'विनय विलास' कृति भाषा, शैली और भाव की दृष्टि से एक उत्तम काव्य कृति है ।

श्रीमद् देवचन्द्र : (सं० १७४६ - १८१२)

महान् अध्यात्मत तत्ववेत्ता, योगी तथा जिन-प्रतिमा के अथाग प्रेमी श्रीमद् देवचन्द्र का जन्म वि० सं० १७४६ में बीकानेर के निकटवर्ती ग्राम 'चंग' में हुआ था । १ लूणीया तुलसीदासजी की पत्नी धनबाई की कोख मे उनका जन्म हुआ था । युगप्रधान जिनचंदसूरि की परम्परा के पं० दीपचन्द के ये शिष्य थे । २

---

१ जैन गूर्जर साहित्य रत्नो, भाग १, मुख्त पृ० ३३१
२ जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड २, पृ० १४१७

इस महान् आध्यात्मिक एवं तत्वज्ञानी कवि के सम्बन्ध में कवियण का लिखा 'देवविलास रास' प्राप्त हुआ है जिससे कवि के विषय में पूरी जानकारी मिलती हैं।१ उत्तमविजय जी कृत 'श्री जिनविजय निर्माण रास' तथा पद्मविजय जी कृत 'श्री उत्तमविजय निर्वाण रास' आदि गुजराती रास भी प्राप्त है जिनसे श्रीमद् देवचन्द्र जी से इतिवृत्त पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। २

इनका जन्म नाम देवचन्द था। १० वर्ष की आयु में सम्वत् १७५६ में खरतरगच्छीय वाचक राजसागर जी से इन्हें दीक्षा दिलाई गई। दीक्षित नाम 'राजविमल' रखा गया, पर यह नाम अधिक प्रसिद्ध में नहीं आया।

इन्होंने वलोडा गांव के रम्य वेणातट भूमि-ग्रह में सरस्वती की आराधना कर दीक्षा गुरु राजसागर से शास्त्राभ्यास आरम्भ किया। कुछ ही समय में ये व्युत्पन्न हो गये। षडावश्क सूत्र, नैषधादि, पंचकाव्य नाटक, ज्योतिष, कोष, कौमुदी, महाभाष्यादि व्याकरण ग्रंथ, पिंगल, स्वरोदय; तत्वार्थसूत्र, आवश्यक ब्रहद्वृत्ति, श्री हरिभद्रसूरि, हेमचन्द्राचार्य और यशोविजय जी के ग्रंथ, छकर्मग्रंथ आदि अनेक ग्रंथों एवं शास्त्रों का अध्ययन किया। द्रव्यानुयोग में इनकी विशेष रुचि थी। १६ वर्ष की अल्पायु में ही इन्होंने सर्वप्रथम 'ज्ञानार्णव' का राजस्थानी पद्यानुवाद 'ध्यान-चतुष्पदिका' के नाम से किया। इसकी प्रशस्ति में आपने लिखा है—

"अध्यातम श्रद्धा न वारी, जिहां वसे नरनारी जी।
पर मिथ्या मत ना परिहारी, स्वपर विवेचन कारी जी॥ ९॥
निजगुण चरचा तिहां थी करतां, मन अनुभव में वरता जी।
स्याद्वाद निज गुण अनुसरतां, नित अधिको सुख धरता जी॥१०॥"

यह ग्रंथ सं० १७६६ में मुलतान में पूर्ण हुआ। तदुपरांत सम्वत् १७६७ में बीकानेर आकर हिंदन्दी ग्रंथ 'द्रव्य प्रकाश' की रचना की। सं० १७७६ में मरोट में 'आगमसार' नामक जैन तत्त्व के महत्त्वपूर्ण गद्यग्रंथ की रचना की।

सम्वत् १७७७ में इनका विहार गुजरात की ओर हुआ। सर्व प्रथम गुजरात में जैन धर्म का केन्द्र और समृद्धिशाली पाटण नगरी में इनका आगमन हुआ। तदनन्तर देवचंदजी सर्वत्र गुजरात में विचरण करते रहे अतः इनकी पिछली रचनाओं में गुजराती की ही प्रधानता है। अब ये जीवनपर्यन्त गुजरात के विविध नगर अहमदाबाद, खंभात, सूरत, पालीताना, नवानगर, भावनगर, लींबडी, धांगध्रा आदि में विहार करते रहे।

---

१ जैन गूर्जर कविओ, भाग २, पृ० ४७३

२ श्रीमद् देवचंद्र भाग १, अध्यात्म ज्ञान मण्डल, पादरा, पृ० ६

राजनगर के संघ ने उन्हें वाचक की पदवी दी। सम्वत् १८१२ नगर में ६६ वर्ष की आयु में इनका स्वर्गमास हुआ।

इनकी समस्त रचनाओं का संग्रह 'श्रीमद् देवचन्द्र' नाम से तीन में अध्यात्म प्रसारक मंडल, पादरा की ओर से प्रकाशित हो गया है। प्रा हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती भाषाओं में इनके अनेक ग्रंथ मिलते हैं। वीसी स्नानपूजा आदि के स्तवन एवं आगमसारादि जैन समाज प्रचलित हैं।

इनके पद भक्तिरस तथा वैराग्य भावना से भरे हुए हैं। इनकी तत्वज्ञान और भक्ति का अखण्ड प्रवाह बन कर आती है। इनकी समस्त में अध्यात्म समान रूप से प्रवहमान है।

श्री मो० द० देसाई ने छोटे-बड़े कुछ करीब २० ग्रंथों का उल्लेख कि श्री मणीलाल मोहनलाल पादराकर ने इनकी उपलब्ध कृतियों की संख्या ५८ है। २ इनकी हिन्दी कृतियों में 'द्रव्य प्रकाश' प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त र्म समस्या द्वादश दोधक', 'आत्महित शिक्षा' तथा कुछ पद प्राप्त हैं। यहां व हिन्दी कृतियों का ही सामान्य परिचय दिया जा रहा।

'द्रव्य प्रकाश' – इस ग्रंथ की रचना सं० १७६७ पौष वदी १ बीकानेर में हुई। ३ यह ब्रजभाषा की रचना है। षट द्रव्य निरुपणार्थ सवैय में रचित यह रचना अध्यात्मरसिक मिट्ठूमल भणसाली आदि के लिए वि हुई। इसमें आत्मा-परमात्मा का स्वरूप तथा जीव का स्वरूप समझाता हुआ व द्रव्यों के स्वरूप की विस्तृत विवेचना करता है। द्रव्य गुण पर्याय, जीव पुद्गल अष्टकर्म विवरण, उसकी निवारणा के उपाय, नवतत्व का स्वरूप, स्याद्वाद स्व आदि अनेक महत्व के प्रश्नों का आध्यात्मिक दृष्टि से तथा साथ ही व्यावहारि दृष्टि से निरूपण हुआ। ब्रजभाषा के माधुर्य में गहन ज्ञान की सुवास भर क ने अपनी आत्मसुवास सर्वत्र बिखेर दी है। इसकी आरम्भिक पंक्तियां इ प्रकार है–

---

१ जैन गूर्जर कविओ, भाग २, पृ० ४७८-४९६ तथा भाग ३, खण्ड २ पृ० १४१७-२०

२ श्रीमद् देवचन्द्रजी विस्तृत जीवन चरित्र तथा देव विलास, म० मो० पादराकर, पृ० ७८-८१

'द्रव्य प्रकाश', श्रीमद् देवचन्द्र भाग २, अध्यात्म प्रसारक मंडल, बम्बई

"अज अनादि अक्षय गुणी, नित्य चेतनावान् ।
प्रणमु परमानन्द मय, शिवसरूप भगवान् ॥ १ ॥
जाकै निरखत संते थिरतासु भाव धरै,
वरे निज मोक्ष पद हरे भव ताव को;" आदि ।

कविता के लिए दुःसाध्य विषय से भी कवि की काव्य-प्रतिभा ने मैत्री साध ली है। देवचन्द्र जी की महत् प्रतिभा और महानता के दर्शन तब होते हैं जब कवि-ज्ञान चरम सीमा पर पहुंच कर भी अपनी लघुता तथा नम्रता बताता है। कवि का आत्मलाघव द्रष्टव्य है—

"कोउ बाल मंदमति चित्त सो करे उकती,
नभ के प्रदेश सब गनि देवो कर से;

तैसे में अलपबुद्धि महावृद्ध ग्रंथ मंड्यो,
पंडित हसेंगे निज ज्ञान के गहर सौ ॥"

भाषा परिमार्जित व्रजभाषा है। मुख्यतः 'सवैया इकतीसा'" में संपूर्ण काव्य रचित है। यह राग अपनी मधुरता एवं गति के लिए प्रख्यात है। कहीं भी अवैविध्य दोष नहीं।

अपूर्व अध्यात्मज्ञानी कवि ने इस कृति में अध्यात्म की विविध स्थितियों एवं विषयों का सूक्ष्म से सूक्ष्म वर्गीकरण कर एक सुसंबद्ध वैज्ञानिक पद्धति से तथा मानसशास्त्री की सूक्ष्म निरीक्षण वृत्ति से अध्यात्मज्ञान की उलझनों को सुलझाने का प्रयास किया है।

उपमा उत्प्रेक्षा तथा रूपकादि का प्रयोग स्वाभाविक एवं सुन्दर बन पड़ा है। इसकी प्रासादिकता एवं भाषा मधुर्य इसे उत्तम काव्यों में रख देता है।

कवि अन्य हिन्दी रचनाओं में साधु समस्या द्वादस दोधक, आत्महित शिक्षा, तथा पदादि हैं।

"साधु समस्या द्वादस दोधक' १ १२ दोहों की एक छोटी रचना है जिसमें 'मुनिवर चारित लीन' रहने का सरल उपदेश दिया गया है। कवि का मानना है कि चक्रवर्ती से भी अधिक सुख अन्तर्मुखी हो आत्म तत्व का सच्चा ज्ञान और उसकी अनुभूति पाने में है।

'आत्महित शिक्षा' एक छोटी रचना है। इसमें आत्मा को स्थिर कर अध्यात्म ज्ञान के अक्षय खजाने को पाने तथा संसारकी मोहदशा से चेतने का सरल उपदेश है।

१ प्रकाशित, पंच भावनादि सजझाय सार्थ, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ६८-६६

इनका पद साहित्य भी समृद्ध कहा जा सकता है। प्राप्त पद 'श्रीमद् देवचंद्र' भाग २ में तथा श्री अगरचन्द नाहटा जी सम्पादित 'पंच भावनादि सजझाय सार्थ' में संगृहीत है। इनके पद भक्तिरस तथा वैराग्यरस से आपूर्ण हैं। भक्ति, उपदेश और अपनी आत्मदशा का अद्‌भुत समन्वय कवि ने किया है। उपदेश देने की कवि की अपनी विशिष्ट शैली रही है। अभ्यासी और शिक्षक दोनों ही कवि एक साथ बनकर आया है। उपदेश की सरल शैली अवलोकनीय हैं—१

"मेरे प्रीउ क्युं न आप विचारो।
कहसै हो कहसे गुणधारक, क्या तुम लागत प्यारो। १ टेक।
तजि कुसंग कुलटा ममता को, मनो वयण हमारो
जो कछु कहूं इनमें तो, मोकूं सूंस तुम्हारो। २ मेरे० "

श्रीमद् देवचन्द जी की अत्यंत लोकप्रिय कृति उनकी चौवीसी है। जैन स्तवन साहित्य में तीन चौवीसीयां अत्यन्त लोकप्रिय एवं कला की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण रही हैं- उनमें . प्रथम आनन्दघन जी की दूसरी यशोविजय जी की तथा तीसरी देवचन्द जी की आती हैं। इनकी चौवीसी भक्ति की निर्झरिणी, काव्यत्व की सुरसरि तथा जैनत्व का निचोड़ वन कर आती है।

एक ओर कवि अपने प्रभु को कितना मीठा उपालंभ देता है तो दूसरी ओर तुरन्त विनम्र वन प्रभु की दया-याचना करता है। कवि का प्रभुप्रेम अनुपम है-

"तार हो तार प्रभु मुज सेवक भणी, जगतमां एटलुं सुजभ लीजे।
दास अवगुण भर्यो जाणी पोतातणो, दयानिधि दीन पर दया कीजे॥"

कवि प्रभु का सानिध्य पाने के लिए तरस रहा है। पर असहाय हैं, कारण उसके पास न तो पंख हैं और न अन्तःचक्षु,

होवत जो तनु पांखडी, आवत नाथ हजूर लाल रे।
जो होती चित आंखडी, देखत नित्य प्रभु नूर लाल रे॥"

भक्तिदशा के इन दिव्य उद्‌गारों में भाषा सरल, माधुर्य एवं प्रसादगुण सम्पन्न है। रूपक, उपमादि की छटा देखते ही बनती हैं। सरल भाषा में दिव्यभावों की अभिव्यक्ति हुई है। श्रीमद् देवचन्द महत् ज्ञानी एवं रससिद्ध कवि हैं। 'द्रव्य प्रकाश' में कवि का यही व्यक्तित्व उभर उठा है। कवि ने 'ऊंचे' आत्मज्ञान की रचना पद लालित्य और माधुर्य से पूर्ण व्रजभाषा में की है। संस्कृत, प्राकृत, व्रज, हिन्दी तथा गुजराती आदि भाषाओं में उत्तम काव्य कृतियां रचकर देवचन्द जी ने भाषा विकास की दृष्टि से भी अपना महत् योग दिया है।

---

१ पंच भावनादि सजझाय सार्थ संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० १६०, पद ३

उदयरत्न : (सं० १७४९ - १७९९ लेखनकाल)

१८वीं शताब्दी के ये जैन कवि खेड़ा (गुजरात) के रहने वाले थे।१ तपच्छ के विजयराजसूरि की परम्परा में श्री शिवरत्न के शिष्य थे। २ ये बड़े प्रसिद्ध कवि थे। उनका रचनाकाल संवत् १७४९ से १७९९ तक का अनुमानित है।३ श्रीमद् बुद्धिसागर जी के कहने के अनुसार भी ये खेड़ा के निवासी थे और मीयागाम में इनका स्वर्गवास हुआ था। ४

इन्होंने स्थूलीभद्र के नवरस लिखे थे। बाद में आचार्य श्री से फटकार मिलने से 'ब्रह्मचर्यनी नववाड' के काव्यों की रचना की। खेड़ा में तीन नदियों के बीच चार मास तक काउस्सग्ग ध्यान में स्थिर रहे थे। अनेक भावसार आदि लोगों को जैनधर्म के रागी बनाये। संवत् १७८९ में इन्होंने शत्रुंजय की यात्रा की थी। उदयरत्न एक बार सं० १७५० में संघ के साथ शंखेश्वर पार्श्वनाथ की यात्रा को गये थे। वहां महाराज श्री ने दर्शन किये बिना अन्नादि न ग्रहण करने का अभिप्राय व्यक्त किया। पुजारी ने मन्दिर खोलने से मना कर दिया। उस समय कहते हैं कवि ने "प्रभातिया" रचा, हार्दिक भाव से प्रभु की स्तुति की और एकदम बिजली के कडाके के साथ जिन-मन्दिर के द्वार खुल गये। संघ ने श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ के दर्शन किये। इससे कवीश्वर की श्रद्धा और प्रभु के प्रभाव की प्रशंसा सर्वत्र होने लगी।

उदयरत्न को उपाध्याय की पदवी प्राप्त थी। इनकी सब कृतियां गुजराती भाषा में ही रची गई हैं। गुजराती भाषा में इन्होंने विपुल साहित्य की सर्जना की है। श्री मोहनलाल दलिचन्द देसाई ने अपने 'जैन गूर्जर कविओ' में करीब २० छोटे-बड़े ग्रंथों का उल्लेख किया है। इनकी चौवीसी के स्तवन, सरल एवं सरस है। इसके अतिरिक्त भजन-प्रभातिए, श्लोक, स्तवन, स्तुति रास आदि की रचना भी की है। स्तवन और पद नितांत सुन्दर और भाववाही बन पड़े हैं। इनके सिद्धाचल जी के स्तवन अति लोकप्रिय हैं। इन्होंने अनेक पद हिन्दी में भी लिखे हैं, जिन पर गुजराती का अत्यधिक प्रभाव है।

काम, क्रोध, रागादि का नाश कर प्रभु के ध्यान में एक लय होने के बड़े ही भाववाही उपदेश का एक उदाहरण दृष्टव्य है—

---

१ भजन संग्रह, धर्मामृत संपा० पं० बेचरदासजी, पृ० २४

२ जैन गूर्जर साहित्य रत्नो, भाग १, बम्बई, पृ० १७२

३ वही

४ जैन गूर्जर कविओ, भाग २, पृ० ४१४

"शीतल शीतल नाथ सेवो, गर्व गाली रे।
भव दावानल भंजवाने, मेघ माली रे ।। शी० १
आश्रव रुंधी एक बुद्धि, आसन वाली रे।
ध्यान एहनुं मनमां धरो, लेई ताली रे ।। शी० २
काम नें बाली, क्रोध ने टाली, राग ने राली रे।
उदय प्रभुनुं ध्यान धरतां, नित दीवाली रे ।। शी० ३ "

संगीतमयता, पद-लालित्य, अर्थ-सारस्य एवं सरल भाववाही शैली में चिरंतन उपदेश देना कवि की कला है।

सौभाग्यविजयजी : (रचनाकाल सं० १७५० आसपास)

श्री मोहनलाल दलिचन्द देसाई ने दो तपगच्छीय जैन साधु सौभाग्य विजय का उल्लेख किया है। एक साधुविजय जी के शिष्य जिन्होंने संवत् १७१३ के बाद जूनागढ़ में 'विजयदेवसूरि सज्झाय' की रचना की। १ दूसरे हीरविजयसूरि की परम्परा में लालविजय के शिष्य थे जिन्होंने "सम्यकत्व ६७ बोल स्तवन" तथा 'तीर्थमाला स्तवन' (संवत् १७५०) की रचना की। २ इन दोनों से ये सौभाग्य-विजय जी पृथक् लगते हैं। इनकी गुरु परम्परा, जन्म तथा विहारादि का पता नहीं चला है। इन सौभाग्यविजय जैन गूर्जर साहित्य रत्नो, भाग १ में दिया गया है। ३ इनकी रचित चौवीसी' से कुछ स्तवन भी इसमें संकलित हैं। चौवीसी की रचना बड़ी सुन्दर बन पड़ी है। भाषा पर गुजराती-मारवाड़ी का प्रभाव है। इसकी रचना संवत् १७५० के आसपास हुई है। उदाहरणार्थ एक प्रसंग अवलोकनीय है जिसमें राजुल की मिनोत्कंठा तथा विरहनिवेदन सूर की गोपियों की याद दिला देता है। कवि पार्श्व के रूप-सौन्दर्य का कितना चित्ताकर्षक चित्र प्रस्तुत करता है--

पद लालित्य, भाषा सौन्दर्य, संगीतमयता एवं चित्रोपमता से युक्त कवि की यह रचना उत्तम काव्य कृतियों में स्थान पाने योग्य है।

ऋषभसागर : (रचनाकाल सं० १७५० आसपास)

तपगच्छ के पंडित ऋद्धिसागर के शिष्य ऋषभसागर के जन्म, दीक्षा, विहारादि तथा स्वर्गवास आदि का अभी कुछ भी पता नहीं लगा है। इनकी गुरु परम्परा इस प्रकार बताई गई है—चारित्रसागर, कल्याणसागर, ऋद्धिसागर, ऋषभसागर।१ इन्होंने गुजराती में विद्याविलास रास तथा गुणमंजरी वरदत्त चौपई (आगरा संवत् १७४८) की रचना की है।२ इनकी संवत् १७५० के आसपास रचित चौवीसी भी मिलती है।३ 'चौवीसी' के अधिकांश स्तवन हिन्दी में रचित हैं जिन पर गुजराती का प्रभाव विशेष है। भाषा शैली के उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—

"त्रिशलानन्दन त्रिहुं जगवन्दन, आनन्दकारी ऐन।
साचो सिधारथ सेवन्यो हो, निरखित निर्मल नैन ॥६॥
सकल सामग्री लइ इण परि, मिलज्यो, साचै भाव।
ऋद्धिसागर शीस ऋषभ कहे, जो हुवै अविचल पदनो चाव ॥७॥"

चौवीसी की रचना बड़ी ही सरल भाषा में हुई है।

विनयचंद्र : (सं० १७५१-५५ रचनाकाल)

विनयचंद्र नाम के कई जैन कवि हो गये हैं। एक विनयचंद्र १४ वीं शताब्दी में तथा दूसरे १६ वीं शताब्दी में तथा तीसरे तपागच्छीय विजयसेनसूरि की परम्परा में मुनिचन्द्र के शिष्य विनयचंद्र हो गये हैं। १६ वीं शताब्दी में भी दो विनयचंद्र नामक जैन कवि हुए हैं, जिनमें एक श्रावक स्थानकवासी भी है। विवक्षित विनयचंद्र खरतरगच्छीय जिनचंद्रसूरि की परम्परा में हुए हैं। युगप्रधान जिनचंद्रसूरि मुगल-सम्राट अकवर प्रतिबोधक, महान् प्रसिद्ध और प्रभावक आचार्य हुए हैं। कवि ने स्वयं 'उत्तम कुमार चरित्र' में अपनी गुरु परम्परा दी है। उसके अनुसार उनकी गुरु परम्परा इस प्रकार है—युगप्रधान जिनचंद्रसूरि-सकलचन्द्रमणि, अष्टलक्षीकर्त्ता महोपाध्याय समयसुन्दर, मेघविजय, हर्षकुशल, हर्षनिधान, ज्ञानतिलक, विनयचंद्र।

कवि विनयचंद्र के जन्म के विषय में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। इतना निश्चित है कि कवि ने गुजरात में रहकर हिन्दी तथा गुजराती में मिश्रित राजस्थानी

---

१. जैन गूर्जर कविओ, भाग २, पृ० ३८०।

२. वही।

३. जैन गूर्जर साहित्य रत्नो, भाग १, सूरत, पृ० २१७-२२३।

में रचनाएँ की हैं। इनकी रचनाओं में प्रयुक्त राजस्थानी लोकगीतों की देशियों को देखते हुए श्री भंवरलाल जी नाहटा ने यह धारणा की है कि कविवर का जन्म राजस्थान में ही कहीं हुआ होगा।१ इनकी प्रथम रचना 'उत्तमकुमार चरित्र चौपाई' की रचना संवत् १७५२ में पाटण में हुई।२

इनकी विभिन्न कृतियों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कवि ने अपनी विद्वत गुरु परम्परा से साहित्य, जैनागम, अध्यात्म तथा श्रमण संस्कृति का बड़े मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया होगा। इनकी भाषा में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य देखते हुए यह धारणा भी उतनी ही सत्य है कि कवि ने संस्कृत भाषा एवं काव्य ग्रंथों का भी पूर्णरूपेण अध्ययन किया था। इनके विहारादि की जानकारी के लिए भी इनकी कृतियां ही प्रमाण हैं। इनकी प्राप्त रचनाएँ संवत् १७५२ से १७५५ तक की है। कुछ रचनाओं में संवतोल्लेख नहीं है। इनकी अधिकांश रचनाएँ गुजरात में ही रची गई हैं। पाटण और राजनगर (अहमदाबाद) में रचित कृतियां विशेष हैं। 'उत्तमकुमार चरित्र चौपाई', 'बाडी पार्श्वस्तवन' तथा 'नारंगपुर पार्श्व स्तवनादि' की रचना पाटण में हुई। विहरमान वीसी, स्थूलिभद्र बारहमासा, ११ अंग सज्झाय तथा चौवीसी की रचना राजनगर (अहमदाबाद) में हुई।

कवि विनयचंद्र प्रतिभासम्पन्न एक समर्थ विद्वान तथा उच्च कोटि के कवि थे। उनकी अल्पकाल की रचनाओं से ही यह बात सिद्ध है और भी कई रचनाओं का निर्माण कवि ने किया होगा—इस ओर विशेष शोध की आवश्यकता अवश्य है। कवि की उपलब्ध रचनाओं में उपर्युक्त रचनाओं के फुटकर स्तवन, बारहमासे, सज्झाय, गीत आदि भी हैं।

'उत्तमकुमार चरित्र चौपाई' कवि की यह प्रथम प्राप्त कृति है। इसमें कवि की विद्वता एवं कवित्व मुखर उठा है। जैन धर्म परायण और सुशील मदालसा के अप्रतिम सौन्दर्य का वर्णन द्रष्टव्य है—

"नारी मिग्गानयन, रंगरेखा, रस राती;
वदे सुकोमल वयण महा भर यौवन माती।
सारद वचन स्वरूपे, सकल सिणगारे सोहै,

१. विनयचंद्र कृति कुसुमांजलि, भंवरलाल नाहटा, पृ० ५।
२. संवत सतरै बावनै रे, श्री पाटण पुर मांहि,
फागुण सुदि पांचम दिनै रे, गुरुवारे उच्छाहि।
—श्री उत्तमकुमार चरित्र चोपाई, विनयचंद्र कृति कुसुमांजलि, पृ० २०७।

अपछर जेम अनूप मुलकि मानव मन मोहै।
कलोल केलि बहु विधि करैं, भूरिगुणे पूरण भरी,
चन्द्र कहै जिणधरम विण कामिणी ते किणा कामरी।"

इस चरित्र कथा द्वारा कवि ने सदाचरण, मानवधर्म एवं पुरुषार्थ का उत्तम आदर्श ध्वनित किया है। भाषा सहज, प्रसंगानुकूल एवं सरल है। भाषा पर गुजराती का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। कवि की यह कृति बड़ी सरल एवं सरस काव्यकृति बन पड़ी है।

कवि की अन्य कृतियां भी विविध ढालों में रचित भक्तिरस की बड़ी सरल काव्य-कृतियां हैं। फबती हुई उपमाएँ, ललित शब्द योजना तथा सरल भावाभिव्यक्ति इनके आकर्षण हैं। कवि की मुक्तक गीतादि रचनाओं में भी मार्मिक उद्गार व्यक्त हुए हैं। कहीं सरल भक्ति, कहीं वक्रोक्तिपूर्ण उपालंभ तो कहीं विभिन्न रसों की भावधारा देखते ही बनती है। भाषा की प्रौढ़ता, पदलालित्य और लोक-संगीत का माधुर्य सहज ही मन को आकृष्ट कर लेता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

मांई मेरे सांवरी सूरति सुं प्यार।
जाके नयन सुधारस भीने, देख्यां होत करार॥
जासौं प्रीति लगी है ऐसी, ज्यों चातक जलधार।
दिल में नाम वसै तसु निसदिन, ज्युं हियरा मइं हार॥

हंसरत्न : (रचनाकाल सं० १७५५ आसपास)

तपगच्छ के विजयराजसूरि की परम्परा में हंसरत्न हुए हैं।[१] ये उदयरत्न के सहोदर भाई थे। इनके पिता का नाम वर्धमान था और माता का नाम मानबाई था। इनका दीक्षापूर्व का नाम हेमराज था। इनका स्वर्गवास मीयां गांव (गुजरात) में सं० १७९८ चैत्र शुक्ल १० को हुआ।[२] इनकी दो रचनाएँ प्राप्त हैं। 'चौबीसी' और 'शिक्षाशत दोधका'। शिक्षाशत दोधका' में व्यावहारिक जीवनोपयोगी उपदेशों से युक्त सौ से भी अधिक दोहों का संग्रह है। 'चौबीसी' के अधिकांश स्तवन हिन्दी में हैं जिन पर गुजराती का प्रभाव अत्यधिक है। 'चौबीसी' के स्तवन विभिन्न देशियों में निबद्ध सरल एवं सरस बन पड़े हैं। इसकी रचना सं० १७५५ माघ कृष्ण ३ मंगलवार को हुई।[३]

---

१. जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड २, पृ० १४५०।
२. जैन गूर्जर साहित्य रत्नो, भाग १, सूरत, पृ० २३०।
३. जैन गूर्जर कविओ, भाग २, पृ० ५६१।

भाषा-शैली की दृष्टि से एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"में गाया रे ईम जीन चौवीसे गाया ।
संवत सत्तर पंचावन वरसे, अधिक ऊमंग बढाया ।
माघ अस्तित तृतिया, कुंजवासरे, ऊद्यम सिद्ध चढाया रे ।५
तप गण गगन विमान दिनकर, श्री राजविजयसूरि राया ।
शिष्य तेस तसु अन्यय गणिवर, ग्यानरत्न मन भाया रे ।६
तस्य अनुचर मुनिहंस कहे ईम, आज अधिक सुख पाया ।
जीन गुण ज्ञान बोवे गावे, लाभ अनन्त उपाया रे ।।७।।"

कवि की भाषा बड़ी सरल एवं सादी है ।

भट्टारक रत्नचंद्र (द्वितीय) : (सं० १७५७ आसपास)

ये भ० अभयचन्द्र की परम्परा में हुए भ० शुभचंद्र के शिष्य थे । भ० शुभचंद्र (सं० १७२१–४५) के पश्चात् इन्हें भट्टारक गद्दी पर अभिषिक्त किया गया ।१ इनका सम्बन्ध सूरत एवं पोरबन्दर की गद्दियों से विशेष रहा है । संवत् १७७६ की रचित इनकी एक चौवीसी प्राप्त है ।

भ० रत्नचंद्र की चार कृतियों का उल्लेख डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल जी ने किया है ।२ रत्नचंद्र की इन रचनाओं में उनकी साहित्याभिरुचि एवं हिन्दी-प्रेम के दर्शन होते हैं । उपर्युक्त कृतियों के उपरांत इनके कुछ स्फुट गीत एवं पद भी उपलब्ध हैं ।

प्राय: इनकी कृतियां तीर्थंकरों की स्तुतिरूप में रची गई हैं । 'बावन-गजागीत' कवि की एक ऐतिहासिक कृति है, जिसमें संवत् १७५७ पौष सुदि २ मंगलवार के दिन पूर्ण हुई चूलगिरि की ससंघ यात्रा का वर्णन है ।

विद्यासागर : (१८ वीं शती–द्वितीय चरण)

ये भट्टारक अभयचंद्र के शिष्य एवं भ० शुभचंद्र के गुरुभ्राता थे । इनका सम्बन्ध बलात्कारगण एवं सरस्वती गच्छ से था । इनके गुरु तथा गुरुभ्राता शुभचंद्र (द्वितीय) का सम्बन्ध गुजरात से विशेष रहा है, जिसका उल्लेख पिछले पृष्ठों में हो चुका है । इनकी हिन्दी रचनाओं में गुजराती प्रयोग देखते हुए संभव है ये भी गुजरात में दीर्घकाल पर्यंत रहे हों । इनके विषय में विशेष जानकारी अनुपलब्ध है ।

---

१. राजस्थान के जैन संत–व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ० १६४ ।
२. वही, पृ० २०६ ।

एवं अपूर्व कल्पना से युक्त स्तवन हैं। कवि की हिन्दी भाषा पर गुजराती का अत्यधिक प्रभाव है। भाषा शैली की दृष्टि से एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

"आदि जिनेसर साहिवा, जन मन पूरे आश लाल रे।
करीय कृपा करुणा करो, मन मंदिर करो वास लाल रे ॥आ० १
महिमावन्त महन्त छे, जाणी कीधो नेह लाल रे।
आविहउ ते नित पालीई, चातक जिम मनि मेहनलाल रे ॥आ० २"

जिन उदयसूरि : (सं० १७६२ आसपास)

ये खरतरगच्छ की वेगड शाखा में हुए गुणसमुद्रसूरि जिनसुन्दरसूरि के शिष्य थे। इनके बारे में भी विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं। श्री मोहनलाल दलिचंद देसाई ने इनकी एक गुजराती कृति 'सुरसुन्दरी अमरकुमार रास'१ (सं० १७१६) तथा एक हिन्दी कृति '२४ जिन सवैया'२ (सं० १७६२) का परिचय दिया है। इस आधार पर इस कवि को जैन-गूर्जर कवि माना है।

'२४ जिन सवैया' कवि की हिन्दी कृति है। इसकी रचना संवत् १७६२ के बाद हुई थी। इसमें अन्तिम प्रशस्ति के साथ कुल २५ पद्य हैं। कृति २४ तीर्थंकरों की स्तुति में रची गई हैं। इसकी एक प्रति जिनदत्त भण्डार बम्बई, पत्र एक से ७-१३, पोथी नं० १० में सुरक्षित है। इसकी एक और प्रति अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर में है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है जिसमें—कवि ने रचना का हेतु बताते हुए लिखा है—

"पाप की ताप निवारन को हिम ध्यान उपावन की विरचीसी,
पुण्यथ पावन को गृह श्री शुद्ध ग्यानं जनावन कै परचीसी।
ऋद्धि दिवावन को हरि मीयह बुधि वधावन की गिरचीसी,
श्री जिनसुन्दरसूरि सूसीस कहै, नउदैसूरि सुजैन पचीसी।२५॥"

[illegible]नदास : (सं० १७६७ आसपास)

ये लोंकागच्छ गुजरात के श्री संघराज जी महाराज के शिष्य थे।३ इनके जन्म, जाति और मूल निवास के संबंध में प्रामाणिक जानकारी नहीं मिलती। कच्छ के

१. जैन गूर्जर कविओ, भाग २ पृ० १७६।
२. वही, भाग ३, खण्ड २, पृ० १२१३।
३. [illegible] संघराज लोंकागच्छ शिरताज आज।
तिनकी कृपा ते कविनाई पाई पावनी॥
[illegible] कृत उपदेश बावनी, संपा० डॉ० अम्बाशंकर नागर, गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रंथ, पृ० १८२।

रचना की है। कवि का प्रत्येक कवित्त सरल एवं प्रभावोत्पादक है। आत्मानुभूति, अर्थ सारस्य एवं पदलालित्य से सरावोर ये कवित्त बड़े ही सजीव एवं मर्मस्पर्शी हो उठे हैं। जीवन और जगद् की क्षणभंगुरता एवं अंजलि के जल की भांति आयु के छीजने की बात कवि ने किस प्रभावपूर्ण शब्दों में चित्रित की है—

"अंजली के जल ज्यों घटत पल-पल आयु,
विष से विषम बिविसाउन विष रस के,
पंथ को मुकाम कछु वाप को न गाम यह,
जैवो निज धाम तातें कीजे काम यश के,
खान सुलतान उमराव राव रान आन,
किसन अजान जान कोऊ न रही सके.
सांझरु विहान चल्यो जात है जिहान तातैं,
हम हू निदान महिमान दिन दस के ॥२०॥"

जैन मतावलंबी होते हुए भी कवि ने सर्वत्र उदार एवं असाम्प्रदायिक विचारों को व्यक्त किया है। मन बड़ा हरामी है। उसे वश में करना पहली शर्त है। पर तप-जपादि, मूंड़ मुंड़ाने, वनवास लेने और बाह्याचारों से वश में नहीं होता। बस मन शुद्ध होना चाहिए और परमात्मा की एक मात्र आशा, उसी का भाव निरन्तर रमता रहना चाहिए। इसी भाव की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—

"मन में है आस तो किसन कहा वनवास ॥५७॥"
"ह्वै है मन चंग तो कठौती में गंग है ॥२९॥"
"छांड़ी ना विभूति तो विभूति कहा धारी है ॥९॥"

शांतरस की इस कृति में ज्ञान, वैराग्य और उपदेश मुख्य विषय रहे है। [illegible]। सरल, मुहावरेदार, व्रजभाषा है। भाषा भावानुकूल तथा सहज और स्वाभा-[illegible] अलंकारों से युक्त है। इसकी रचना ३१ मात्रा के मनहरण कवित्त में हुई है। भाषा और छन्द योजना पर भी कवि का अच्छा अधिकार स्पष्ट लक्षित है। कवि की दृष्टांतमयी सरल शैली और भाषा-कौशल सराहनीय है। संक्षेप में, यह कृति भाषा, भाव एवं शैली की दृष्टि से सफल एवं उत्तम काव्य कृति है।

हेमकवि : (सं० १७३६)

ये अंचलगच्छ के प्रसिद्ध आचार्य श्री कल्याणसागरसूरि के शिष्य थे।[1]

१. जैन साहित्य संशोधक, खंड २, अंक १, पृ० २५।

धर्ममूर्तिसूरि१ के शिष्य कल्याणसागरसूरि गुजरात के ही थे। इनका परिचय १७ वीं शती के कवियों के साथ दिया गया है।

कवि हेम और उनकी एक कृति "मदन युद्ध" का उल्लेख श्री पं० अम्बालाल प्रेमचन्द शाह ने किया है। इसकी मूल प्रति उनके पास सुरक्षित है।२ इसी कृति के आधार पर इसका संपादन भी किया है जो "आचार्य आनन्दशंकर ध्रुव स्मारक ग्रंथ" में प्रकाशित है।३ इस कृति में गुजराती और राजस्थानी शब्द प्रयोगों को देखते हुए यह प्रतीत होता है कि कवि का संबंध राजस्थान और गुजरात दोनों से रहा है।

"मदन युद्ध" में मदन और रति का संवाद है। जैनाचार्य श्री कल्याणसागर-सूरि को महाव्रतों नें से न डिगाने के लिए रति कामदेव से प्रार्थना करती है। कामदेव रति की प्रार्थना अस्वीकार कर शस्त्रास्त्र से सज्जित हो संयमशील आचार्य को साधना-च्युत करने के लिए प्रयाण करता है। परन्तु तपस्वी आचार्य की सात्विक गुणप्रभा के आगे कामदेव हतवीर्य बनता है और अन्त में तपस्वी मुनि के चरणों में गिरकर क्षमा याचना करता है। भाषा शैली की दृष्टि से एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"ओर उपाव को कीजीइं ज्यों यह माने मोहें।
चूप रहो अजहुं लज्जा नहीं काहा कहूं पीय तोहें ॥८९॥
एक हारि को अधिक दुख कहें वेंन जु मेंन।
दाधे उपर लोंन को खरो लगावत ऐंन ॥९०॥"

इस काव्य की रचना सं० १७७६ में हुई थी।४ काव्य साधारण है। भाषा सरल एवं सरस है।

कुशल : (सं १७८६–८९)

ये लोकागच्छीय (गुजरात) रामसिंह जी के शिष्य थे।५ कवि कुशल ने सं० १७८६ में 'दशार्ण भद्र चोढालिया', सं० १७८९ चैत्र सुदि दूज को मेडता में "सनत

---

१. मदन युद्ध, अन्तिम कलश, आनन्दशंकर ध्रुव स्मारक ग्रंथ, पृ० २५५।

२. आनन्दशंकर ध्रुव स्मारक ग्रंथ, मदन युद्ध, पं० अम्बालाल प्रेमचन्द शाह, पृ० २३८।

३. आनन्दशंकर ध्रुव स्मारक ग्रंथ, गुजरात वर्नाक्युलर, सोसायटी, अहमदाबाद, पृ० २४३ से २५५ में प्रकाशित।

४. आचार्य आनन्दशंकर ध्रुव स्मृति ग्रंथ, पं० अम्बालाल प्रेमचन्द शाह का लेख, पृ० २३८।

५. जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड २, पृ० १४५३।

कुमार चौढालिया", "लघु साधु चन्दना" तथा "सीता आलोयणा" का प्रणयन किया था।१

"सीता आलोयणा" कवि की महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय कृति है। इसमें कवि ने ६३ पद्यों में सीता के वनवास समय में की गई आत्म-विचारणा बड़ा सूक्ष्म एवं सजीव वर्णन किया है। भाषा शैली की दृष्टि से एक उदाहरण पर्याप्त होगा–

> "सतीन सीता सारखी, रति न राम समान,
> जती न जम्बू सारखो, गती न मुगत सुथांन।
> सीताजी कुं रामजी, जब दीनो वनवास,
> तब पूरव कृत करमकुं, याद करे अरदास।"

भाषा गुजराती प्रभावित हिन्दी है।

कनककुशल भट्टार्क : (सं० १७९४ आसपास)

कच्छ (गुजरात) के महाराजा राव श्री लखपतसिंह जी कवि-कोविदों के बड़े चाहक थे। उन्होंने ब्रजभाषा काव्य रचना की शास्त्रीय शिक्षा दी जाने वाली पाठशाला की स्थापना की थी। इस पाठशाला के योग्य संचालक जैन साधु श्री कनककुशल नियुक्त किये गये। ये राजस्थान के किशनगढ़ नगर के कच्छ प्रदेश में से आये थे।२ कनककुशल संस्कृत और ब्रजभाषा के कुशल साहित्यकार तथा प्रकांड विद्वान थे। महाराव ने उन्हें भट्टार्क की पदवी से विभूषित किया था। कच्छ के इतिहास से भी यह पता चलता हैं कि कनककुल जी से लखपतसिंह ने ब्रजभाषा साहित्य का अभ्यास किया था। इस पाठशाला मं किसी भी देश का विद्यार्थी प्रशिक्षण प्राप्त करने आ सकता था और उसके खाने-पीने और आवास का प्रबन्ध महाराव द्वारा होना था।३

इनके गुरु प्रतापकुशल थे। गुरु बड़े प्रतापी, चमत्कारी एवं वचन-सिद्ध प्राप्त थे। शाही दरबार में इनका काफी सम्मान था। कुंअरकुशल के 'कवि वंश वर्णन' से पता चलता है कि कनककुशल अपने समय के सम्मानित व्यक्ति थे। कनककुशल और कुंअरकुशल दोनों गुरु-शिष्य कच्छ के महाराउ लखपतसिंह जी के कृपापात्र तथा सम्मान प्राप्त आचार्य एवं कवि थे। इन्होंने ऐसे ग्रंथों की रचना की है जो उनके असाधारण व्यक्तित्व, कवित्व तथा आचार्यत्व का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इनकी

१. जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड २, पृ० १४५३-५४।
२. कुंअर चंद्रप्रकाशसिंह, भुज (कच्छ) की ब्रजभाषा पाठशाला, पृ० २
३. कच्छकलाधर, भाग २, पृ० ४२४।

कृतियों की कुछ प्रतियाँ जोधपुर, बीकानेर तथा पाटण के संग्रहों में सुरक्षित हैं। कनककुशल भट्टार्क के उपलब्ध ग्रंथ "लखपत मंजरी नाममाला", "सुन्दर शृङ्गार की रसदीपिका", "महाराओ श्री गोहडजीनो जस", "लखपति यश सिन्धु" आदि हैं।

इनकी 'लखपत मंजरी नाममाला' तथा 'लखपति यशसिन्धु' कृतियां विशेष महत्व की हैं। ये कृतियां महाराव लखपतसिंह की प्रशंसा में रची गई हैं। भाषा-शैली की दृष्टि से एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"अचल विंध्य से अनुत्र किधों ऐरावत डरत।
विकट वेर वेताल कनक संघट जव कुरत।
अरि गढ गंजन अतुल सदल शृङ्खला वल तोरत।
ऐसे प्रचण्ड सिंधुर अकल, महाराज जिन मान अति।
पठए दिल्लीस लखपति को, कहे जगत धनि कच्छपति॥"

कुंअरकुशल भट्टार्क : (सं० १७९४–१८२१)

गुजरात के कच्छ प्रदेश में ब्रजभाषा-साहित्य की परम्परा का सूत्रपात करने वाले, हेमविमलसूरि संतानीय और प्रतापी गुरुवर्य प्रतापकुशल के पट्टधर कनककुशल भट्टार्क के ये प्रधान शिष्य थे।[1] ये महाराव लखपति और उनके पुत्र गौड दोनों द्वारा सम्मानित थे। यही कारण है कि इनके ग्रन्थों में कुछ ग्रन्थ महाराव लखपति को तथा कुछ महाराव गौड को समर्पित हैं। इन्होंने अपने गुरु से भी अधिक ग्रंथों की रचना की है। महापंडित कुंअरकुशल का ब्रजभाषा पर असाधारण अधिकार था। संस्कृत, फारसी आदि भाषाओं के साथ काव्य तथा संगीत में भी अधिकारी विद्वान थे।

कुंअरकुशल भट्टार्क की रचनाएँ संवत् १७९४ से १८२१ तक की प्राप्त है। इन कृतियों की अनेक हस्तलिखित प्रतियां हेमचंद्रज्ञान भण्डार, पाटण; राजस्थान प्राच्य शोध प्रतिष्ठान, जोधपुर तथा अभय ग्रंथालय, बीकानेर में सुरक्षित हैं। कवि कोश, छन्द, अलंकार आदि के अच्छे विद्वान थे।

इनके उपलब्ध ग्रंथ इस प्रकार है—"लखपत मंजरी नाममाला", "पारसति (पारसात) नाममाला"; "लखपत पिंगल" अथवा "कवि रहस्य", "गौड पिंगल", "लखपति जससिंधु", "लखपति स्वर्ग प्राप्ति समय" (मरसिया), "महाराव लखपति दुवावैत", "मातानो छन्द" अथवा ईश्वरी छन्द", 'रागमाला' आदि। इनमें 'लखपति पिंगल' और 'लखपति जससिंधु' महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। इनमें रीतिकालीन आचार्य

1. मुनि कांतिसागर जी (उदयपुर) की पांडुलिपि—अज्ञात साहित्य वैभव।

निहालचन्द : (स० १८०० आसपास)

अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ये पार्श्वचन्द्रगच्छ के वाचक हर्षचन्द्र के शिष्य थे। इनका समय संवत् १८०० के आसपास रहा है। इनका अधिकांश समय बंगाल में व्यतीत हुआ था।[१] इनकी मातृभाषा गुजराती थी। अब तक की खोजों के आधार पर इनके तीन ग्रंथ गुजराती में तथा दो ग्रंथ हिन्दी में प्राप्त हैं।[२]

"ब्रह्म बावनी" कवि की हिन्दी रचनाओं में प्रसिद्ध एवं उत्तम रचना है। इसकी एक प्रति 'अभय जैन ग्रन्थालय', बीकानेर में सुरक्षित है। इसमें कुल ५२ पद्य हैं। इसमें निराकार और अदृश्य सिद्ध भगवान की उपासना जैन परम्परानुसार की गई है। निर्गुणोपासक सन्तों की-सी मधुरता, भावाभिसिक्तता एवं आकर्षण इस कृति में सहज ही देखा जा सकता है। रचना कवि के अध्यात्म और वैराग्यपरक विचारों का प्रतिनिधित्व करती है। ओंकार मन्त्र की महिमा बताता हुआ कवि कहता है—

"सिद्धन कौ सिद्धि, ऋद्धि सन्तन कौ महिमा महन्तन कौं देत
दिन माहीं है,
जोगी कौ जुगति हू मुकति देव मुनिन कूं, भोगी कूं भुगति गति
मतिउन पांही है।"

कवि अपनी लघुता द्वारा सादृश्य विधान की निपुणता बताता हुआ कहता है—

"हम पै दयाल होकै सज्जन विशाल चित्त,
मेरी एक वीनती प्रमान करि लीजियौ।
मेरी मति हीन तातें कीन्हौ बाल ख्याल इहु,
अपनी सुबुद्धि ते सुधार तुम दीजियौ॥

* * *

अलि के स्वभाव तें सुगन्ध लीजियो अरथ की,
हंस के स्वभाव होके गुन को ग्रहीजियौ॥"

---

१. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, भाग ४, ब्रह्म बावनी, पद ५१, पृ० ८८।

२. जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड २, पृ० १२९८ तथा भाग ३, खण्ड १, पृ० ८-९।

इनकी दूसरी हिन्दी कृति "वंगाल दे
नगर का वर्णन है। इस कृति की रचना संद
है।१ इसमें कुल ६५ पद्य हैं। भाषा-शैली क

"यारो देश गांला खूब है रे, जहां व
जहां शिखर समेत परनाथ पारस प्र

※ ※

गजल वंगाल देश की, भाखं
मूरख के मन ना वसे, पंडित

अव यह कृति अपने ऐतिहासिक सार के साथ

आलोचना खण्ड ३

प्रकरण : ४ : जैन गूर्जर कवियों की कविता में वस्तु-पक्ष ।

प्रकरण : ५ : जैन गूर्जर कवियों की कविता में कला-पक्ष ।

प्रकरण : ६ : जैन गूर्जर कवियों की कविता में प्रयुक्त विविध काव्य-रूप ।

प्रकरण : ७ : आलोच्य कविता का मूल्यांकन और उपसंहार ।

प्रकरण ४

आलोच्य युग के जैन-गूर्जर कवियों की कविता में वस्तु-पक्ष

भाव पक्ष :

भक्ति-पक्ष :

भक्ति का सामान्य स्वरूप व उसके तत्व ।

जैन धर्म साधना में भक्ति का स्वरूप ।

जैन-गूर्जर हिन्दी कवियों की कविता में भक्ति-निरूपण ।

विचार-पक्ष :

सामाजिक यथार्थांकन, तद्‌युगीन सामाजिक समस्याएँ और कवियों द्वारा प्रस्तुत निदान ।

धार्मिक विचार ।

दार्शनिक विचार ।

नैतिक विचार ।

प्रकृति-निरूपण :

प्रकृति का आलंबनगत प्रयोग; प्रकृति का उद्दीपनगत चित्रण; प्रकृति का अलंकारगत प्रयोग; उपदेश आदि देने के लिए प्रकृति का काव्यात्मक प्रयोग; प्रकृति के माध्यम से ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा ।

निष्कर्ष

—:०—०:—

आलोचना खण्ड ३

प्रकरण : ४

आलोच्य युग के जैन गूर्जर हिन्दी कवियों की कविता का वस्तु-पक्ष

भाव पक्ष :

प्रत्येक प्रकार की कविता का कथ्य हमारे समक्ष दो रूपों में आता है—भाव ौर विचार। भाव पर अनेकानेक साहित्य शास्त्रकारों ने व मनोवैज्ञानिकों ने पृथक्-थक् परिवेशों में विचार किया है। भरत से लेकर अब तक के साहित्याचार्यों के नुसार भाव दो प्रकार के होते हैं—स्थायी तथा संचारी। ये वासनारूप स्थायी ाव परिपक्व होकर रसदशा को प्राप्त होते हैं। अतः भाव के साथ, कविता पर वेचार करते समय, रस की चर्चा अनिवार्यतः अपेक्षित है। स्थायी भावों के अनुकूल ी रसों की संख्यादि का निर्णय किया गया है। यद्यपि रसों को लेकर या उनकी ंख्या को लेकर पर्याप्त चर्चा-विचारणा हो गई है किन्तु अभी तक इनकी पूर्णतः ्वीकृत संख्या नौ ही मानी गई है। यों कतिपय आचार्यों ने वात्सल्य, भक्ति आदि को रसरूप में स्थापित करने का प्रयत्न किया है किन्तु इन्हें रसों में समाविष्ट करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। यह दूसरी बात है कि इन नौ रसों में कुछ आचार्य शृङ्गार रस को प्रधानता देते हैं और कुछ करुण को। जैनाचार्यों ने यद्यपि अपने काव्य में सभी रसों को यथावसर प्रयुक्त किया है तथापि उनकी मूल चेतना शान्त रस को ग्रहण कर चलती हुई प्रतीत होती है।[1] नेमिचन्द्र जैन शान्त रस की चर्चा इस रूप में प्रस्तुत करते हैं—

"जैन साहित्य में अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों को अथवा आत्मोन्मुख पुरुषार्थ को रस बनाया है। जब तक आत्मानुभूति का रस नहीं छलकता रसमयता नहीं आ सकती। विभाव, अनुभाव और संचारी भाव जीव के मानसिक वाचिक और कायिक विकार हैं, स्वभाव नहीं है। रसों का वास्तविक उद्भव इन विकारों के दूर होने पर ही हो सकता है। जब तक कषाय–विकारों के कारण योग की प्रवृत्ति शुभाशुभ रूप में अनुरंजित रहती है, आत्मानुभूति नहीं हो सकती।"[2]

---

१ "सप्तम भय अष्टम रस अद्भुत, नवमो शान्त रसनि को नायक।"
बनारसीदास, नाटक समयसार, ३६१।

२ हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, पृ० २२४।

नैमिचन्द्र के उक्त कथन में निम्नलिखित दो बातों पर हमारा ध्यान आकृष्ट होता है—अन्तर्मुखी प्रवृत्तियां आत्मोन्मुख पुरुषार्थ रस हैं, तथा विभावानुभाव संचारी विकार हैं और जिनसे मुक्त होकर आत्मानुभूति होती है, रस छलकता है। "आत्मानुभूति" शब्द की दो सीधी-सादी व्याख्याएं हो सकती है-आत्मा के द्वारा की गई अनुभूति तथा आत्मा की अनुभूति। प्रथम में आत्मा अनुभूति का तत्व है जब कि दूसरे में वह स्वयं अनुभूति का विषय है। इस प्रकार दार्शनिक स्तर पर दोनों का संयुक्त रूप अर्थात् आत्मा के द्वारा अपने ही स्वरूप को अनुभूत करना ब्रह्मानन्द का कारण बन जाता है। अत: आध्यात्मिक स्तर पर शान्त रस के अतिरिक्त किसी अन्य रस की अवस्थिति स्वीकार्य नहीं हो सकेगी। अतः आध्यात्मिक साहित्य में शान्तेतर रसों की स्थिति शान्त रस को पुष्ट करने के लिए दिखाई देगी। यह बहुत अंशों तक ठीक भी है। सांसरिक तीव्र राग वैराग्य में परिणत हो जाता है। इस वैराग्य के भी वे ही कारण हैं जो शान्त रस के लिए विभाव का कार्य करते हैं-रागादि के परिपूर्ण भोग से उत्पन्न "निस्पृहता की अवस्था में आत्मा के विश्राम से उत्पन्न सुख" अर्थात् शम,१ तथा भोग की अपूर्णता तथा तद्भुत व्याघातक स्थितियों के कारण "चित्त की अभावात्मक वृत्ति" अर्थात् निर्वेद।२ साहित्य में चर्चित रस इन्हीं "शम" तथा 'निर्वेद' स्थाई भावों का अभिव्यक्त रूप है जबकि आध्यात्मिक क्षेत्र में स्थायी भावों की भी अनवस्था स्वीकार करनी पड़ेगी। इसी तथ्य को जिन सेनाचार्य ने अपनी पुस्तक "अलंकार चिन्तामणि" में इस रूप में व्यक्त किया है-"विरागत्वादिना निर्विकार मनस्त्वं शम"।

आध्यात्मवाद में 'आत्मा' शुद्ध चेतन तत्व माना गया है। मल, कंचुक अथवा कषाय आदि से बद्ध यह आत्म तत्व इनसे मुक्त होकर ही अपने शुद्ध रूप को पहचानने में समर्थ हो पाता है। संभवतः इस दिशा में किया गया उद्योग ही आत्मोन्मुख पुरुषार्थ है जो रस प्राप्त करने में सहायक होता है। आत्मा के द्वारा शुद्ध चैतन्य तत्व की प्राप्ति या अनुभूति ही रस है, इस प्रकार के आनन्द में सब प्रकार के विकार निःशेष हो जाते हैं। यही कारण है कि शान्त रस को सभी रसों का मूल मान लिया गया है।३ कवि बनारसीदास तो सभी रसों को शान्त रस में ही समाविष्ट करते प्रतीत होते है। उनकी दृष्टि में तो आत्मा को ज्ञान-गुण से विभूषित करने का विचार शृङ्गार है,

१. विश्वनाथ, साहित्य दर्पण।
२. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृ० ४५५।
३. कल्याण, भक्ति विशेषांक, "भाव-भक्ति की भूमिकाएँ" नामक निबंध, अंक १, पृ० ३६६।

कर्म निर्जरा का उद्यम वीर रस है, सब जीवों को अपना समझना करुण रस है। हृदय में उत्साह और सुख का अनुभव करना हास्य रस, अष्ट कर्मों को नष्ट करना रौद्र रस, शरीर की अशुचिता का विचार करना बीभत्स रस, जन्म, मरणादि का दुःख-चिन्तन करना भयानक रस है, आत्मा की अनन्त शक्ति को प्राप्त करना अद्भुत रस और दृढ़ वैराग्य धारण करना तथा आत्मानुभाव में लीन होना ही शान्त रस है।[१] इस प्रकार से देखने पर भी जैनों की आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वोपरि रस शान्त ही है। नेमिचन्द्र ने अपने ढंग से इस शान्त रस का विधान इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—"अनित्य जगत् आलम्बन है, जैन मन्दिर, जैन तीर्थधाम, मूर्ति, साधु आदि उद्दीपन हैं, तत्वज्ञान, तप, ध्यान, चिन्तन, समाधि आदि अनुभाव हैं, घृति, मति आदि व्यभिचारी भाव हैं तथा सुख-दुःखादि से ऊपर उठकर प्राणिमात्र के प्रति समत्वभाव धारण करना शान्त रस की स्थिति है।"

जैन कवि, जो मूलतः आध्यात्मिक चिन्तक एवं आध्यात्मिक गुरु रहे हैं, शान्त रस को ही प्रमुख अथवा अपने काव्य का अंगी रस माने तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। शेप रस इनके काव्य में अन्वय-व्यतिरेक से अंगभूत होकर आए हैं। इनके काव्य में रसों की चर्चा इसी परिवेश में होनी चाहिए अन्यथा आलोच्य कवियों के साथ अन्याय हो जाना सहज संभव है।

आलोच्य काल हिन्दी की दृष्टि से रीतिकाल है और जैसा कि हम सब जानते हैं यह काल इतिहास व साहित्य में वर्णित मानव-वृत्तियों के आधार पर विलासिता का युग कहा गया है। ऐसे चतुर्मुखी विलासिता के युग में ये कवि बहिर्मुखी वृत्तियों का संकुचन कर अन्सूत्र का आलोक विकीर्ण करते हुए प्राणी मात्र को शांतरस में निमज्जित करते रहे। इसीलिए शृङ्गार आदि रस इनके साध्य नहीं हैं, मात्र साधन हैं; अन्ततः शांत रस को ही पुष्ट करने का कार्य करते दिखाई देते हैं। इन साधनरूप रसों को भी देखते चलना प्रसंगप्राप्त ही होगा। इन कवियों ने नखशिख वर्णन एवं रूपवर्णन के प्रसंग भी प्रस्तुत किये हैं पर संयत और उदात्त भाव से। खेमचन्द रचित "गुणमाला चौपाई" में कवि नायिका गुणमाला का रूप-वर्णन किस उदात्त भाव से करता है—

पेटइ पोइणि पत्रइ तिनी, ऊपरि त्रिवली थाय।
गंगा यमना सरसती, तीनों बैठी आय ॥३०॥
नाभि रतन की कूंपली, जंघा त केली स्थंभ।
मानव गति दीसै नहीं, दीसै कोई रंभ ॥३१॥"

---

[१] हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, भाग १, पृ० २३३।

परम्परा के प्रश्रय एवं साध्य को पूर्ण करने के हेतु शृंगार वर्णन एवं नखशिख वर्णन के प्रसंग प्रसंगतः अनेक स्थलों पर आए हैं। कवि समयसुन्दर ने अपनी "सीताराम चौपाई" में गर्भवती सीता का रूप-वर्णन बड़े संयत भाव से किया है—

"वज्रजंघ राजा घरे, रहती सीता नारि,
गर्भ लिंग परगट थयो, पांडुर गाल प्रकारि।
थण मुख श्याम पणो थयो, गुरु नितंव गतिमंद,
नयन सनेहाला थया, मुखि अमृत रसबिंद ॥"१

चन्द्रकीर्ति का 'जयकुमार आख्यान'२ मूलतः वीर रस प्रधान काव्य है; परन्तु उसमें शृंगार एवं शांतरस का सुन्दर नियोजन है। सुलोचना के सौंदर्य का वर्णन करता हुआ कहता है—

"कमल पत्र विशाल नेत्रा, नाशिका सुक चंच।
अष्टमी चन्द्रज भाल सोहे, वेणी नाग प्रपंच ॥
सुन्दरी देखी तेह राजा, चिन्त में मन मांहि।
सुन्दरी सुर सुन्दरी, किन्नरी किम कहे वाम ॥"

कवि रत्नकीर्ति के "नेमिनाथ फागु" में राजुल की सुन्दरता का भी एक चित्र देखिए—

"चन्द्रवदनी मृग लोचनी मोचती खंजन मीन।
वासग जीत्यो वेणइं, श्रेणिय मधुकर दीन ॥
युगल गल दाये शशि, उपमा नासा कीर।
अधर विद्रुम सम उपमा, दन्त नू निर्मल नीर ॥
चिवुक कमल पर षट्पद, आनंद करे सुधापान।
गीवा सुन्दर सोभती, कम्बु कपोल ने वान ॥"३

संस्कृत काव्य परम्परानुसार स्त्री सुलभ रूप वर्णन के कुछ प्रसंग स्वाभाविक हैं। नायिका भेद और रूप वर्णन में इन कवियों ने कुछ कौशल भी दिखाए है। वासकसज्जा का ईक उदाहरण देखिए—

"कहु सोहती एक वासीक सेजा,
सोई धरती हें मीलन कु कंत हेजा।

१. समयसुन्दर, सीताराम चोपाई।
२. चंद्रकीर्ति, जयकुमार आख्यान।
३. यशःकीर्ति–सरस्वती भवन, ऋषभदेव की प्रति।

कहुं सार अभिसारिका करें शृंगार,
चले लचक कटी छीन कुचके जु भारं ॥५६॥"१

कवि मालदेव के "स्थूलिभद्र फाग" में कोशा वेश्या के रूप-सौंदर्य का वर्णन करता हुआ कहता है—

"विकसित कमल नयन बगि, काम बाण अनिया रे।
खांचइ भमुह कमान शुं, कामी मृग-मन मारि रे ॥३६॥
कानहि कुंडल धारती, जानु मदन की जाली रे,
स्याम भुयंगी यूं वेणी, यौवन धन रखवाली रे ॥"२

पर अन्त तो शान्त रस में ही हुआ है। कवि स्थूलिभद्र मुनि का उदाहरण देकर ब्रह्मचर्य पालन करने, शील व्रतधारी तथा नारी संगति को छोड़ने का उपदेश देता है—

"मालदेव इम वीनवइ, नारी-संगति टालउरे,
थूलिभद्र मुनि नी परई, सील महाव्रत पालउरे ॥१०७॥"३

सामान्यतया शृंगार और शांत परस्पर विरोधी रस हैं। शृंगार रस मानव जीवन को कामना सिक्त बनाता हैं, शांत जीवन की हर प्रवृत्ति का शमन कर देता है। इन कवियों ने इन दो विरोधी रसों का भी मेल कराया है। यहां शृंगार और शम गले मिलने-से लगते हैं। इनका प्रत्येक शृंगारिक नायक निर्वेद के द्वारा अपनी उत्तेजना, इन्द्रिय लिप्सा और मादकता का परिहार शम में करता है। वस्तुतः इन कवियों की सभी रसों में हुई सृजन सलिला का अन्त में "शम" या निर्वेद में पर्यवसान होता है। इस दृष्टि से विनयचन्द्र की 'स्थूलिभद्र बारहमास', समयसुन्दर की 'सीताराम चौपाई', जिनहर्ष रचित 'बारह मासे', खेमचन्द्र की 'गुणमाला चौपाई', चन्द्रकीर्ति की 'भरत बाहुबलि छंद', जिनराजसूरि का 'शालिभद्र रास' आदि लगभग सभी कृतियों में विभिन्न रसों की परिणति शांत में ही हुई है। इन कृतियों का मूल विषय धार्मिक या उपदेश प्रधान रहने से अन्त में कवि अपने नायक-नायिकाओं को निर्वेद ग्रहण करा देते हैं अथवा कथा का अन्त शांत रस में प्रतिफलित कर देते हैं। उदाहरणार्थ जिनराजसूरि की 'शालिभद्र रास' कृति के नायक शालिभद्र में कवि ने भोग और योग का अद्भुत समन्वय कराया है। शालिभद्र एक ऐसा नायक है जो संसार को फूल की

---

१. 'मदन युद्ध' हेम कवि, प्रस्तुत प्रबंध का तीसरा प्रकरण।
२. स्थूलिभद्र फाग, मालदेव, प्राचीन फाग संग्रह, संपा० डॉ० भोगीलाल सांडेसरा, पृ० ३१।
३. वही।

तरह सुन्दर और कोमल तथा काया को मक्खन की तरह मुलायम और स्निग्ध मानता है। वह स्वयं को जगत् का स्वामी और नियन्ता समझता है पर अन्त में माता के वचन सुनकर कि स्वामी राजा श्रेणिक घर आया है, शालिभद्र का एक विवाद और क्रन्दन से भर उठता है। राग की अतिशय प्रक्रिया पश्चाताप और वैराग्य में हो उठती है—

"एतला दिन लग जाणतो, हुं छुं सहुनो नाथ।
माहरे पिण जो नाथ छै, तो छोड़िए हो तृण जिम ए आथ ॥४॥
जाणतो जे सुख सासता, लाधा अछ असमान।
ते सहु आज असासता, मैं जाण्या हो जिम संध्या वान ॥५॥"

और वह अपनी अनेक सुन्दरी स्त्रियों का परित्याग कर अनंत मुक्तिपथ की ओर अग्रसर होता है, जहां किसी का कोई नाथ नहीं—

"उठ्यो आमण दूमणो, महल चढयो मन रंग।
फिरि पाछो जोवै नहीं, जिम कंचली भुयंग ॥"१

यौवन एवं अहम् के इस असाधारण तूफान और उभार में डूबी प्यास का शमन कवि ने निर्वेद द्वारा किया है।

इसी तरह जिनहर्ष प्रणीत 'नेमि-बारहमासा" कृति में कवि ने विरह-विप्रलंभ के अनूठे चित्र प्रस्तुत किए हैं। अन्त में रसराज शांत की निष्पत्ति सहजरूप में कराई है। विप्रलंभ श्रृङ्गार की मधुर स्मृतियों में तथा विरहजनित विभिन्न भावों में राजुल डूब रही है। बारहमास बीतते जाते हैं, पर नेमि नहीं आए। राजुल रोती रहती है, अपनी प्रेम पीड़ा मर्म-स्पर्शी शब्दों म अभिव्यक्त करती रहती है। राजुल के विरही-मन की विभिन्न दशाएँ स्पष्ट होने लगती हैं। कवि ने श्रृङ्गार की इस समस्त मूर्च्छना को शम में पर्यवसित कर दिया है—

"प्रगटै नभ बादर आदर होत, धना धन आगम आली भयो है।
काम की वेदन मोहि सतावै, आषाढ में नेमि वियोग दयो है।
राजुल संयम लेकै मुगति. गई निज कन्त मनाय लयो है।
जोरि कै हाथि कहै जसराज, नेमीसर साहिब सिद्ध जयो है ॥१२॥"२

विप्रलंभ का सारा दृश्य अन्त में शांत की आत्म-समर्पित हो जाता है। 'बारह-मासा' नामक कृतियों में भी कवि ने इसी प्रकार की वृत्ति के दर्शन कराए हैं—

---

१. जिनराजसूरि कृति कुसुमांजली, शालिभद्र धन्ना चौपाई, संपा० अगरचंद नाहटा, पृ० १३२-३३।

२. जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड २, पृ० ११७९।

राजुल राजकुमारी विचारी के संयत नाथ के हाथ गह्यो है।
पंच समिति तीन गुपति धरी निज, चित में कर्म समूह दह्यो है॥
राग द्वेष मोह माया नहैं, उज्जल केवल ज्ञान लह्यो है।
दम्पति जाइ वसें शिव गेह में, नेह खरो जसराज कह्यो है॥१३॥[1]

यशोविजय जी ने अपने कुछ मुक्तक स्तवनों में भी राजुल के विप्रलंभ शृङ्गार की व्यथा जनित चेष्टाओं का पर्यवसान शम में कराया है। उदारणार्थ एक स्तवन द्रष्टव्य है—[2]

"तुझ विण लागे सुनी सेज, नहीं तनु तेज न हार दहेज।
आओ ने मंदिर विलसो भोग, वृद्धापन में लीजे योग।
छोरूंगी में नहि तेरो संग, गइली चलु जिउं छाया अंग।
एम विलपती गइ गढ गिरनार, देखे प्रीतम राजुल नार।
कंते दीनुं केवल ज्ञान, कीधा प्यारी आप समान।
मुगति महल में खेल दोय, प्रण में 'जस' उलसित होय॥"

नेमीश्वर और राजुल के कथानक को लेकर रचित प्राय: सभी कृतियों में अंगीरस शांत ही है। प्रारम्भ में नेमिकुमार की संसार के प्रति उदासीना और अन्त की संयम-तपसिद्धि रसानुकूल है। बीच के प्रसंगों में शृङ्गार का मलयानिल मानस को उद्दीपित अवश्य कर देता है। मामियों के परिहास में हास्य तथा आयुधशाला में प्रदर्शित नेमीकुमार के पराक्रम में वीर रस का नियोजन हुआ है। बन्दी-पशुओं की पुकार में करुणा का उन्मेष है; और अन्त में है शान्त रस की प्रतिष्ठा।

जयवंतसूरि रचित 'स्थूलिभद्र मोहन वेलि'[3] कृति का नायक स्थूलिभद्र और नायिका कोश्या दोनों शृङ्गार प्रधान नायक नायिका हैं। स्थूलिभद्र कोश्या के रूप पर मोहित है उसने मधुवन में क्रीड़ा करते उस रूप सुन्दरी को देखा है—

"वेणी फणि अनुकारा, पूरण चंदमुखी मृग नयना।
पीनोन्मत कुच भारा, गोर भुजा आमोदरि सुभगा॥"

प्रथम लौकिक धरातल पर दोनों का प्रेम पल्लवित होता है। पर लौकिक प्रेम का पारलौकिक प्रेम में पर्यवसान कराना जैन कवियों की प्रमुख विशेषता रही है। यहां दोनों का सांसारिक प्रेम अपनी चरम सीमा पर पहुंच कर अन्त पाता है वहीं से आध्यात्मिक प्रेम का श्रीगणेश होता है। स्थूलिभद्र प्रेम के आवरण को

---

१. नेमि-राजमती बारह मास सवैया, जिनहर्ष।
२. जैन गूर्जर साहित्य रत्नो, भाग १, पृ० १३२-३३।
३. हस्तलिखित प्रति, अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर, ग्रंथांक, ३७१८।

उतार कर निर्वेद की लहरियों में बहने लगता है। प्रथम पिता की मृत्यु से निर्वेद भावना का विकास होता है—

"तात कु निधन सुनत दुख पायु, मन मांहि इ साचु विराग ऊपायु ॥
धिग संसार असार विपाकिइं, होति यु विकल न रह्यू मोह वाकिइं ॥"१७३

स्थूलिभद्र संयम धारण कर लेते हैं, कोश्या को नींद नहीं आती। बार-बार प्रिय की स्मृतियाँ उभर आती हैं और उसे सारा संसार ही प्रियतम मय दिखने लगता है—

"सब जग तुझ मय हो रह्या, तो ही मु वाच्या प्रान ॥१६०॥"

यहां लौकिक प्रेम ब्रह्म मय हो जाता है। यह ब्रह्म और जीव की तादात्म्य स्थिति है। अन्त में शांत रस की स्निग्ध धारा अपनी आत्मरति और ब्रह्म-रति में शृंगार को प्रच्छन्न कर देती है।

विनयचंद्र प्रणीत 'थूलिभद्र बारहमासा'१ कृति में प्रायः सभी रसों का सुन्दर नियोजन हुआ है। प्रत्येक रस का एक-एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

शृङ्गार :

"आषाढ़इ आशा फली, कोशा करइ सिणगारो जी।
आवइ थूलिभद्र वालहा, प्रियुडा करू मनोहारोजी ॥
मनोहार सार शृङ्गार-रसमां, अनुभवी थया तरवरा।
वेलडी वनिता लाइ आलिंगन, भूमि भामिनी जलधारा ॥"

हास्य :

"श्रावण हास्य रमइं करी, विलसउ प्रतिम प्रेमइ जी।
योगी ! भोगी नइ धरे, आवण लागा केमइ जी ॥
तउ केम आवै मन सुहावै, वसी प्रमदा प्रीतडी।
एम हासी चित्त विभासी, जोअउ जगति किसी जडी ॥"

करुण :

"अरहरइ पावस मेघ वरसइ, नयण तिम मुख आंसुआं।
तिम मलिन रूठी बाह्य दीसउ, तिम मलिन अन्तर हुआ ॥१॥
भादउ कादउ मचि रह्यउ, कलिण कल्या बहु लोकोजी।
देखी करुणा ऊपजै, चन्द्रकान्ता जिम कोको जी ॥
कोक परि विहू वोक करती, विरह कलणइ हुं कली।
काढियइ तिहां थी बांह झाली, करुणा रसनइ अटकली ॥"

१. विनयचंद्र कृति कुसुमांजलि, संपा० भंवरलाल नाहटा, पृ० ८०-८४।

"मूरख नर काहे तू करत गुमान ।
तन धन जोवन चंचल जीवित, सहु जग सुपन समान ।
कहां रावण कहां राम कहां नलि, कहां पांडव परधान ।
इण जग कुण कुण आइ सिधारे, कहि नइं तूं किस थान ।।
आज के कालि आखर अंत मरणा, मेरी सीख तूं मान ।
समयसुन्दर कहइ अथिर संसारा, धरि भगवंत कउ ध्यान ।।३।।"१

आनन्दघन ने भी तन, धन और यौवन को झूठा कहा है और यह सब पानी के बीच बताशे की भांति क्षणिक अस्तित्व वाले हैं, 'पानी बिच्च पतासा' हैं।२

यही कारण है कि शांति के उपासक ये कवि शांतिप्रदायक प्रभु की शरण में गये हैं। राग-द्वेष ही अशांति के मूल हैं। प्रभु स्मरण और उनकी शरण में जाने से ये विलीन हो जाते हैं। प्रभु ध्यान में अनन्त शांति का अनुभव होता है और प्रभु गुनगान में तन-मन की सुध एवं सांसारिक दुविधाओं का अंत आ जाता है। यहां वह परमात्मा की अक्षय निधि का स्वामी बन जाता है। फिरे उसे हरि-हर इन्द्र और ब्रह्मा की निधियां भी तुच्छ लगने लगती हैं। उस परमात्मा रस के आगे अन्य रस फीके पड़ जाते हैं। क्योंकि कवि ने अब तो खुले मैदान में मोहरूपी महान् शत्रु को जीत लिया है—

"हम मगन भये प्रभु ध्यान में ।
बिसर गई दुविधा तन-मन की, अचिरा सुत गुन ज्ञान में ।।१।।

* * *

चिदानन्द की मोज मची है, समता रस के पान में ।।२।।

* * *

गई दीनता सब ही हमारी, प्रभु ! तुज समकित-दान में ।
प्रभु-गुन-अनुभव रस के आगे, आवत नांहि कोउ मान में ।
जिनहि पाया तिनही छिपाया, न कहे कोउ के कान में ।
ताली लागी जब अनुभव की, तब जाने कोउ सांन में ।।
प्रभु गुन अनुभव चंद्रहास ज्यो, सो तो न रहे म्यान में ।
वाचक जस कहे मोह महा अरि, जीत लीयो है मेदान में ।।"३

१. समयसुन्दर कृति कुसुमांजलि, संपा० अगरचंद नाहटा, पृ० ४४६-५० ।
२. आनन्दघन पद संग्रह, अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मंडल, बंबई पद सं० ६६ ।
३. गुर्जर साहित्य संग्रह, भाग १, यशोविजय जी, पृ० ८३ ।

शांति की इस चरम स्थिति पर पहुँचने पर अनहद वाजा वज उठता है। जीव और ब्रह्म की यह तादात्म्य स्थिति ब्रह्मरति है और शांत रस की चरम परिणति है—

"उपजी धुनी अजपाकी अनहद, जित नगारे वारी।
झडी सदा आनन्दधन वरसत, वनमोर एकनतारी ॥२०॥"१

इस प्रकार शांत रस की विशाल परिधि ने जीवन के समस्त क्षेत्रों को आवृत्त कर लिया है। यही कारण है कि आलोच्य युगीन जैन गूर्जर कवियों ने अपनी कृतियों में शांत रस को ही प्रधानता दी है। इन कवियों का प्रधान लक्ष्य राग-द्वेप से परे रहकर समत्व की भावना को ऊँचा उठाना रहा है।

जैन साहित्यकारों ने वैराग्योत्पत्ति के दो साधन वतलाये हैं। तत्वज्ञान, इष्ट वियोग या अनिष्ट संयोग। इसमें प्रथम स्थायी भाव है, दूसरा संचारी। आज का मनोविज्ञान भी इस मत का समर्थन करता है—इसके अनुसार राग की क्लान्त अवस्था ही वैराग्य है। महाकवि देव ने राग को अतिशय प्रतिक्रिया माना है। उनके मतानुसार तीव्र राग ही क्लान्त होकर वैराग्य में परिणत हो जाता है। अतः शांत रस में मन की विभिन्न दशाओं का रहना आवश्यक है।२ आत्मा ही शांति का अक्षय भण्डार है। आत्मा जब देहादि भौतिक पदार्थों से अपने को भिन्न अनुभव करने लगती है तब शांत रस की निष्पत्ति होती है। अहंकार राग-द्वेषादि से रहित शुद्ध ज्ञान और आनंद से ओत-प्रोत आत्मस्थिति मानी गई है। यही चिरस्थायी है। इसी स्थिति को प्राप्त करने कराने में इन कवियों ने अपनी साहित्य-साधना की है।

भक्ति-पक्ष :

भक्ति का सामान्य स्वरूप व उसके तत्व—

अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार 'भक्ति' शब्द 'भज' धातु में स्त्रीलिंग 'क्तन्' प्रत्यय लगाने से वना है।३ जिसका अर्थ भजना है। 'नारद' के अनुसार भक्ति 'परम प्रेम रूपा' और अमृत स्वरूपा है, जिसे प्राप्त कर जीव सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है।४ नारद भक्ति सूत्र में विभिन्न आचार्यों के अभिमत रूप में 'भक्ति' की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। कुछ प्रसिद्ध परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

---

१. आनन्दघन पद संग्रह, अध्यात्मज्ञान प्रसारक मंडल, वंबई, पद सं० २८
२. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, भाग १, नेमिचन्द जैन, पृ० २३१-३३
३. अभिधान राजेन्द्र कोश, पांचवा भाग, पृ० १३६५।
४. 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा, अमृत स्वरूपा च' भक्ति सूत्र : २-३।

(१) व्यास जी के मतानुसार 'पूजादिएवानुरोग इति पराशर्यः' पूजादि में प्रगाढ़ प्रेम ही भक्ति हैं।१

(२) शांडिल्य के अनुसार 'आत्मरत्यविरोधेनेति शांडिल्यः' आत्मा में तीव्र रति होना ही भक्ति है।२

(३) शांडिल्य भक्ति सूत्र के अनुसार ईश्वर में परम अनुरक्ति का नाम ही भक्ति है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे'।३

(४) भागवत में निष्काम भाव से स्वभाव की प्रवृत्ति का सत्यमूर्त भगवान में लय हो जाना भक्ति कहा गया है।४

सारांशतः भक्ति में इष्टदेव और भक्त का सम्बन्ध है। भक्त और भगवान में भक्ति का ही एक मात्र नाता है। भक्ति के नाते ही भगवान द्रवित हो जाते हैं और भक्त पर कृपा करते हैं। उसे शरण में ले लेते हैं, माया से मुक्त कर देते है और अपने में लीन कर लेते हैं। यह भक्ति प्रेम रूपा है। विना प्रीति के भक्ति उत्पन्न नहीं होती अतः प्रीति भक्ति का आवश्यक अंग है। इस प्रीति-निवेदन के लिए भक्त अन्यान्य भावों-क्रियाओं का सहारा लेता है। इन्हीं क्रियाओं के आधार पर भागवत में भक्ति के नौ प्रकार (रूप) माने गए हैं।५ नारद भक्ति सूत्र में इसके ग्यारह भेद बताये गये हैं, जो ग्यारह आसक्ति रूप में वर्णित हैं।६ आचार्य रूप गोस्वामी कृत 'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' में भक्ति रस से संबंधित पांच भाव स्वीकार किए गये हैं—१. शान्ति, २. प्रीति, ३. प्रेय, ४. वत्सल, ५. मधुर। इनका मूल 'भागवत' की नवधा भक्ति तथा 'नारद-भक्ति-सूत्र' की एकदश आसक्तियों में मिल जाता है।७

---

१. नारद भक्ति सूत्र १६।
२. वही, १८।
३. शांडिल्य भक्ति सूत्र, १।१।१।
४. श्रीमद् भागवत् स्कन्द ३, अध्याय २५, श्लोक ३२-३३।
५. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्।
   अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम्॥
   श्रीमद् भागवत स्कंद ७, अध्याय ५, श्लोक ५२।
६. "गुण माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, तन्मयतासक्ति, परम विरहासक्ति रूपा एकधाप्येकादशधा भवति।" नारद भक्ति सूत्र, सूत्र ८२।

जैन धर्म-साधना में भक्ति का स्वरूप

जैन धर्म ज्ञान प्रधान है, फिर भी भक्ति से उसका अविच्छेद्य सम्बन्ध हैं। श्री हेमचन्द्राचार्य ने प्राकृत व्याकरण में भक्ति को 'श्रद्धा' कहा है।१ आचार्य समन्तभद्र ने भी श्रद्धान् और भक्ति का एक ही अर्थ माना है।२ जैन शास्त्रों में श्रद्धा का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रद्धा से मोक्ष तक मिल सकता है। श्रद्धान् को सम्यक दर्शन कहा है और सम्यक् दर्शन मोक्ष का साधन बताया है।३ जैन आचार्यों ने 'दर्शन' का अर्थ श्रद्धान् किया है और उसे ज्ञान से भी पहले रखा है।४ इस प्रकार श्रद्धा को स्वीकार कर भक्ति को ही प्रमुखता दी है।

जैन आचार्यों ने भक्ति की परिभाषाएं भी दी हैं। कुछ परिभाषाएं द्रष्टव्य हैं–

(१) आचार्य पूज्यपाद के अनुसार, 'अरहंत, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन में भाव विशुद्धि युक्त अनुराग ही भक्ति है।"५

(२) आचार्य सोमदेव के मतानुसार, 'जिन, जिनागम और तप तथा श्रुत में परायण आचार्य में सद्भाव विशुद्धि युक्त अनुराग ही भक्ति है।६

---

१. आचार्य हेमचन्द्र, प्राकृत व्याकरण, डॉ० आर० पिशेल सम्पादित, बम्बई संस्कृत सीरीज, १६००, २।१५६।

२. आचार्य समन्तभद्र, समीचीन धर्मशास्त्र, पं० जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, पृ० ७२, ७५, श्लोक ३७, ४१।

३. (क) श्रद्धानं परमार्थानामाप्ता गमतपोमृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांग सम्यग्दर्शनमस्यम्॥
वही, पृ० ३२ श्लोक ४।

(ख) योगीन्दु देव, परमात्माप्रकाश, श्री आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये संपादित, परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, पृ० १३८ २।१२।

४. आचार्य भट्ट कलंक, तत्त्वार्थवार्त्तिक, भाग १, पं० महेन्द्रकुमार संपादित, हिन्दी अनुवाद, पृ० १७६।

५. "अर्हदाचार्येषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः।"
आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, पं० फूलचन्द संपादित भाष्य, पृ० ३३९।

६. जिने जिनागमे सूरौ तपः श्रुतपरायणो।
सद्भावशुद्धि सम्पन्नोऽनुरागो भक्तिरुच्यते॥
Prof. K. K. Handiqui, yasastilak and Indian Culture, Jain Sanskriti Samarkashaka Sangha, Sholapur, 1949, P. 262.

आलोच्य युगीन जैन गूर्जर कवियों की प्रेरणा का स्रोत यही अनुरागमय जिनेश्वर भक्ति या आत्मरति है। महात्मा आनंदघन ने इस भाव को अधिक स्पष्ट करते हुए बताया है कि जिस प्रकार कामी व्यक्ति का मन, अन्य सब प्रकार की सुध-बुध खोकर काम-वासना में ही लगा रहता है, अन्य बातों में उसे रस नहीं मिलता; उसी प्रकार प्रभु-नाम और स्मरणादि रूप भक्ति में, भक्त की अविचल निष्ठा बनी रहती है।१ अनुराग की-सी तल्लीनता और एकनिष्ठता, अन्यत्र संभव नहीं। एक अन्य स्थान पर भक्ति पर सम्बन्ध में महात्मा आनन्दघन ने कहा है, 'जिस प्रकार उदर भरण के लिए गौयें वन में जाती हैं, वहां चारों ओर फिरती हैं और घास चरती है, पर उनका मन घर रह गये अपने बछड़ों में लगा रहता है। ठीक इसी प्रकार संसार के सब काम करते हुए भी भक्त का मन भगवान के चरणों में लगा रहता है। सहेलियाँ हिल-मिलकर तालाब या कुएँ पर पानी भरने जाती हैं। रास्ते में ताली बजाती हैं, हँसती हैं, खेलती हैं, किन्तु उनका ध्यान सिर पर धरे घड़े में ही लगा रहता है। वैसे ही संसार के कामों को करते हुए भी भक्त का मन तो प्रभु-चरणों में ही लगा रहता है।२

जैनों का भगवान वीतरागी है जो सब प्रकार के रागों से मुक्त होने का उपदेश देता है। इस वीतरागी के प्रति राग 'बन्ध' का कारण नहीं, क्योंकि इसमें किसी प्रकार की कामना या सांसारिक स्वार्थ सन्निहित नहीं। वीतराग में किया गया अनुराग निष्काम ही होता हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने वीतरागियों में अनुराग करने वालों को योगी बताया है।३ वीतरागी की 'वीतरागता' पर रीझकर ही भक्त उससे

---

१. जुवारी मन जुवा रे, कामी के मन काम।
आनन्दघन प्रभु यों कहे, तू ले भगवत को नाम ॥४॥
—आनन्दघन पद संग्रह, अध्यात्मप्रसारक मण्डल, बम्बई।

२. ऐसे जिन चरण चितपद लाऊं रे मना,
ऐसे अरिहन्त के गुण गाऊं रे मना।
उदर भरण के धारणे रे गउवां वन में जाय।
चारो चरै चहुंदसि फिरै, वाकी सुरत बछरुआ मांय ॥१॥
सात पांच सहेलियां रे हिलमिल पाणीडे जायं।
ताली दिये खल खल हँसे, वाकी सुरत गगरुआ मांय ॥
—आनन्दघन पद संग्रह, अध्यात्मज्ञान प्रसारक मंडल, बम्बई।

३. देवगुरुम्मिय भत्तो साहिम्मय संजुदेसु अणुरत्तो ॥
सम्मत्त मुव्वहंतो झाणरओ होइ जोईमो ॥
—अष्ट पाहुड, पाटनी जैन ग्रन्थमाला, मारोठ (मारवाड़) मोक्ष पाहुड, गाथा ५२

अनुराग करने लगता है। बदले में वह न दया चाहता है, न प्रेम, न अनुग्रह। यह वीतरागी के प्रति निष्काम अनुराग जैन भक्ति की विशेषता कही जा सकती है।

जैन भक्त कवियों ने वीतरागी प्रभु को अपनी प्रशंसात्मक अभिव्यक्ति द्वारा प्रसन्न कर अपना कोई लौकिक या अलौकिक कार्य सिद्ध कराने की अपेक्षा नहीं की है। जैनदर्शन में यह संभव भी नहीं। सच्चिदानन्दमय वीतरागी प्रभु में रागांश का अभाव है, उनकी भक्ति, स्तुति या पूजा द्वारा कुछ भी दिया, दिलाया नहीं जा सकता। वे तो निन्दा और स्तुति, भक्ति और ईर्ष्या दोनों के प्रति उदासीन हैं। फिर भी निन्दा या स्तुति करने वाला स्वयं दण्ड या आत्मिक अभ्युदय अवश्य प्राप्त करता है। कर्मों का भोक्ता और कर्ता स्वयं जीव ही है। अपने कर्मों का फल तो उसे भोगना ही पड़ता है। प्रभु किसी को किसी प्रकार का फल नहीं देता। अतः जैन भक्ति में अकिंचन या नैराश्य की भावना नहीं। ज्ञान-ज्योति के प्रज्वलन की यह भक्ति आराधक की आत्मा में एक स्वच्छ एवं निर्मल आनन्द की सृष्टि करती है।

जैन कवियों की भक्ति का मूल मुक्ति की भावना में है। कर्मों से छुटकारा पा लेना ही मुक्ति है।[१] जैन गूर्जर कवियों में भक्ति से मुक्ति मिलने का प्रबल विश्वास मुखर हुआ है। इस मुक्ति की याचना में भक्त के जिनेन्द्रमय होने का भाव है। इसे लेन-देन का भाव[२] इसलिए भी नहीं कह सकते कि जिनेन्द्र स्वयंमुक्ति रूप ही हैं।

ज्ञान की अनिवार्यता भी इन कवियों ने स्वीकार की है। साधना के तीन बड़े मार्ग हैं—भक्ति, ज्ञान और कर्म। ज्ञान मानव को उस अज्ञात के तत्वान्वेषण की ओर खींचता है, कर्म जीवन की व्यावहारिकता में गूंथता है और भक्ति में संसार और परमार्थ की एक साथ मधुर साधना की ओर प्रवृत्ति होती है। यही कारण है कि माधुर्य को भक्ति का प्राण कहा गया है। बाह्याचारों—नवधा-भक्ति एवं षोडशोपचार पूजा को भी भक्ति के अंग माने गये हैं। परन्तु भक्ति की सहज स्थिति तो देवत्व के प्रति रसपूर्ण आकर्षण में ही है। अतः भक्ति देवतत्व के माधुर्य से ओतप्रोत मन की अपूर्व रसानन्द की अलौकिक दशा है।

जैन-दर्शन में भक्ति का रूप दास्य, माधुर्य आदि भाव की भक्ति से भिन्न अवश्य है फिर भी इन भावों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति के दर्शन में इनमें अवश्य होते हैं।

---

१. 'बन्धेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्न-कर्मक्षयो मोक्षः' तत्वार्थ सूत्र, १०।२-१०।३।

२. आ० रामचन्द्र शुक्ल ने इसे लेन-देन का भाव कहा है, चिन्तामणि प्रथम भाग, पृ० २०५।

कारण यह है कि इस प्रकार की भक्ति से आराधक की आत्मा अपने शुद्ध रूप में प्रगट हो जाती है। माधुर्य, दास्य, विनय, सख्य, वात्सल्य, दीनता, लघुता आदि भाव वैसे ही साधारण्य में आये हैं जैसे अपने को शुद्ध करने के लिए अन्य शुद्धात्माओं का आश्रय लिया जाता है। इन विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त, आलोच्य युगीन जैन गूर्जर कवियों की भक्ति-भावना का अब हम विस्तार से अध्ययन आगे के पृष्ठों में करेंगे।

जैन गूर्जर हिन्दी कवियों की कविता में भक्ति निरूपण

माधुर्य भाव :

शाण्डिल्य ने भगवद्विपयक अनुराग को 'परानुरक्तिः' कहा है।[१] यह गम्भीर अनुराग ही प्रेम है। चैतन्य महाप्रभु के अनुसार रति या अनुराग का गाढ़ा हो जाना ही प्रेम है।[२] भगवद्विपयक प्रेम अलौकिक प्रेम की कोटि में आता है। भगवान को अवतार मानकर उनके प्रति लौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति अवश्य हुई है पर यहां अलौकिकत्व भाव सदैव बना रहा है। इस अलौकिक प्रेमजन्य तल्लीनता में संपूर्ण आत्मसमर्पण होता है अतः द्वैतभाव का प्रश्न ही नहीं रहता।

समर्पण भक्ति का प्रधान भाव है। इन जैन कवियों ने प्रभु के चरणों में अपने को समर्पित किया है। इनके समर्पण में एक निराला सौंदर्य है, जिनेन्द्र के प्रति प्रेम-भक्ति की तल्लीनता है। यह बात आनन्दघन, यशोविजय, विनयविजय, ज्ञानानंद, कुमुदचंद्र, रत्नकीर्ति, शुभचंद्र आदि के पदों में विशेप रूप से देखी जा सकती है।

इन कवियों ने इस अलौकिक प्रेम, तत्जन्य आत्मसमर्पण और रागात्मक भाव की अभिव्यक्ति के लिए "दाम्पत्य रति" को लौकिक आधार रूप में स्वीकार किया है। 'दाम्पत्य रति' का अर्थ पति-पत्नी के प्रेम से है। प्रेम का जो गहरा सम्बन्ध पति-पत्नी में संभव है, अन्यत्र नहीं। इसी कारण कान्ताभाव से इन कवियों ने भगवान की आराधना की है। भक्त स्त्री रूप है, परमात्मा प्रिय (कपाय युक्त जीव-तत्व भक्त है और कपाय मुक्त आत्मतत्व परमात्मा है।) इस दाम्पत्य भाव का प्रेम इन कवियों की कविता में उपलब्ध होता है। आनन्दघन के भगवान स्वयं भक्त के घर आये हैं, भक्त के आनन्द का पारावार नहीं। आनन्दघन की सुहागन नारी के नाथ स्वयं आये हैं और अपनी 'प्रिया' को प्रेमपूर्वक स्वीकार किया है और उसे अपनी 'अंगनारी' बनाया है। लम्बी प्रतीक्षा के बाद आये हैं, वह प्रसन्नता में विविध भांति के शृङ्गार करती है। प्रेम, विश्वास, राग और रुचि के रंग से रंगी झीनी साड़ी पहनी है। भक्ति के रंग की मेंहदी रचाई है और अत्यन्त सुख देने वाला भाव

१. शाण्डिल्य भक्तिसूत्र, गीता प्रेस, गोरखपुर, १।२, पृ० १।

२. कल्याण, भक्ति अंक, वर्ष ३२, अंक १, चैतन्य चरितामृत, पृ० २३३।

रूपी अंजन लगाया है। सहज स्वभाव रूपी चूड़ियां, स्थिरता रूपी भारी कंगन, वक्ष पर ध्यान रूपी उरवसी (गहना) धारण की है तथा प्रिय के गुणों रूपी मोती की माला गले में पहनी है। सुरत रूप सिंदूर मांग में भरा है और बड़ी सावधानी से निरति रूपी वेणी संवारी है। आत्मा रूपी त्रिभुवन में आनन्द-ज्योति प्रगट हुई है और केवल ज्ञान रूपी दर्पण हाथ में लिया है। उस प्रकाशमान ज्योति से वातावरण झिलमिला उठा है। वहां से अनहद का नाद भी उठने लगा है। अब तो उसे लगातार एकतान से पिय-रस का आनंद सराबोर कर रहा है। प्रिय मिलन के लिए आतुर बनी सुहागिन की यह साज-सज्जा का रूपक दाम्पत्य भाव का उज्ज्वल प्रमाण है।[१] कभी भक्त की विरहिणी मिलनातुर बनी अपनी तड़फन अभिव्यक्त करती है। आनंदघन की विरहिणी अपने कंचनवर्णी प्रिय के मिलन के लिए विरहातुर हो उठी है, उसे किसी प्रकार का शृङ्गार नहीं भाता। न आँखों में अंजन लगाना अच्छा लगता है न और किसी प्रकार का मंजन या शृङ्गार। पराये मन की अथाह विरह वेदना कोई स्वजन ही जान सकता है। शीतकाल में बन्दर की तरह देह थर-थर कांप रही है। विरह में न तो शरीर अच्छा लगता है, न घर और न स्नेह ही, कुछ भी ठीक नहीं लगता, अब तो एक मात्र प्रिय आकर बांह पकड़ें तो दिन रात नया उत्साह आ सकता है—

"कंचन वरणो नाह रे, मोने कोई मेलावो;
अंजन रेख न आंखड़ी भावे, मंजन शिर पड़ो दाह रे॥
कोई सयण जाणे पर मननी, वेदन विरह अथाह।
थर थर देहड़ी ध्रुजे माहरी, जिम वानर भरमाह रे॥

---

१. आज सुहागन नारी, अवधू आज सुहागन नारी;
मेरे नाथ आप सुध लीनी, कीनी निज अङ्गचारी॥१॥
प्रेम प्रतीत राग रुचि रंगत, पहिरे जीनी सारी।
महिंदी भक्ति रंग की राजी, भाव अंजन सुखकारी॥२॥
सहज सुभाव चूरियां पेनी, थिरता कंकन भारी।
ध्यान उरवशी उर में राखी, पिय गुन माल अधारी॥३॥
सुरत सिंदूर मांग रंग राती, निरते वेनी समारी।
उपजी ज्योत उद्योत घट त्रिभुवन, आरसी केवल धारी॥४॥
उपजी धुनी अजपाकी अनहद, जिम नगारे वारी।
झड़ी सदा आनंदघन वरसत, वनमोर एक न तारी॥५॥
आनन्दघन पग संग्रह, अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मंडल, बम्बई, पद २० पृ० ४६।

देह न गेह न नेह न रेह न, भावे न दुहडा गाह।
आनंदघन वहालो वांहडी साहि, निशदिन धरूँ उछाह रे ॥३॥"१

अलौकिक दाम्पत्य प्रेम की अभिव्यक्ति आनन्दघन के पदों की विशेष भाव सम्पत्ति कही जा सकती है। प्रिय के प्यारे के लिए प्रिया हमेशा तरसती रहती है। कभी अपने पर और प्रिय पर से विश्वास भी उठने लगता है। ऐसे समय 'चेतन' 'समता' से कहते हैं, 'तू तो मेरी ही है, मेरी पत्नी है; तू डरती क्यों है ? माया-ममता आदि तेरे प्रतिस्पर्धी अवश्य है। पर ये डेढ़ दिन की लड़ाई में शांत हो जायेंगे। इस बात में कोई कपट नहीं है।२ कवि ने अनेक सुन्दर रूपकों द्वारा प्रतिरूपी मुक्त-आत्मा और पत्नी रूपी समता (जीव) का सम्बन्ध लोकोत्तर भाव भूमि पर अभिव्यक्त किया है।३ अनेक स्थलों पर इनकी विरहानुभूति भी अत्यन्त मार्मिक बन पड़ी है।४ कवि यशोविजय का भक्त हृदय भी चेतनरूप ब्रह्म के विरह में व्याकुलता अनुभव करता है। भक्त की आत्मा प्रेम-दीवानी बनकर पिउ पिउ की पुकार करती है। वह अपनी सखी से पूछती है, चेतनरूप प्रिय कब मेरे घर आयेंगे। अरि ! मैं तेरी बलैया लेती हूँ तू बता दे, वे कब मेरे घर आयेंगे। रात-दिन उनका ध्यान करती रहती हूँ, प्रतीक्षा करती हूँ, पता नहीं वे कब आयेंगे। विरहिणी की व्याकुलता, उत्कंठा और प्रतीक्षा के भाव द्रष्टव्य हैं—

"कब घर चेतन आवेंगे ? मेरे कब घर चेतन आवेंगे ?
सखिरि ! लेवुं बलैया बार बार, मेरे कब घर चेतन आवेंगे ?
रेन दीना मानु ध्यान तुं साढा, कबहुंके दरस देखावेंगे ?
विरह-दीवानी फिरुं ढूँढती, पीउ पीउ करके पोकारेंगे;
पिउ जाय मले ममता सें, काल अनन्त गमावेंगे।
करूँ एक उपाय में उद्यम, अनुभव मित्र बोलावेंगे;
आय उपाय करके अनुभव, नाथ मेरा समझावेंगे।"५

कभी वह चेतन रूप ब्रह्म के दर्शन के लिए ललाचित है,६ तो कभी 'कंत बिनु कहो कौन गति नारी' समझ कर प्रिय को मना लेना चाहती है।७

१. वही—(देखिए पिछले पृष्ठ पर)।
२. आनन्दघन पद संग्रह, अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई, पद ४३-४४।
३. वही, पद ३०।
४. वही, पद १६, ३६, ६२।
५. गुर्जर साहित्य संग्रह, भाग १, यशोविजयजी, पृ० १६९-७०।
६. वही, पृ० १७१।
७. वही, पृ० १७०।

प्रेम तत्व के पारखी कवि जिनहर्ष ने भी इसी प्रकार की प्रेम-पीड़ा का प्रकाशन किया है। इनके विरह-वर्णन के प्रसंग बड़े ही मार्मिक बन पड़े हैं। विरही मन की विभिन्न दशाओं का स्वाभाविक वर्णन जिनहर्ष की कविता में देखने को मिलता है। प्रेम-तत्व का ऐसा उज्ज्वल निदर्शन कम कवियों ने ही किया है। पावस ऋतु है, घनघोर घटा उमड़ आई है। प्रिय के विना कवि की विरहिणी आत्मा तड़प उठी है, आंखों में नीर उभर आया। संयोग की लालसा और सोलह सिंगार की बात मन में ही रह गई। मन अकुला उठा है, फिर भी प्रिया का मन प्रिय-चरणों में लिपटा हुआ है। ऐसी विरह-दुखिता जगत् में और कोई न होगी—

"सखी री घोर घटा घहराई।
प्रीतम विणि हुं भई अकेली, नइणां नीर भराई ॥१॥
देखि संयोगिणि पिउ संग खेलत, सोल सिंगार वनाई।
मन की बात रही मन ही मइं, मन ही मइं अकुलाई ॥२॥
वन वैपारी प्यारी प्रिउ की, रहत चरण लपटाई।
मो सी दुखणी अउर जगत में, कहत जिनहरख न काइ ॥३॥"[1]

विरह के ऐसे प्रसंगों में कवि के हृदय का भक्ति-रस मिश्रित माधुर्य भाव टपक पड़ा है। प्रेम-तत्व के गायक कवि जिनहर्ष ने अपनी 'दोधक-छत्तीसी' रचना में विरही मन की विभिन्न दशाओं का वड़ा ही स्वाभाविक एवं मार्मिक वर्णन किया है।[2]

ज्ञानानंद की विरहिणी में भी यही भाव है। प्रिय परदेश है, वसंत ऋतु रंग-

---

१. जिनहर्ष ग्रन्थावली, संपा० अगरचन्द नाहटा, पद संग्रह, पृ० ३४५।

२. जिण दिन सज्जन वीछड्या, चाल्या सीख करेह।
नयगे पावस उलस्यौ, झिरमिर नीर झरेह ॥१॥
सज्जण चल्या विदेसडै, ऊभा मोल्हि निराश।
हियडा में ते दिन थकीं, भावै नाहीं सास ॥२॥
जीव थकी वाल्हा हता, सज्जनिया ससनेह।
आडी भुंय दीधी घणी, नयण न दीसैं तेह ॥३॥
खावौ पीवौ खेलवौ, कांई न गमइ मुज्झ।
हियडा मांही रात दिन, ध्यान धरूँ इक तुज्झ ॥४॥
सयणा सेती प्रीतडी, कीधी घणै सनेह।
दैव विछोहो पाडियौ पूरी न पड़ी तेह ॥५॥
—दोधक छत्तीसी, वही, पृ० ११७।

देह न गेह न नेह न रेह न, भावे न दुहडा गाह।
आनंदघन वहालो वाहडी माहि, निशदिन धरूं उछाह रे ॥३॥"१

अलौकिक दाम्पत्य प्रेम की अभिव्यक्ति आनन्दघन के पदों की विशेष भाव सम्पत्ति कही जा सकती है। प्रिय के प्यार के लिए प्रिया हमेशा तरसती रहती है। कभी अपने पर और प्रिय पर से विश्वास भी उठने लगता है। ऐसे समय 'चेतन' 'समता' से कहते हैं, 'तू तो मेरी ही है, मेरी पत्नी है, तू रूठती क्यों है? माया-ममता आदि तेरे प्रतिस्पर्धी अवश्य हैं। पर ये डेढ़ दिन की लड़ाई में शांत हो जायेंगे। इस बात में कोई कपट नहीं है।२ कवि ने अनेक सुन्दर रूपकों द्वारा प्रतिरूपी मुक्त-आत्मा और पत्नी रूपी समता (जीव) का सम्बन्ध लोकोत्तर भाव भूमि पर अभिव्यक्त किया है।३ अनेक स्थलों पर इनकी विरहानुभूति भी अत्यन्त मार्मिक बन पड़ी है।४ कवि यशोविजय का भक्त हृदय भी चेतनरूप ब्रह्म के विरह में व्याकुलता अनुभव करता है। भक्त की आत्मा प्रेम-दीवानी बनकर पिउ पिउ की पुकार करती है। वह अपनी सखी से पूछती है, चेतनरूप प्रिय कब मेरे घर आयेंगे। अरि! मैं तेरी बलैया लेती हूँ तू बता दे, वे कब मेरे घर आयेंगे। रात-दिन उनका ध्यान करती रहती हूँ, प्रतीक्षा करती हूँ, पता नहीं वे कब आयेंगे। विरहिणी की व्याकुलता, उत्कंठा और प्रतीक्षा के भाव द्रष्टव्य हैं—

"कब घर चेतन आवेंगे? मेरे कब घर चेतन आवेंगे?
सखिरि! लेवूं बलैया वार वार, मेरे कब घर चेतन आवेंगे?
रेन दीना मानु ध्यान तुं साढा, कबहुंके दरस देखावेंगे?
विरह-दीवानी फिरुं ढूंढती, पीउ पीउ करके पोकारेंगे;
पिउ जाय मले ममता सें, काल अनन्त गमावेंगे।
करूं एक उपाय में उद्यम, अनुभव मित्र बोलावेंगे;
आय उपाय करके अनुभव, नाथ मेरा समझावेंगे।"५

कभी वह चेतन रूप ब्रह्म के दर्शन के लिए ललाचित है,६ तो कभी 'कंत विनु कहो कौन गति नारी' समझ कर प्रिय को मना लेना चाहती है।७

१. वही—(देखिए पिछले पृष्ठ पर)।
२. आनन्दघन पद संग्रह, अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई, पद ४३-४४।
३. वही, पद ३०।
४. वही, पद १६, ३६, ६२।
५. गूर्जर साहित्य संग्रह, भाग १, यशोविजयजी, पृ० १६९-७०।
६. वही, पृ० १७१।

प्रेम तत्व के पारखी कवि जिनहर्ष ने भी इसी प्रकार की प्रेम-पीड़ा का प्रकाशन किया है। इनके विरह-वर्णन के प्रसंग बड़े ही मार्मिक बन पड़े हैं। विरही मन की विभिन्न दशाओं का स्वाभाविक वर्णन जिनहर्ष की कविता में देखने को मिलता है। प्रेम-तत्व का ऐसा उज्ज्वल निदर्शन कम कवियों ने ही किया है। पावस ऋतु है, घनघोर घटा उमड़ आई है। प्रिय के बिना कवि की विरहिणी आत्मा तड़प उठी है, आंखों में नीर उभर आया। संयोग की लालसा और सोलह सिंगार की बात मन में ही रह गई। मन अकुला उठा है, फिर भी प्रिया का मन प्रिय-चरणों में लिपटा हुआ है। ऐसी विरह-दुखिता जगत् में और कोई न होगी—

"सखी री घोर घटा घहराई।
प्रीतम विणि हुं भई अकेली, नइणां नीर भराई ॥१॥
देखि संयोगिणि पिउ संग खेलत, सोल सिंगार बनाई।
मन की बात रही मन ही मइं, मन ही मइं अकुलाई ॥२॥
धन वैपारी प्यारी प्रिउ की, रहत चरण लपटाई।
मो सी दुखणी अउर जगत में, कहत जिनहरख न काइ ॥३॥"१

विरह के ऐसे प्रसंगों में कवि के हृदय का भक्ति-रस मिश्रित माधुर्य भाव टपक पड़ा है। प्रेम-तत्व के गायक कवि जिनहर्ष ने अपनी 'दोधक-छत्तीसी' रचना में विरही मन की विभिन्न दशाओं का बड़ा ही स्वाभाविक एवं मार्मिक वर्णन किया है।२

ज्ञानानंद की विरहिणी में भी यही भाव है। प्रिय परदेश है, बसंत ऋतु रंग-

---

१. जिनहर्ष ग्रन्थावली, संपा० अगरचन्द नाहटा, पद संग्रह, पृ० ३४५।

२. जिण दिन सज्जन बीछड्या, चाल्या सीख करेह।
नयणे पावस उलस्यौ, झिरमिर नीर झरेह ॥१॥
सज्जण चल्या विदेसडै, ऊभा मोल्हि निराश।
हियडा में ते दिन थकीं, भावै नाहीं सास ॥२॥
जीव थकी वाल्हा हता, सज्जनिया ससनेह।
आडी भुंय दीधी घणी, नयण न दीसै तेह ॥३॥
खावौ पीवौ खेलवौ, कांई न गमइ मुज्झ।
हियडा मांही रात दिन, ध्यान धरूँ इक तुज्झ ॥४॥
सयणा सेती प्रीतडी, कीधी घणै सनेह।
दैव विछोहो पाडियो पूरी न पड़ी तेह ॥५॥
—दोधक छत्तीसी, वही, पृ० ११७

सौरभ सुषमा के साथ खिल आई है। लालची प्रिय दूर देश चला गया है, पत्र भी एक न दिया। निर्मोही, निर्दय प्रिय, पता नहीं किस नारी के प्रेम में फँस गया है। वसंत मास की अंधेरी रात है, अकेली कैसे रहूँ, कैसे विरह शांत करूँ। इस भाव का पद देखिए—

"मैं कैसे रहुं सखी, पिया गयो परदेशो ।।मैं०।।
रितु वसंत फूली वनराइ, रंग सुरंगीत देशो ।।१।।
दूर देश गये लालची वालम, कागल एको न आयो।
निर्मोही निस्नेही पिया मुझ, कुण नारी लपटायो ।।२।।
वसंत मासनी रात अंधारी, कैसे विरह बुझायो।
इतने निधि चारित्र पुत वल्लभ, ज्ञानानंद घर आयो ।।३।।"[1]

विनय विजय की विरही आत्मा तब तक जन्म मरण के चक्कर में भटकती रहेगी जब तक जीवन-रूप उस प्रिय को खोज नहीं पायेगी। वह विरह दिवानी बनी प्रिय को ढूँढ़ती फिरती है, साज-सज्जा तनिक भी नहीं भाती। हे मेरी सखिओं। मैं अपने रूप रंग और यौवन से पूर्ण देह बिना प्रिय के किसे दिखाऊं। मैं उस निरंजन नाथ को प्रसन्न करने के लिए पूर्ण श्रृङ्गार करूंगी। हाथ में सुन्दर वीणा लेकर सुन्दर नाद से उस मोहन के गुण गाऊंगी। प्रिय को देखते ही मणि-मुक्ताफल से थाल भर कर उनका स्वागत करूँगी। फिर प्रेम के प्याले और ज्ञान की चालें चलेंगी और इस तरह विरह की प्यास बुझाऊंगी। प्रिय सदा मेरी आत्मा में रहेंगे और आत्मा प्रिय में मिलेगी। ज्योत से ज्योत मिल जायगी तब पुन: संसार में नहीं आना पड़ेगा।[2] यह है कवि की अलौकिक प्रेमजन्य तल्लीनता जहां द्वैतभाव का लय हो गया है।

---

१. भजन संग्रह, धर्मामृत, पं० बेचरदास, पृ० २३।

२. विरह दिवानी फिरूं हुं ढूंढती, सेज न साज सुहावेंगे।
रूप रंग जोबन मेरी सहियो, पियु बिन कैसे देह दिखावेंगे ।।
नाथ निरंजन के रंजन कुं, बोत सिणगार बनावेंगे।
कर ने वीना नाद नगीना, मोहन के गुन गावेंगे ।।
देखत पियु कुं मणि मुक्ताफल, भरी भरी थाल वधावेंगे।
प्रेम के प्याले ज्ञान की चाले, विरह की प्यास बुझावेंगे ।।
सदा रहो मेरे जिउ में पिउजी, पिउ में जिउ मिलावेंगे।
विनय ज्योति से ज्योत मिलेगी, तब इहां वेह न आवेंगे ।।

—वही, पृ० ४०।

आध्यात्मिक विवाह :

इन कवियों के आध्यात्मिक विवाह के प्रसंगों को इसी प्रेम के संदर्भ में लिया जा सकता है। 'दीक्षा कुमारी' अथवा 'संयमश्री' के साथ विवाहों के वर्णन करने वाले कई रास जैन कवियों ने रचे हैं, जिनमें से कई 'ऐतिहासिक काव्य संग्रह' में संकलित हैं। इस प्रकार की रचनाओं में श्रावक ऋषभदास का "आदीश्वर वीवाहला' प्रसिद्ध रचना है। भगवान ने विवाह के समय चुनडी ओढ़ी थी, ऐसी चुनडी बनवा देने के लिए अनेक पत्नियां अपने पतियों से प्रार्थना करती रही हैं। तीर्थङ्करों की चारित्र रूपी चुनडी को धारण करने के संक्षिप्त वर्णनों के लिए ब्रह्म जय सागर की 'चुनडी गीत' तथा समयसुन्दर की 'चारित्र चुनडी' महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। साधुकीर्ति की 'चुनडी' भी प्रसिद्ध रचना है, जिसमें संगीतात्मक प्रवाह है। कवि कुमुदचंद्र कृत 'आदि-नाथ (ऋषभ) विवाहलो' रचना में कवि ने अपने आराध्य देव का दीक्षा कुमारी, संयम श्री अथवा मुक्तिवधू से विवाह कराया है। कवि का यह सुन्दर खण्डकाव्य है, जिसमें वर-वधू का सौंदर्य वर्णन तथा विवाह में बनी सुस्वादु मिठाइयों का भी उल्लेख है।[1]

नेमी-वर-राजुल का प्रेम

नेमीश्वर एवं राजुल के प्रेम के कथानक को लेकर इन भक्त कवियों ने दाम्पत्य रति के माध्यम से अपनी भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति की है। जहां विवाह के लिए राजुल को सजाया गया है वहां मृदुल काव्यत्व फूट पड़ा हैं। एक तरफ विवाह मण्डप म वधू प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा कर रही है, दूसरी ओर नेमी पिंजड़ों में बन्द मूक-पशुओं की करुण पुकार सुनकर अपनी बरात वापस लौटा लेते हैं और संयम धारण कर लेते हैं। इस समय राजुल के मन में उठी तिलमिलाहट, व्यग्रता एवं पति को पालने की बेचैनी आदि सूक्ष्म भावनाओं का स्वाभाविक चित्र हेमविजय की कविता में अङ्कित हो उठा है।[2] निःसंदेह ऐसे चित्र अन्यत्र बहुत कम मिलते हैं। नेमिनाथ और राजुल के प्रसंग को लेकर फाग काव्यों की भी रचना हुई है। ऐसे फागों में संयोग और वियोग की विभिन्न भाव-दशाओं के अच्छे वर्णन प्राप्त होते हैं। वीरचंद्र विरचित 'वीर विलास फाग' के अन्य सुन्दरतम् वर्णनों के साथ राजुल-विलाप का प्रसंग भी उल्लेखनीय है। विरह की इस मार्मिक दशा के प्रति हर पाठक की समवेदना बरस पड़ती है—

"कनकमि कंकण मोड़ती, मोड़ती मिणि मिहार।
लूंचती केश कलाप, विलाप करि अनिवार ॥७०॥

---

१. इसी ग्रंथ का दूसरा प्रकरण, कुमुदचंद।

२. इसी ग्रंथ का दूसरा प्रकरण, हेमविजय।

नयणि नीर काजलि गलि, खलदनि भामिनी पूर ।
किम करूं कहिरे साहेलडी, विहि नडि गयो मझनाह ॥७१॥"१

कवि समयसुन्दर, यशोविजय, जिनहर्ष, धर्मवर्द्धन, विनयचन्द्र, कुमुदचन्द, रत्नकीर्ति, शुभचंद आदि अनेक कवियों ने नेमी और राजुल के प्रेम से संबंधित कई पदों की रचना की है। इनमें राजुल के रूप में कवियों की विरहिणी भक्त-आत्मा की सच्ची पुकार अभिव्यक्त हुई है। इसी प्रकार की करुण पुकार कुमुदचंद्र की राजुल की उठी है। उसके लिए अब अधिक विरह सहन करना मुश्किल हो गया है। प्रिय का प्रेम भुलाया नहीं जा सकता। तन क्षण क्षण घुल रहा है, उसे न प्यास लगती है और न भूख लगती है। नींद नहीं आती और बार-बार उठकर गृह का आंगन देखती रहती है।२ कवि रत्नकीर्ति भट्टारक की राजुल अपनी सखियों से नेमि से मिलाने की प्रार्थना करती है और कहती है, नेमि के बिना यौवन, चन्दन, चन्द्रमा आदि सब फीके लगते हैं। भवन और कानन मरे मन असह्य कामदेव का फन्दा है। माता, पिता, सखियां एवं रात्रि सभी दुःख उत्पन्न करने वाले हैं। तुम तो शंकर कल्याणकारी और सुखदाता हो, कर्म बन्धनों को थोड़ा ढीला कर दो। इन भावों का एक पद द्रष्टव्य है—

"सखि को मिलावो नेम नरिंदा ॥
ता बिन तन मन योवन रजत हे,
चारू चन्दन अरू चन्दा ॥सखि०॥१॥
कानन भुवन मेरे जीया लागत,
दुसह मदन को फन्दा।
तात मात अरु सजनी रजनी।
वे अति दुख को कन्दा ॥सखि०॥२॥
तुम तो संकर सुख के दाता,
करम काट किये मन्दा ॥
रतन कीरति प्रभु परम दयालु,
सेवत अमर नरिन्दा ॥सखि०॥३॥"३

फिर प्रेम की अनन्यता देखिए, राजुल के घर स्वयं नेमि आये हैं। मृगनयनी राजुल उत्फुल्ल हो उठी है, प्रभु की रूप सुधा में सराबोर हो गई है—

---

१. वही, वीर, विलास फाग, वीरचन्द्र।
२. इसी ग्रन्थ का दूसरा प्रकरण, कुमुदचन्द्र।
३. हिन्दी पद संग्रह, संपा० कस्तूरचंद कासलीवाल, जयपुर, पृ० ५।

"राजुल गेहे नेमि आय ।।
हरि वदनी के मन मायं, हरि को तिलक हरि सोहाय ।।राजुल०।।
कंवरी को रंग हरी, ताके संग सौहे हरी, तां टंक को तेज
हरि दोई श्रवनि ।

* * *

सकल हरि अङ्ग करी, हरि निरखती प्रेम भरी ।
तन नन नन नीर, तत प्रभु अवनी ।।"१

कवि समयसुन्दर ने भी नेमीश्वर और राजुल को लेकर अनेक पदों का निर्माण किया है। राजमती के शब्दों में भक्तहृदय की तन्मयता और तीव्र अनुराग के भाव मुखरित हो उठे हैं—

"मिलतां सु मिलीयैं सही सुपियारा हो,
जिम वापीयडो मेह; नेम सुपियारा हो।
पिउ पिउ शब्द सुणी करी सुपियारा हो,
आय मिले सुसनेह, नेम सुपियारा हो ।।४।।
हूँ सोनी नो मुंदडी सुपियारा हो,
तू हिव हीरो होय, नेम सुपियारा हो।
सरिखइ सरिखउ जउ मिलइ सुपियारा हो,
तउ ते सुन्दर होय; नेम सुपियारा हो ।।५।।"२

राजुल के वियोग में 'संवेदना' के स्थल अधिक हैं। कवि ने राजुल के अन्तस्थ विरह को स्वाभाविक वाणी दी है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"सखि मोउ मोहनलाल मिलावइ ।स०।
दधि सुत वन्धु सामि तसु सोदर, तासु नंदन संतावइ ।।१।।स०
वृषपति सुत वाहन तसु वालिभ, मण्डन मोहि डरावइ।
अगनि सखारिपु तसु रिपु खिणु खिणु, रवि सुत शब्द सुणावइ ।स०।
हिमगिरि तनया सुत तसु वाहन, तास भक्षण मोहि भावइ ।
समयसुन्दर प्रभु कुं मिलि राजुल, नेमि जिणंद गुण गावइ ।३।स०।"३

---

१. हिन्दी पद संग्रह, संपा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ० ८ ।
२. समयसुन्दर कृति कुसुमांजलि, संपा० अगरचंद नाहटा, 'श्रीनेमि जिन स्तवन', पृ० ११५ ।
३. वही, श्री नेमिनाथ गूढा गीतम्, पृ० १२८ ।

धर्मवर्धन की राजुल को प्रिय वियोग में पल-पल वर्ष समान लग रहे हैं। पानी बिना मछली की-सी तड़पन अनुभव कर रही है। रात्रि में वियोगी चकवी की भांति उसका चित्त व्याकुल हो रहा है। कोयल अनेक वृक्षों को छोड़ आम्रवृक्ष की डाल पर ही उल्लास का अनुभव करती है। इस भाव का स्तवन देखिये—

"इक खिण खिण प्रीतम पखे रे लाल, वरस समान विहाय हे सहेली।
पाणी के विरहे पड्या रे लाल, मछली जेम मुरझाय हे सहेली ॥३॥
चकवी निस पिउ सुं रहे रे लाल, त्युं मुझ चित्त तन थाय हे सहेली।
कोटि विरख तज कोइली रे लाल, आंबा डाल उम्हाय हे सहेली ॥४॥"१

नेमिनाथ और राजुल के कथानक को लेकर 'बारहमासा' भी अनेक रचे गये है। कवि लक्ष्मी वल्लभ और जिनहर्ष प्रणीत बारहमासे उत्तम कोटि के हैं। लक्ष्मी वल्लभ की 'नेमि राजुल बारहमासा' कृति में प्रकृति के रमणीय सान्निध्य में विरहिणी के व्याकुल भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है, 'श्रावण का महीना है, चारों ओर विकट घन घोर घटाएँ उमड़ आई है। मोर शोर मचा रहे हैं। आकाश में दामिनी दमक रही है। कुम्भस्थल के से स्तनों वाली भामिनियों को प्रिय का संग भा रहा है। स्वाती नक्षत्र की बूंदों से चातक की पीड़ा दूर हो गई है। पृथ्वी की देह भी हरियाली को पाकर दिप उठी है, किन्तु राजुल का न तो पिय ही आया न पत्र ही।"२ कवि जिनहर्ष के 'नेमि बारहमास' के १२ सवैयों में सौंदर्य एवं आकर्षण परिव्याप्त है। श्रावण मास में राजुल की विरह व्यथित दशा का चित्र उपस्थित करता कवि कहता है, 'श्रावण मास है, बादल की घनघोर घटाएँ उमड़ आई हैं। बिजली झलमलाती चमक उठती है, उसके मध्य से वज्र-सी ध्वनि फूट रही है, जो राजुल को विष-बेलि के समान लगती है। पपीहा 'पिउ-पिउ' पुकार मचा रहा है। दादुर और मोर भी शोर मचा रहे हैं। ऐसे समय में यदि नेमि मिल जांय तो राजुल

---

१. धर्मवर्धन ग्रंथावली, संपा० अगरचन्द नाहटा, 'नेमि राजमति स्तवन', पृ० १६२।

२. उमटी विकट घन घोर धटा चिहुं ओरनि मोरनि सोर मचायो।
चमकै दिवि दामिनि यामिनि कुंभय भामिनि कुं पिय को संग भायो।
लिव चातक पीउ ही पीउ लई, भई राजहरी मुंइ देह दिपायो।
पतियां पै न पाई री प्रीतम की अली, श्रावण आयो पे नेम न आयो ॥

—नेमि राजुल बारहमासा, लक्ष्मी वल्लभ, प्रस्तुत प्रवन्ध का तीसरा प्रकरण।

अत्यधिक सुख अनुभव करे।'१ ठीक इसी प्रकार प्रत्येक मास में विरह में उठने वाली विभिन्न भाव-दशाओं के उत्तमोत्तम चित्र इन कवियों ने प्रस्तुत किये हैं। विनयचंद्र, श्यामसुन्दर और धर्मवर्धन के 'बारहमास' भी इस दृष्टि से अच्छे काव्य हैं। आषाढ़ में मेह उमड़ आया है, सब के प्रिय अपने-अपने घर आ गये हैं। समयसुन्दर की राजुल भी अपने प्रिय की प्रतीक्षा कर रही है।२

आध्यात्मिक होलियाँ

जैन गूर्जर कवि आध्यात्मिक होलियों की भी रचना करते रहे है, जिनमें होली के अंग-उपांगों से आत्मा का रूपक जोड़ा है। ऐसी रचनाओं में एक विशेष आकर्षण है, पावनता भी है। 'फाग' संज्ञक रचनाओं में यही बात है। इस प्रकार की रचनाओं में लक्ष्मीवल्लभ कृत 'अध्यात्म फाग' महत्वपूर्ण कृति है। यह एक सुन्दर रूपक काव्य है। शरीर रूपी वृन्दावन कुन्ज में ज्ञान बसन्त प्रगट होता है। बुद्धि रूपी गोपी के साथ पंच गोपों (इन्द्रियां) की मिलन-वेला सजती है। सुमति राधा के साथ आतम हरि होली खेलते हैं।३ यशोविजय जी के भी 'होरी गीत' मिलते हैं। एक

---

१. घन की घनघोर घटा उनही, विजुरी चमकति झलाहलिसीं।
विचि गाज अगाज अवाज करंत सु, लागत मो विष वेलि जिसी॥
पपीया पिउ पिउ रटत रयण जु, दादुर मोर वदै ऊलि सी।
ऐसे श्रावण में यदु नेमि मिलै, सुख होत कहै जसराज रिसी॥
—नेमि बारहमासा, जिनहर्ष, जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खंड २, पृ० ११७६।

२. आषाढ़ उमट्या मेह, गया पंथि आपणि गेह।
हुं पणि जोउं प्रिय वाट, खांति छाउं खाट॥१२॥
—समयसुन्दर कृति कुसुमांजलि, संपा० अगरचन्द नाहटा, नेमिनाथ बारहमासा, पृ० १२१।

३. आतम हरि होरी खेलिये, अहो मेरे ललनां
सुमति राधाजू के संगि।
सुख सुरतरु की मंजरी हो, लई मनु राजा राम,
अब कउ फाग अति प्रेम कउ हो, सफल कीजे मलि स्याम। आतम०

* * *

बजी सुरत की बांसरी हो, उठे अनाहत नाद,
तीन लोक मोहन भए हो, मिट गए दंद विषाद॥आतम०॥७॥
—अध्यात्म फागु, लक्ष्मीवल्लभ, प्रस्तुत प्रबन्ध का तीसरा प्रकरण।

वर महिमा मादल वजे हो, चतुराइ मुख चंग।
दया वाणी डफ वाजती हो शोभा तत्व ताल संग ।।खे०।।६।।"१

महात्मा आनन्दघन ने अनन्य प्रेम को आध्यात्मिक पक्ष में बड़े आकर्षक ढंग से घटाया है। इन्होंने आध्यात्मिक क्षेत्र में विरह की विविध दशाओं के अनुपम चित्र भी उतारे हैं। प्रिया विरहिणी है। पति कहीं बाहर है। वह बिना पति के सुध-बुध खो बैठी है। महल के झरोखे में उसकी आंखें झूल रही है—प्रतीक्षारत है। पति नहीं आया। अब वह कैसे जीये। विरह रूपी भुजंग उसकी प्राण रूपी वायु को पी रहा है। विरह की आग सर्वत्र व्याप्त है। शीतल पंखा, कुमकुम और चंदन कुछ काम नहीं दे रहे हैं। शीतल पवन से विरहानल बुझता नहीं, वह तो तन के ताप को और भी बढ़ा देता है। ऐसी ही दशा में एक दिन होली जल उठी। सभी फाग और होली के खेल में मस्त हो गये। विरहिणी कैसे खेले। उसका तो मन जल रहा है। उसका शरीर खाक होकर उड़ जाता है। होली तो एक ही दिन जलती है, उसका मन तो प्रतिदिन जलता है। होली के जलने में एक आनन्द है और इस तन की जलन में दुःख है। हे प्रभु! समता मन्दिर में बैठकर वार्तालाप रस बर्साना, मैं तुम्हारी बलि जाती हूँ अब इतने निष्ठुर कभी न होना—

"पिया बिनु शुद्ध बुद्ध भूली हो।
आंख लगाइ दुख महल के झरुखे झूली हो।।
प्रीतम प्राणपति बिना प्रिया, कैसें जीवे हो।
प्राण पवन विरहदशा, भुयंगम पीवे हो।।
शीतल पङ्खा कुमकुमा, चंदन कहा लावे हो।
अनल न विरहानल पेरैं, तनताप बढ़ावे हो।।
फागुन चाचर इक निशा, होरी सिरगानी हो।
मेरे मन सब दिन जरे, तन खाक उड़ानी हो।।
समता महेल बिराज है, वाणी रस रेजा हो।
बलि जाउं आनन्दघन प्रभु, ऐसे निठुर न व्हेजा हो।।"२

सच्चे प्रेम में एक अनन्यता होती है। उसमें सर्वत्र प्रिय ही प्रिय है। इस अनन्यता एवं तल्लीनता की अपूर्वता आनन्दघन के पदों में सर्वत्र दृश्यमान है। 'आनन्दघन की सुहागिन के हृदय में ब्रह्म की अनुभूति का प्रेम जगा है। उसकी

१. धर्मवर्धन ग्रन्थावली, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ६४।
२. आनन्दघन पद संग्रह, श्रीमद् बुद्धि सागर जी, अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई, पद ४१, पृ० ११६-१२३।

छटा देखते ही बनती है। जैन साहित्य में तो बालक के गर्भ में आने के पूर्व ही कुछ ऐसे वातावरण की सर्जना होती रही है कि उसके जन्म के पूर्व ही वात्सल्य पनप उठता है। तीर्थंकरों के गर्भ में आने के उत्सव मनाये जाते हैं, जिन्हें जैन साहित्य में 'कल्याणक' कहते हैं। इनका वर्णन बड़ा ही अनुभूति पूर्ण हुआ है।

बालक ऋषभदेव धीरे-धीरे बड़े होते हैं और कवियों के द्वारा बाल सुलभ सरल, भोली चेष्टाओं का वर्णन भी हृदयकारी ढंग से प्रस्तुत किया गया है—

"दिन दिन रूपे दीपतो, कांइ बीज तणो जिम चन्द रे।
सुर बालक साथे रमे, सहु सज्जन मनि आणंद रे॥
सुन्दर वचन सोहामणां, बोले बाढु अडो बाल रे।
रिम झिम बाजे घूघरी, पगे चाले बाल मराल रे॥"१

कुछ कवियों ने अपने स्तवनों में भी तीर्थंकरों की बाल-लीलाओं के विशद वर्णन किये हैं। कवि जिनराजसूरि ने आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के स्तवन में ऋषभ की सहज क्रीड़ाओं का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन किया है। इस वर्णन को पढ़कर महाकवि सूर और उनके कृष्ण सहज ही स्मरण हो आते हैं। मरुदेवी के मातृ-हृदय की तथा बालक ऋषभ की सहज, सुलभ क्रीड़ाओं की सरल स्वाभाविक अभिव्यक्ति का वह स्तवन द्रष्टव्य है—

"रोम रोम तनु हुलसइ रे, सूरति पर बलि जाउ रे।
कबही मोपइ आईयउ रे, हूँ भी मात कहाऊं रे॥३॥
पगि घूघरडी घमघमइ रे, ठमकि ठमकि धरइ पाउ रे।
बांह पकरि माता कहइ रे, गोदी खेलण आउ रे॥४॥
चिवुकारइ चिपटी दीयइ रे, हुलरावइ उर लाय रे।
बोलइइ बोल जु मनमना रे, दंतिआ दोइ दिखाइ रे॥५॥

*　　*　　*

चटकइ चटपट चालवइ रे, वंगू लट्टू फेरि रे।
रंग रंगीली चकडी रे, फेरइ नीकइ घेर रे॥६॥
बहिणी लूण उतारती रे, अइसइ द्यइ आसीस रे।
चिर जीवे तूं नानडा रे, कोडाकोडि वरीस रे॥१०॥"२

---

१. "ऋषभ विवाहला", कुमुदचन्द्र, प्रस्तुत प्रबन्ध का दूसरा प्रकरण।
२. जिनराजसूरि कृत कुसुमांजलि, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ३१-३२

मोह दृष्टि मद-मदिरा-माती, ताको होत उछालो,
पर-अवगुन राचे सो अहनिशि, काग अशुचि ज्यौं कालो।चे०।५
ज्ञान दृष्टि मां दोष न एते, करो ज्ञान अजु आलो;
चिदानंद-घन सुजस वचन रस, सज्जन हृदय परवालो। चे०।६"१

इसी तरह ज्ञानानंद ने भी अपने प्रिय आत्मरूप को बाह्यदृष्टि छोड़कर अन्तर्मुखी बनने की सलाह दी है।२ विनय विजय ने अपने आत्माराम की उदासी का पता लगाते हुए कहा है, उलट-पटल कर भौतिक आशाएँ तुम्हें घेर रही हैं और तुम उसके दास बन गये हो। रात-दिन उन्हीं के बीच रहते हो, पल भर में तुम्हारी पोल खुल जायगी। संसार में आवागमन की फांसी से मुक्त होने के लिए विषम विषय की आशा छोड़ दो। संसार में किस की आशा पूर्ण हुई है, यह तो दुर्मति का ही कारण है। इनकी 'सोहबत' न छुटी तो सन्यासी बनने से क्या होता है। जरा हृदय मे विचार कर देखो कि अन्यों के चक्कर में भटकने से तुम्हारी सुमति महारानी रूठ गई हैं। तुम माया में क्या रम रहे हो, अन्त में वह तुम्हें छोड़कर भाग जायगी।३ कवि धर्मवर्धन ने अपने मन-मित्र को कितने स्नेह भाव से समझाया है—

"मानो वैण मेरा, यारो मानो वयणा मेरा।
सैन तु मोह निद्रा मत सोवे, है तेरे दुश्मन हेरा ॥१॥
मोह वशे तुं इण भव मांहे, फोगट देत हैं फेरा।
यार विचार करो दिल अन्तर, तुं कुण कौन है तेरा ॥२॥"४

समयसुन्दर ने अपने "जीयु" को मन में दुःखी न करने के लिए सान्त्वना दी है। हर परिस्थिति से समझौता करने और संतोष रखने का सरल उपदेश दिया है—

"मेरी जीयु आरति कांइ धरइ।
जइसा वखत मइं लिखति विधाता, तिण मइं कछु न टरइ ॥१॥"५

कवि ने प्रिय को भी मित्र भाव से सम्बोधन किया है—

---

१. गूर्जर साहित्य संग्रह भाग १, यशोविजयजी, आध्यात्मिक पद, पृ० १६०।
२. भजन संग्रह धर्मामृत, पं० बेचरदास पद २८, पृ० ३१।
३. रूठ रही सुमति पटराणी, देखो हृदय विमासी।
गुंज रहे हो क्या माया में, अंत छोरी तुम जासी ॥हो०॥४॥"
—भजन संग्रह, धर्मामृत, संपा० बेचरदास दोशी, पृ० ४१, भजन ३८।
४. धर्मवर्धन ग्रन्थावली, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ८२।
५. समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ४३३।

मोह दृष्टि मद-मदिरा-माती, ताको होत उछालो,
पर-अवगुन राचे सो अहनिशि, काग अशुचि ज्यौं कालो ।चे०।५
ज्ञान दृष्टि मां दोष न एते, करो ज्ञान अजु आलो;
चिदानंद-घन सुजस वचन रस, सज्जन हृदय परवालो । चे०।६"[१]

इसी तरह ज्ञानानंद ने भी अपने प्रिय आत्मरूप को बाह्यदृष्टि छोड़कर अन्तर्मुखी बनने की सलाह दी है ।[२] विनय विजय ने अपने आत्माराम की उदासी का पता लगाते हुए कहा है, उलट-पटल कर भौतिक आशाएँ तुम्हें घेर रही हैं और तुम उसके दास बन गये हो । रात-दिन उन्हीं के बीच रहते हो, पल भर में तुम्हारी पोल खुल जायगी । संसार में आवागमन की फांसी से मुक्त होने के लिए विषम विषय की आशा छोड़ दो । संसार में किस की आशा पूर्ण हुई है, यह तो दुर्मति का ही कारण है । इनकी 'सोहबत' न छुटी तो सन्यासी बनने से क्या होता है। जरा हृदय में विचार कर देखो कि अन्यों के चक्कर में भटकने से तुम्हारी सुमति महारानी रूठ गई हैं । तुम माया में क्या रम रहे हो, अन्त में वह तुम्हें छोड़कर भाग जायगी ।[३] कवि धर्मवर्धन ने अपने मन-मित्र को कितने स्नेह भाव से समझाया है—

"मानो वैण मेरा, यारो मानो वयणा मेरा ।
सैन तु मोह निद्रा मत सोवे, है तेरे दुश्मन हेरा ॥१॥
मोह वशे तुं इण भव मांहे, फोगट देत हैं फेरा ।
यार विचार करो दिल अन्तर, तुं कुण कौन है तेरा ॥२॥"[४]

समयसुन्दर ने अपने "जीउ" को मन में दुःखी न करने के लिए सान्त्वना दी है । हर परिस्थिति से समझौता करने और संतोष रखने का सरल उपदेश दिया है—

"मेरो जीउ आरति कांइ धरइ ।
जइसा बखत मइं लिखति विधाता, तिण मइं कछु न टरइ ॥१॥"[५]

कवि ने प्रिय को भी मित्र भाव से सम्बोधन किया है—

---

१. गुर्जर साहित्य संग्रह भाग १, यशोविजयजी, आध्यात्मिक पद, पृ० १६० ।
२. भजन संग्रह धर्मामृत, पं० बेचरदास पद २८, पृ० ३१ ।
३. रूठ रही सुमति पटरानी, देखो हृदय विचारी ।
भूल रहे हो क्या माया में, अन्त छोरि तुम जासी ॥हो०॥४॥"
—भजन संग्रह, धर्मामृत, संपा० बेचरदास दोशी, पृ० ४१, भजन ३८ ।
४. धर्मवर्धन ग्रन्थावली, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ९८ ।
५. समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ४३३ ।

परमानन्द का अनुभव होता रहता है। कवि जिनहर्ष ने प्रभु के दर्शन से पाप दूर हो जाने और अनन्त आनन्द प्राप्त होने की वात बड़े सहज ढंग से कही है—

"देख्यौ ऋषभ जिनन्द तव तेरे पातिक दूरि गयो।
प्रथम जिनंद चन्द कलि सुर-तरू कंद।
सेवै सुर नर इन्द आनन्द भयौ ॥१॥"१

सेवा जन्य आनन्द इन कवियों के जीवन का चरम लक्ष्य वना रहा है। आराध्य भी कम दयालु या उदार नहीं, वह तो अपने भक्त को भी अपने समान वना देता है। ऐसे 'दीन दयालु' की सेवा की आकांक्षा का संवरण भला भक्त कैसे कर सकता है—

"वृषभ जिन सेवो वहु सुखकार।
परम निरंजन भव भय भंजन
संसारार्णवतार ॥वृषभ०॥१॥"२

शुभचंद्र आदि पुरुष, आदि जिनेन्द्र के चरणों में अपनी विनीत-भावनाओं की श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहते हैं—

"आदि पुरुष भजो आदि जिनेंदा ॥
सकल सुरासुर शेष सुव्यंतर, नर खग दिनपति सेवति चंदा ॥१॥
जुग आदि जिनपति भये पावन, पतित उदारण नाभिख के नंदा।
दीन दयाल कृपा निधि सागर, पार करो अध तिमिर दिनेंदा ॥२॥
केवल ज्ञान थे सव कछु जानत, काह कहू प्रभु मो मति मंदा।
देखत दिन-दिन चरण सरणते, विनती करत यो सूरि शुभ चंदा ॥"३

दीनता एवं दासता

प्रभु के प्रति उत्पन्न भक्त के हृदय की दासता सात्विक होती है। उसमें भौतिक स्वार्थ की गंध नहीं। जैन भक्त कवि अपने प्रभु की दासता में अपना जीवन यापन करने की निरन्तर उत्कंठा करते रहे हैं। यहां दीनता का अर्थ धिधियाना नहीं, स्वार्थजन्य चापलूसी नहीं, अपितु अपने आराध्य के गुणों से प्रभावित विनम्र याचना करना है। इसे निष्काम भक्ति की ही एक दशा कह सकते हैं। दीन भक्त अपने प्रभु से याचना भी करता है तो स्वाभिमान के साथ। कवि जिनहर्ष प्रभु के दास बनकर

---

१. जिनहर्ष ग्रंथावली, संपा० अगरचंद नाहटा, चौवीसी, पृ० १।
२. हिन्दी पद संग्रह, संपा० डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल, जयपुर, पृ० ३।
३. कस्तूरचंद कासलीवाल, राजस्थान के जैन संत—व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ० १६४।

"नमु नमु नमि जिन चरण तोरा,
हूं सेवक तूं साहिब मोरा ॥१॥
जउ तूं जलधर तउ हूं मोरा,
जउ तूं चंद तउ हूं भी चकोरा ॥१॥
सरणइ राखि करइ क्रम जोरा,
समयसुन्दर कहइ इतना निहोरा ॥३॥"१

उपालंभ :

रात दिन स्वामी की समीपता से सेवक की जैसे कुछ धड़क खुल जाती है, उसी प्रकार प्रभु के निरन्तर ध्यान-सान्निध्य की अनुभूति से उत्पन्न मीठे उपालंभ भी भक्त-हृदय से स्वाभाविक रूप से निसृत हो जाते हैं। अपनी सेवक जन्य शालीनता का ध्यान रखते हुए कवि कुमुदचंद्र ने कितनी सरलता एवं स्वाभाविकता से अपने प्रभु को बहुत कुछ कह दिया है—

"प्रभु मेरे तुमकुं ऐसी न चाहिए ॥
सघन विघन घेरत सेवककुं।
मौन धरी किउं रहिये ॥प्रभु०॥१॥
विघन-हरन सुख-करन सबनिकुं।
चित्त चिंतामनि कहिये ॥
अशरण शरण अबंधु बंधु कृपासिंधु
को बिरद निबहिये ॥ प्रभु० ॥२॥
हम तो हाथ बिकाने प्रभु के।
अब तो करो सोई सहिये ॥
तो फुनि कुमुदचन्द्र कई शरणा—
गति की सरम जु जहिये ॥प्रभु०॥३॥"२

दीन भक्त अपने दीनबन्धु से किस स्वाभिमान से याचना करता है और मीठे उपालंभ रूप क्या क्या कह जाता है देखिए—३

"जो तुम दीनदयाल कहावत ॥
हमसे अनाथनि हीन दीन कूं काहे न नाथ निवाजत ।"

* * *

१. समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि, संपा० अगरचंद नाहटा, नमिजिन स्तवन, पृ० १२-१३ ।

२. कुमुदचंद्र प्रस्तुत प्रबन्ध का दूसरा प्रकरण ।

३. हिन्दी पद संग्रह, संपा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर, पृ० १३-१५ ।

"नाथ अनाथनि कूं कुछ दीजै ।
विरद संभारी धारी हठ मनतें, काहे न जग जस लीजै ।"

उस अनन्त प्रेमी की उल्टी रीत देखकर महात्मा आनन्दघन की विरहिणी भी उपालंभ का अवसर ढूंढ़ निकालती है—

"प्रीत की रीत नहीं हो प्रीतम ।
मैं तो अपनो सरव शृङ्गारो, प्यारे की न लाई हो । प्री०॥१॥
मैं वस पिय के पियसंग और के, या गति किन सीखई ॥
उपगारि जन जाय मनावो, जो कछु भई सो भई हो ॥प्री०॥२"[1]

इसी तरह लालविजय के 'नेमिनाथ द्वादश मास' में राजुल मीठा उपालंभ देती हुई अपने प्रिय से पूछती है, अगर यही हालत करनी थी तो सम्बन्ध ही क्यों जोड़ा । उपालंभ का कौशल देखिए—

"तुमे आगि असाढ़मि क्यों न लीया-वरत तुम काहि कु बरात बुलाइ,
छप्पन कोड जुरे वंस वाहन आंन नीसात वजाइ ।
संग समुद्र विजै बलीभद्र, मुरार की तोहि लाज न आइ,
नेमि पिया अब आवो घरे इन बातन में कहो कोन वढाइ ॥१॥"[2]

कवि विनयचंद्र 'नेमिनाथ गीत' में प्रभु को उपालंभ देते हुए कहते हैं, 'हे नेमि ! तुम मुक्ति रूपी रमणी पर मोहित हो रहे हो, पर उसमे स्वाद कहां ? अंत में उस स्थिति को भोगना ही है, अभी यह बालकपन छोड़ दो ।'[3] कवि समयसुन्दर अपने 'करतार गीतम्' में इसी तरह का उपालंभ देते हुए प्रभु से पूछते हैं, 'रे प्रभु तू कृपालु है कि पापी है, तेरी गति का पता नहीं चलता ।'[4] श्रीमद् देवचंद्र ने अपनी चौवीसी में एक तरफ प्रभु को मीठा उपालंभ दिया है तो दूसरी ओर विनम्र बनकर प्रभु से दया याचना की है । उन्होंने कहा है, 'प्रभु मुझे अपना सेवक समझकर तार दो,

---

१. आनंदघन पद संग्रह, अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई, पद ६६, पृ० ३०० ।
२. लालविजय, नेमिद्वादशमास, जैन-गूर्जर कविओ, भाग ३, खंड १, पृ० ९६९-७० ।
३. नेमजी हो मुगति रमणि मोह्या तुम्हें हो राजि, पिण तिण में नहि स्वाद ।
नेमजी हो तेह अनन्ते भोगवी हो राजि, छोडउ छोकरवाद ।"
—विनयचंद्र कृत कुसुमांजलि, संपा० भंवरलाल नाहटा, पृ० ६० ।
४. कबहू मिलइ मुझ करतारा, तउ पूछु दोइ बतियां रे ।
तू कृपाल कि तू हइ पापी, लखि न सकू तोरी गतियां रे ॥१॥
—समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि, संपा० अगरचंद नाहटा, पृ० ४१२ ।

कम से कम जगत् में इतना तो यश ले लो। सेवक अवगुणों से भरा हुआ है, फिर भी उसे अपना समझ कर हे दयानिधि इस दीन पर दया करो।"१

लघुता और स्व-दोषों का उल्लेख

भक्त हृदय में आराध्य की महत्ता के अनुभव के साथ दीनता और लघुता का आभास होता ही है। इस तरह की अनुभूति सात्विक ही है। लघुता एवं स्व-दोष वर्णन पूरित आत्म-निवेदन अहंकार को नष्ट कर विनय भाव को जगता है। तुलसीदास की विनय पत्रिका इसका उज्ज्वल प्रमाण है। इन कवियों ने भी इस प्रकार की अनुभूति अभिव्यक्त की है। महात्मा आनन्दघन का हृदय अपनी लघुता में ही रमा है। भक्त प्रेमिका बनकर आराध्य के आने की प्रतीक्षा करता हुआ कहता है—"मैं रात-दिन तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ, प्रभु तुम कब घर आओगे। तुम्हारे लिए तो मेरे जैसे लाखों हैं, परन्तु मेरे लिए तो तुम एक ही हो। जोहरी लाल का मूल्य आंक सकता है, किन्तु मेरा लाल तो मूल्यातीत है। जिसके समान दूसरा कोई नहीं, उसका मूल्य भी कैसे हो सकता है।"२ महात्मा आनन्दघन ने लघुता, स्वदोष-वर्णन, आत्मनिवेदन, दासता, उपालंभ आदि के भाव एक साथ संजोये हैं। कवि ने प्रेम भक्ति के आवेश में प्रभु को मीठी चुनौती दी है—उन्होंने कहा है, "प्रभु तुम पतित उद्धारक होने का दावा करते हो, यह क्या सच है या नशा पीकर कहते हो? कारण कि अब तक मेरे जैसे पापी का बिना उद्धार किये इस प्रकार का विरुद कैसे प्राप्त कर सकते हो। मुझ क्रूर, कुटिल और कामी का उद्धार करो तब ही पतित उद्धारक के विरुद को सत्य मान सकता हूँ। आपने अनेक पतितों का उद्धार किया होगा पर मेरे मन तो आप बिना करनी के ही कर्ता बन बैठे हो। एकाध का तो नाम बताओ, झूठे विरुद धरने से क्या होता है। आगे और बताते हैं—निपट अज्ञानी पापी और अपराधी यह दास है, अब अपनी लाज रखकर तथा समझकर इसे सुधार लो। "......हे प्रभु जो बात बीत गई सो बीत गई, अब ऐसा न कर इस दास के उद्धार में तनिक भी देर न करो।

१. तार हो तार प्रभु मुझ सेवक भणी, जगतमां एटलुं सुजस लीजे।
दास अवगुण भर्यो जाणी पोतातणो, दयानिधि दीन पर दया कीजे॥"
—श्रीमद् देवचंद्र, चौवीसी, प्रस्तुत प्रबंध का तीसरा प्रकरण।

२. निश दिन जोऊं तारी वाटड़ी, घरे आवो रे ढोला।
मुझ सरिखा तुज लाख है, मेरे तुम्हीं अमोला॥१॥
जव्हरी मोल करे लाल का, मेरा लाल अमोला।
ज्याके पटन्तर को नहीं, उसका क्या मोला॥२॥
—आनन्दघन पद संग्रह, पद १६, पृ० ३७।

रहा, दान भी न दे सका। कुटिलों की संगति को अच्छा समझा और साधुओं की संगति से दूर रहा।"१

कवि किशनदास का आलदैन्य उनके हृदय का बांध तोड़कर सहज भाव से फूट पड़ा है। भक्त प्रभु के समक्ष अपने समस्त पापों की तथा नासमझी की स्वीकृति कर लेता है और निश्छल भाव से किसी भी तरह अपने को निवाह लेने की विनती करता है—

"ज्ञान की न गूंझी शुभ ध्यान की न सूझी।
खान-पान की न बूझी अब एब हम मूंझी है॥
मुझसो कठोर गुन–चोर न हराम खोर।
तुझसो न और ठौर और दौर चूंहि है॥
अपनी-सी कीजे मेरे फैल पैन दिल दीजें।
किशन निवाहि लीजें जो पैं ज्यूंहि क्युहि है॥
मेरा मन मानि आनि ठहरयो ठिकानें अब।
तेरी गति तुं हि जाने मेरी गति तूं हि है॥६१॥"२

कवि ज्ञानविमलसूरि के दिल से अत्यधिक पश्चाताप उठ रहा है कि उन्होंने जीवन व्यर्थ विता दिया। जिससे संगत करनी चाहिए थी उसकी संगति नहीं की, उससे प्रेम नहीं किया, उसके रंग में न रंगा, उसे भोग नहीं लगाया। सब कुछ परायों के अर्थ करता रहा और दर-दर भटकता रहा।३ कवि जिनराजसूरि ने भी खुले दिल से तथा निश्छल भाव से अपना दोष-दर्शन और पश्चाताप का भाव व्यक्त किया है। उन्होंने कहा है, मैंने कभी प्रभु का ध्यान नहीं किया। कलियुग में अवतार लेकर कर्मों में फँसा रहा और अनेक पाप करता रहा। बचपन भटकने में, यौवन भोग-

---

१. मैं तो नर भव वाधि गमायो॥
न कियो तप जप व्रत विधि सुन्दर॥ ·········काम भलो न कमायो॥
विरल कुटिल शठ संगति बैठो। साधु निकट विघटायो॥
—कुमुदचंद्र राजस्थान के जैन संत, व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ० २७२।

२. गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रंथ, डॉ० अम्बाशंकर नागर, उपदेश बावनी, पृ० १८२

३. बालमीयारे विरथा जनम गमाया।
पर संगत कर दर विसि भटका, परसे प्रेम लगाया।
परसे जाया पर रंग माया, परकुं भोग लगाया॥१॥
—ज्ञानविमलसूरि, प्रस्तुत प्रबन्ध का तीसरा प्रकरण।

विलास में और बुढ़ापा इन्द्रियों की शिथिलता में यों ही बीत चला। धर्म का मर्म नहीं पा सका और सांसारिक कामों का पिंड बना रहा। फिर भी प्रभु ने अपनी उदारता एवं भक्तवत्सलता का परिचय देकर मुझे अपना लिया।[1]

आराध्य की महत्ता :

भक्त की अपनी लघुता की स्वीकृति के साथ ही आराध्य की महत्ता जुड़ी हुई है। इसे स्वीकार करके ही भक्त के हृदय में श्रद्धा-भाव जगता है। उपास्य के गुणों की चरम अनुभूति पूज्य और पूजक के भेद को लय कर देती है।

आराध्य की महत्ता अनेक ढंग से निरूपित की जा सकती है। सूर और तुलसी ने अपने-अपने आराध्य कृष्ण और राम को अन्य देवों से बड़ा बताया है। जैन कवियों ने भी अपने जिनेन्द्र को बड़ा मानकर अपने आराध्य के प्रति अनन्य भाव ही प्रकट किया है। जैन गूर्जर कवियों ने अपने देवों को बड़ा तो बताया है। किन्तु अन्यों को बुरा नहीं कहा।

आराध्य की महिमा की अनुभूति भक्त-हृदय को पुनीत और आराध्यमय बना देती है। कवि जिनहर्ष ने अपनी इस अनुभूति को व्यक्त करते हुए कहा है, "भगवान आदिनाथ की सेवा, सुर, नर, इन्द्र आदि सभी करते हैं। उनके दर्शन मात्र से पाप दूर हो जाते है। कलियुग के लिए वे कल्पवृक्ष की भांति हैं। सारा संसार उनके चरणों में नत है। उनकी महिमा और कीर्ति का कोई पार नहीं। सर्वत्र उनकी ज्योति जगमगा रही है। संसार-समुद्र को पार करने के लिए वे जहाज-रूप हैं। उनकी छवि मोहिनी और अनूप है, रूप अद्भुत है और वे धर्म के सच्चे राजा हैं। नेत्र जैसे ही उनके दर्शन करते हैं उनमें सुख के बादल बरस पड़ते हैं।"[2] कवि यशोविजयजी अपने आराध्य "जिनजी" की अद्भुत रूप-महिमा की आनन्दानुभूति व्यक्त करते हुए कहते हैं—

"देखो माइ अजब रूप जिनजी को।
उनके आगे और सबन को, रूप लगे मोहि फीको॥
लोचन करूना अमृत कचोले, मुख सोहे अतिनीको।
कवि जस विजय कहे यों साहिब, नेमजी त्रिभुवन टीको॥"[3]

कवि चन्द्रकीर्ति ने कहा है, "जिस दिन जिनवर के दर्शन हो जाते हैं, वह दिन मणि के समान धन्य हो उठता है। वह सुप्रभात धन्य है जब कमल की तरह

---

1. जिनराजसूरि कृत कुसुमांजलि, पृ० ६२, ६३।
2. जिनहर्ष ग्रंथावली; संपा० अगरचन्द नाहटा, चौबीसी, पृ० १।
3. गूर्जर साहित्य संग्रह, भाग १, यशोविजयजी, पृ० ८५-८६।

प्रमुदित मुख के दर्शन हो जाते हैं, उनके वचन अमृत से भी मीठे हैं। जिनवर के दर्शन कर जन्म सफल हो जाता है, उनके मीठे गुणों के श्रवण से कर्ण सफल होते हैं। ऐसे जिनवर की जो पूजा करता है वह धन्य है। हे जिन ! तुम्हारे बिना दूसरा कोई देव नहीं, जिनके दर्शन से 'मुगति' रूप स्वर्ग मिल जाता है। ऐसे प्रभु के चरणों में चन्द्रकीर्ति नत-मस्तक होते हैं।"१ कवि समयसुन्दर का भक्त-हृदय प्रभु के अनन्त, अपार गुणों की महिमा गाता हुआ तृप्त नहीं होता है। वे कहते हैं, 'प्रभु तुम्हारे गुण अनन्त और अपार हैं। सुर, गुरु आदि अपने सहस्त्रों 'रसना' से तुम्हारा गुणगान करें तब भी उनका पार नहीं आ सकता। तुम्हारे गुणों की गिनती करना आकाश के तारे गिनना है, अथवा सुमेरु पर्वत का भार वहन करना है। चरम सागर की लहरें उनके गुणों की माला फेर रही हैं, फिर भला उनके गुणों का और कोई कैसे विचार कर सकता है। मैं उनकी भक्ति और गुण का क्या बखान करूं, 'सुविध जिन' अनन्त सुख देने वाले हैं। हे स्वामी ! तुम ही एक मात्र आधार हो।"२ कवि धर्मवर्धन के मन में 'प्रभु की सेवा ही सच्ची मिठाई और मेवा है। पुष्प कली जैसे सूर्य को देखकर उल्लसित होती है और हाथी को जैसे रेवा नदी से राग होता है, उसी प्रकार की लगन प्रभु से लग गई है। प्रभु महान है, वह सर्वगुण सम्पन्न है और असीम सामर्थ्यवान भी है। प्रभु-पारस के स्पर्श से मानवात्मा रूपी लोहा भी स्वर्ण बन जाता है। उस स्वर्ण सुन्दरी को मैं अपने दिल से पल भर के लिए भी कैसे दूर करूं ?"३ कवि लक्ष्मीवल्लभ ने 'ऋषभ जिन स्तवन' में कहा है, प्रभु के दर्शनों से मेरा जीवन पवित्र हो गया है और परम आनन्द की अनुभूति हुई है। "वह अनन्त अनादि ब्रह्म सर्वव्यापी है, मूर्ख उसे समझ नहीं पाते। वह संतों का प्यारा है। परम आत्मरूप, प्रतिपल प्रतिबिम्बित से ब्रह्म को 'सूरती' ही जान सकती है। ऐसे जिन राज की पूजा करता हुआ कवि दिव्य अनुभव-रस में मग्न है।"४

नामजप

जिनेन्द्र के नाम-जप की महिमा जैन गूर्जर कवियों ने सदैव स्वीकार की है। सूर और तुलसी की भांति इन कवियों ने भी स्थान-स्थान पर भगवान के नाम की महत्ता का भावपूर्ण निरूपण किया है। इनकी दृष्टि में जिनेन्द्र का नाम लेने से

---

१. चन्द्रकीर्ति पद, प्रस्तुत प्रबन्ध का दूसरा प्रकरण।
२. समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि, सुविधि जिन स्तवन, पृ० ७।
३. धर्मवर्धन ग्रन्थावली, पृ० ८८।
४. लक्ष्मीवल्लभ, ऋषभजिनस्तवन, चौवीसी, जैन गूर्जर साहित्य रत्नो, भाग १ पृ० २९९।

सांसारिक वैभव तो मिलते ही है, उसके प्रति आकर्षण भाव भी प्राप्त होता है और जीवन मोक्ष गामी होता है। नाम-जप से चक्रवर्ती का पद प्राप्त करना तो आसान है। इस प्रकार नामजप से इहलोक और परलोक दोनों ही सुधर जाते हैं।

कवि कुमुदचन्द्र ने अपने 'भरत बाहुबलि छन्द' के प्रारम्भिक मंगला-चरण में आदीश्वर प्रभु का नाम मात्र लेने से संसार का चक्र (जन्म-मरण का चक्कर) छूट जाने की बात कही है।[1] कुशल लाभ ने पंचपरमेष्ठी के नाम की महिमा गाते हुए कहा है कि 'नवकार' को जपने से संसार की संपत्तियां तो मिल ही जाती हैं, शाश्वत सिद्धि भी प्राप्त होती है।[2] श्री यशोविजयजी ने 'आनन्दघन अष्टपदी' में बताया है कि 'अरे चेतन ! तू संसार के भ्रमजाल में क्यों फँसा है। भगवान जिनेन्द्र के नाम का स्मरण कर। सद्गुरु का भी यही उपदेश है।

'जिनवर नामसार भज आतम, कहा भरम संसारे।
सुगुरु वचन प्रतीत भये तब, आनन्दघन उपगारे॥"[3]

कवि जिनहर्ष ने भी प्रभु को भजने की सलाह देते हुए कहा है, 'रे प्राणि ! यदि तू मन का सच्चा सुख चाहता है तो अब उठ, प्रातःकाल हो गया है। प्रभु का भजन कर ! आलस्य छोड़कर जो 'साहिब' को भजता है, उसकी समस्त आशाएँ पूर्ण होती हैं—

"भोर भयो उठि भजरे पास।
जो चाहे तू मन सुख वास॥

o o

आलस तजि भजि साहिब कूं।
कहै जिनहर्ष फलै जु आस॥५॥"[4]

---

१. पणविवि पद आदीश्वर केरा, जेह नामें छूटे भव फेरा।
—भरत बाहुबलि छन्द, कुमुदचंद्र, पद्य १, प्रशस्ति संग्रह, जयपुर पृ० २४३।

२. नित्य जपीई नवकार संसार संपति सुखदायक;
सिद्धमंत्र शाश्वतो इम जंपे श्री जग नायक।
—नवकार छन्द, कुशल लाभ, अन्तिम कलश, जैन गूर्जर कविओ, भाग १, पृ० २१६।

३. आनन्दघन अष्टपदी, यशोविजयजी, आनन्दघन बहत्तरी, रामचन्द्र ग्रंथमाला, बम्बई।

कवि जिनहर्ष ने चौवीसों तीर्थंकरों की वन्दना करते हुए कहा है, 'चौवीसों जिनवर सुख को देने वाले हैं। मन को स्थिर कर शुद्ध भाव से प्रभु का कीर्तिगान करता हूँ। जिसका नाम कल्पवृक्ष के समान वर दायक है, जिन्हें प्रणाम करने से नव-निधियाँ प्राप्त होती हैं।१ कवि विनयचंद्र की प्रभु से चातक-जलधार की सी प्रीति जुड़ गई है। दिल में प्रभु का नाम निशि-दिन ऐसा तो वसा हुआ है जैसे वक्षस्थल पर हार पड़ा रहता है—

"जासौं प्रीति लगी है ऐसी, ज्यों चातक जल धार।
दिल में नाम वसै तसु निसदिन, ज्युं हियरा मइंहार ॥३॥"२

कवि विनयविजय प्रभु से न दौलत की कामना करते हैं और न विषय सुखादि की। उनके लिए 'आठो याम' प्रभु का नाम ही 'जिउ' को रंजन करने वाला है—

"दौलत न चाहुं दाम, कामसुं न मेरे काम।
नाम तेरो आठो जाम, जिउ को रंज है ॥१॥"३

कवि समयसुन्दर भी अन्तर्यामी जिनवर को जपने की सलाह देते हैं, क्योंकि चौबीस तीर्थङ्कर त्रिभुवन के दिनकर हैं, उनका नाम जपने से नवनिधियाँ प्राप्त होती हैं—

"जीव जपि जपि जिनवर अन्तरयामी।
ऋषभ अजित संभव अभिनन्दन।

० ० ०

चौवीस तीर्थंकर त्रिभुवन दिनकर,
नाम जपत जाके नवनिधि पामी ॥"४

---

१. जिनवर चउवीसे सुखदाई।
भाव भगति धरि निज मन स्थिर करी, कीरति छन शुद्ध गाई।
जाकै नाम कल्पवृक्ष सम वरि, प्रणामति नवनिधि पाई ॥"
—जिनहर्ष चौवीसी, जिनहर्ष ग्रंथावली।

२. विनयचन्द्र कृत कुसुमांजलि, संपा० भँवरलाल नाहटा, 'श्री पार्श्वनाथ स्तवनम्' पृ० ७०।

३. भजनसंग्रह धर्मामृत, संपा० पं० बेचरदास, भजन नं० ३१, पृ० ३४।

४. समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि, संपा० अगरचन्द नाहटा, "श्री वर्तमान चौवीसी स्तवन', पृ० १।

गुरु भक्ति :

भक्ति के क्षेत्र में गुरु का बड़ा महत्व है। साधक गुरु को लेकर ही अपनी भक्ति-यात्रा आरम्भ करता है। शुद्ध भाव से गुरु में अनुराग करना ही गुरु-भक्ति है। 'गुरु में अनुराग' का तात्पर्य-गुरु के गुणों में अनुराग करने से है। वैसे सभी सम्प्रदायों और सन्तों ने गुरु की महत्ता का प्रतिपादन किया ही है और गुरुविषयक रति के उदाहरण भक्तिकाल के प्रायः सभी कवियों की कविता में प्राप्त हैं। तुलसी ने गुरु-विषयक रति भाव की अभिव्यक्ति में कहा—

"बन्दौ गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।"[1]

कबीर आदि संतों ने गुरु को गोविन्द से भी श्रेष्ठ बताया है,[2] क्योंकि उन्हें विश्वास था कि "हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर।"

जैन साहित्य में भी गुरु का विशेष महत्व है। इन कवियों ने सत्गुरु का महत्व निर्विवाद और अविकल रूप से स्वीकार किया है। यहां गुरु और ब्रह्म में भेद नहीं स्वीकार किया गया है।[3] इन्होंने अर्हन्त और सिद्ध को भी 'सत्गुरु' की संज्ञा से अभिहित किया है। जैन आचार्यों ने पंच परमेष्ठी (अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु) को पंचगुरु कहा है। कवि चतरमल ने पंचगुरुओं को प्रणाम करने से मुक्ति मिलने की बात कही है।[4] जैन कवि सच्चे अर्थों में गुरु भक्त थे। उन्होंने बताया है कि जब तक गुरु की कृपा नहीं होती तब तक व्यक्ति मिथ्यात्व रागादि में फँसा हुआ संसार में भ्रमण करता रहता है सद् और असद् तथा जड़ और चेतन में अन्तर नहीं कर पाता। अतः वह 'कुतीर्थों' में घूमता रहता है और धर्तता करता रहता है। जैन आचार्यों ने 'गुरु' को मोक्ष मार्ग का प्रकाशक कहा है।[5]

---

१. राम चरित मानस, तुलसीदास, बालकाण्ड, प्रारम्भिक मंगलाचरण।

२. गुरु गोविन्द दोउ खड़े काके लागूं पाय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दयो बताय॥ —कबीर—गुरुदेव को अंग, संत सुधाकर, वियोगीहरि संपादित १४ वीं साखी, पृ० १२०।

३. चिद्रपचिता चेतन रे साखी परमब्रह्म।
परमात्मा परमगुरु तिहां नवि दीसियम्म॥
—तत्वसार दूहा, शुभचन्द्र, मन्दिर ढोलियान, जयपुर की प्रति।

४. लहहि मुकति दुति दुति तिरै, पंच परम गुरु त्रिभुवन सारू॥
—नेमीश्वर गीत-चतरूमल, आमेरशास्त्र भण्डार की प्रति, मंगलाचरण।

४. "गुरु भक्तिसंयमाभ्यां च तरन्ति संसारसागर घोरम्।" —दश भक्ति : आचार्य कुन्दकुन्द, प्राकृत आचार्य भक्ति, क्षेपक श्लोक पृ० २१४।

जैन सम्प्रदाय में निश्चय और व्यवहार 'नय' की दृष्टि से गुरु दो प्रकार के माने गये हैं। व्यवहार गुरु की बात तो ऊपर हो चुकी है। निश्चय गुरु अपनी आत्मा ही होता है। आत्मगुरु की वाणी अन्तर्नाद कहलाती है जो कभी-कभी सुनाई भी पड़ती है। आचार्य पूज्यवाद ने 'समाधितंत्र' में कहा है—'आत्मा ही देहादि पर पदार्थों में आत्मबुद्धि से अपने को संसार में ले जाती है और वही आत्मा अपपने आत्म में ही आत्म-बुद्धि से अपने को निर्वाण में ले जाती है। अत: निश्चय नय बुद्धि से आत्मा का गुरु आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं।"१ जीव अपनी मूढ़ता वश इस आत्मगुरु को पहचान नहीं पाता। यह रहस्य जानना प्रत्येक साधक का कर्तव्य है।

जैन कवियों की गुरु-भक्ति में अनुराग को पर्याप्त स्थान मिला है। इन्होंने गुरु के मिलन और विरह दोनों के गीत गाये हैं। गुरु के मिलन में शिष्य को संपूर्ण प्रकृति लहलहाती हुई दिखाई देती है और विरह में वह समूचे विश्व को उदासीन देखता है। उपाध्याय जयसागर की 'जिनकुशल सूरि चौपई' कुशल लाभ की 'श्रीपूज्य वाहण गीतम्', साधुकीर्ति की 'जिनचन्द्र सूरि गीतम्' आदि कृतियां अनुरागात्मक गुरु भक्ति की उज्ज्वल प्रतीक हैं।

कवि समयसुन्दर अपने गुरु राजसिंहसूरि की अनुराग-भक्ति की भाव-विभोरावस्था में कह उठे थे—"मेरा आज का दिन धन्य है। हे गुरु! तेरे मुख को देखते ही जैसे मेरी समूची पुण्यदशा साक्षात हो गई। हे श्री जिनसिंहसूरि। मेरे हृदय में सदैव तू ही रहता है और स्वप्न में भी तुझे छोड़कर अन्य कोई दिखाई नहीं देता। मेरे लिए तुम कुमुदिनी के चन्द्र समान हो, जिसको कुमुदिनी दूर होते हुए भी सदैव समीप ही समझती है। तुम्हारे दर्शनों से आनन्द उत्पन्न होता है, मेरे नेत्र प्रेम से भर जाते हैं। प्राण तो सभी को प्यारा होता है, किन्तु तुम मुझे उससे भी अधिक प्रिय हो—

"आज कुं धन दिन मेरउ।
पुन्य दशा प्रकटी अब मेरी, पेखतु गुरु मुख तेरउ॥
श्री जिनसिंहसूरि तुं हि मेरे जीउ में, सुपनइ मइं नहीय अनेरो।
कुमुदिनी चन्द्र जिसउ तुम लीनउ, दूर तुही तुम्ह नेरउ॥

---

१. नर्यथात्मात्मेव जन्मनिर्वाणमेवच।
गुरु रात्मात्मनस्तस्मान्नायोऽस्ति परमार्थत:॥७५॥
—समाधितन्त्र—आचार्य पूज्यपाद, पं० जुगल किशोर मुख्तार संपादित, १९३९ ई०।

तुम्हारउ दरसण , आणंद उपजती , नयन को प्रेम नवेरउ ॥
„समयसुन्दर" कहइ सब कुंयलाम, जीउतुं जिन चंद अधिकेरउ ॥३॥"१

श्री कुशल लाभ ने आचार्य पूज्यवाहण की भक्ति में इसी प्रकार की सरसता का परिचय दिया है कवि ने लिखा है, " आषाढ के आते ही दामिनी झबूकने लगी। कोमलांगी अपने प्रिय की बाट जोहने लगी। चातक मधुर ध्वनि में" पीउ पीउ करने लगा और सरोवर बरसात के विपुल जल से भर गये। इस अवसर पर महान् श्री पूज्यावाहारणजी श्रावकों को सुख देने के लिय चम्पावती में आये। वे दीक्षा-रमणी के साथ रमण करते हैं और उनमें हर किसी का मन बंधकर रह जाता है। उनके प्रवचन में कुछ ऐसा आकर्षण है कि उसे सुनकर वृक्ष भी झूम उठे है, कामिनी-कोकिल गुरु के ही गीत गाने लगी है, गगन गूंज उठा है और मयूर तथा चकोर भी प्रसन्न होकर नाच उठे है। गुरु के ध्यान में स्नात होकर शीतल हवा की लहरें बहने लगी हैं। गुरु की कीर्ति और सुयश से ही सम्पूर्ण संसार महक रहा है। विश्व के सातों क्षेत्रों में कर्म उत्पन्न हो गया है। श्री गुरु के प्रसाद से सदा सुख उत्पन्न होता है।"

"आव्यो मास असाढ झबूके दामिनी रे।
जोवइ जोवइ प्रीयडा वाट सकोमल कामिनी रे ॥"

* * *

साते खेत्र सुठाम सुधर्मह नीपजइ रे।
श्री गुरु पाय प्रसाद सदा सुख संपजइ रे ॥ "२

साधुकीर्ति की " जिनचन्दसूरि गीतानि " में गुरु की प्रतीक्षा की बेचैनी प्रोषित्पतिका की बेचैनी हो उठी है। कवि ने कहा है," हे सखि। मेरे लिए तो वत ही अत्यधिक सुन्दर है, जो यह बता दे कि हमारे गुरु किस मार्ग से होकर पधारेंगे श्री गुरु सभी को सुहावने लगते हैं और वे जिस पुर में आ जाते हैं, उसकी तो मानो शोभा ही शोभा हो जाती है। उनको देखकर हर कोई जयजयकार किये बिना नहीं रहता। जो गुरु की आवाज को भी जानता है, वह मेरा साजन है। गुरु को देखकर ऐसी प्रसन्नता होती है जैसे चन्द्र को देखकर चकोर को और सूर्य को देखकर कोक को। गुरु के दर्शनों से हृदय सन्तुष्ट, पुण्य पुष्ट और मन प्रसन्न होता है हे निर्द्वन्द्वी

---

१. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, जिनसिंह सूरि गीतम्, ७वां पद्य संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० १२६

२. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, श्री नाहटा संपादित, " श्री पूज्यवाहण गीतम्" कुशल लाभ, पद्य ६१-६४, पृ० ११६-११७

श्री जिनचन्द्र ! प्रमोदी होकर शीघ्र आ जाओ, तुम्हें देखकर मेरा हृदय जैसे अनिर्वचनीय रस का आनन्द ले उठेगा।"१ प्रतीक्षा की वही बेचैनी और व्याकुल अनुनय विनय कवि समयसुन्दर के शब्दों में देखिए

"गुरु के दरस अँखियाँ मोहि तरसइ।
नाम जपत रसना गुण पावत
सुजस सुणत ही श्रवण सरसइ ॥ १ ॥
श्री जिनसिंहसूरि आचारिज,
वचन सुधारस मुखि वरसइ।
समयसुन्दर कहइ अवहु कृपा करि,
नयण सफल करउ निज दरसइ ॥ ३ ॥"२

कवि के शब्दों में गुरु दीपक है, चन्द्रमा है, रास्ता बताने वाला है, पर उपकारी है, महान है, तथा" घाट उतारने वाला है।३

कवि धर्मवर्धन ने जिनचन्द्रसूरि की वदना कहा है–

"जिणचद यतीश्वर वंदन को,
नर नारी नरेसर आवत है।
वर मादल ताल कंसाल बजावत,
के गुरु के गुण गावत है ॥
बहु मोतीय तन्दुल थाल भरे,
नित सूहव नारि वधावत है।
धर्मसीउ कहैं पच्छराज कुं वंदत,
पुण्य उदैं सुख पावत है ॥ ४ ॥"४

इन कविगों की भावुकता गुरु के प्रति भी, भगवान की भाँति ही मुखर उठी है। शिष्य का विरह पवित्र प्रेम का प्रतीक है। अतः इन कवियों ने ब्रह्म रूप में ही

---

१. वही, श्री जिन्द्रसूरि गीतानि–साधुकीर्ति, पृ० ६१

२. समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि, संपा० अगरचन्द नाहटा, " श्री जिनसिंहसूरिगीतानि, गीत २२, पृ० ३६६

३. „गुरु दीवउ गुरु चन्द्रभारे, गुरु देखाउइ वाट,
गुरु उपकारी गुरु वडारे, गुरु उतारइ घाट।"
जिनचन्द्र सूरि गीत, समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि

४. धर्मवर्धन ग्रथावली, संपा० अगरचन्द नाहटा, "गुरुदेग स्तवनादि, पृ० २३६-४०

गुरू का ध्यान किया है । भट्टारक शुभचन्द्र का कहना है सद्गुरु को मन में धारण किये बिना शुद्ध चिद्रूप का ध्यान करने से भी कुछ नहीं होता ।१ कुशल लाभ अपनी स्थूलभद्र छत्तीसी में गुरु स्थूलिभद्र के प्रसाद से "परमसुख की प्राप्ति२ तथा" श्री पूज्य-वाहण गीतम्" में शुद्ध मन पूर्वक गुरू की सेवा करने से शिवसुख की उपलब्धि होने की बात कहते है ।३

विचार पक्ष

सामाजिक यथार्थांकन, यद्युगीन सामाजिक समस्याएं और कवियों द्वारा प्रस्तुत निदान : इन जैन-गूर्जर हिन्दी कवियों का मुख्य हेतु वैराग्य, अध्यात्म एवं भक्ति की त्रिवेणी बहाना रहा है । अत: ये कवि तत्कालीन समाज की अवस्था एवं उसके रीति--रिवाजों की ओर विशेष लक्ष्य नहीं रख सके है । फिर भी इनका काव्य लोक-जीवन तथा जन-साधारण से बिलकुल भिन्न नहीं है । इनका सामाजिक जीवन से प्रभावित होना तथा इनकी अभिव्यक्ति में सामाजिक रीति-नीति का प्रतिबिम्ब पड़ना अत्यत स्वाभाविक है ।

संवत् १६८७ में गुजरात में भयंकर दुष्काल पड़ा था, जो" सत्यासीया दुष्काल" के नाम से प्रसिद्ध है । कवि समयसुन्दर ने उसकी दयनीयता एवं भयंकरता का सजीव वर्णन" सत्यासीया दुष्काल वर्णन छत्तीसी" में किया है । अकाल के कारण अन्नाभाव, समाज की दुर्दशा, सर्वत्र बिखरी लाशों एवं उसकी दुरगंध, गुरू, साधु एवं आचार्यो का भी धर्म और कर्तव्य से परागमुख होने एवं जन साधारण की त्राहि-त्राहि की पुकार को कवि ने वाणी दी है । सामाजिक जीवन की अस्त व्यस्ता का सरल राजस्थानी भाषा में चित्र खींचता हुआ कवि कहता है—

"मांटी मुंकी बइर, मुयया बइरै पणि मांटी,
वेटे मुयया बाप, चतुर देतां जे चांटी ।

---

१. तत्वसार दूहा, भट्टारक शुभचन्द्र, ठोलियान मंदिर जयपुर की प्रति ।

२. स्थूलभद्र छत्तीसी, कुशल लाभ, पहला पद्य, राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज. अगरचन्द नाहटा, पृ० १०५

३. दिल दिन महोत्सव अतिघणा, श्री संघ भगति सुहाय ।
मन शुद्धि श्री गुरु सेवी रहे, जिणी सेव्यइ शिव सुख पाई ।।
—"श्री पूज्य वाहणा गीतम्" कुशल लाभ, ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, अगरचन्द ……, सम्पादित, पृ० ११५

भाई मुकी भइण, भइणि पिण मुंथया माइ,
अधिको व्हालो अन्न, गइ सहु कुटुम्ब सगाइ।"१

इसी तरह कवि ने,, मृगावती चौपाई" तथा अन्य" पौराणिक चरित्र" वर्णन के प्रसंगों में अपने युग के भिति चित्रों, वेशभूषा स्त्रियों की आभूषण प्रियता, गूर्जर देश की नारियों की मनोवृत्ति आदि का सुन्दर चित्रण हुआ है। इनके कुछ शृंगारगीतों में तथा" चारित्य चुनडी" में उस युग के चुनी, कुण्डल, चूडा; हार, नखफूल, बिन्दली कटिमेखला, चूनडी, नेउरी आदि आभूषणों का उल्लेख हुआ है। इसी तरह अभयचन्द रचित" चूनडी" में तत्कालीन समाज में प्रचलित विविध व्यंजन एवं साधन-सामग्री का अच्छा परिचय है। कवि कुमुदचन्द्र कृत" ऋषभ विवाहलो" में भी उस युग की विविध प्रकार की मिठाइयों का उल्लेख हुआ है।

कवि जिनराजसूरि ने समाज-जीवन की विषमताओं की ओर निदर्शन करते हुए उसे" करम" की अलख-अगोचर गति मान कर संतोष कर लिया है। क्योंकि उसकी गति को कोई समझ नहीं सका हैं --

"पूरब कर्म लिखित जो सुख-दुख जीव लहइ निरधारजी,
उद्यम कोडि करइ जे तो पिण, न फलइ अधिक लगार जी।

o o o

एक जनम लगि फिरइ कुआरा, एके रे दोय नारि जी।
एक उदर भर जन्मइ कहीइ, एक सहस आधार जी॥"२

इसी प्रकार की सामाजिक विषमताओं का प्रत्यक्ष अनुभव कवि धर्मवर्द्धन भी किया था—

"ऋद्धि समृद्धि रहैं एक राजी सु, एक करै है ह हांजी हांजी।
एक सदा पकवान अरोगत, एक न पावत भूखो भी भाजी॥"३

समाज और उसकी परिस्थिति से प्रत्येक युग का कवि या योगी प्रभावित होता आया है। सामान्य व्यक्ति समाज के आगे अपना व्यक्तित्व दबा लेता है, जबकि प्रभावशाली विद्वान उसे अपने अंकुश में रखते हैं। फिर भी उसकी रीति-नीति से प्रभावित तो आवश्य होते रहते हैं।

---

१. सत्यासीया दुष्काल वर्णन छत्तीसी, समयसुन्दर कृति कुसुमांजलि, संपादक अगरचन्द नाहटा, पृ० ५०३
२, जिनराजसूरि कृति कुसुमांजलि, संपा० अगरचंद नाहटा, पृ०
३. धर्मवर्द्धन ग्रंथावली, अगरचंद नाहटा, धर्म बावनी, पृ० ४

इस युग के कवियों ने अपने युग के समाज का सूक्ष्म निरीक्षण कर उसके अनुरूप उत्थान का मार्ग प्रशस्त किया है। अपने उपदेश, आचरण, एवं चरित्र कथात्मक व्याख्यान अथवा साहित्य द्वारा समाज की नैतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक चेतना को बल देते रहे हैं। इनके चौपाई - रासादि ग्रंथों में जीवन के स्वस्थ चित्र भी आये हैं। महानंदगणि ने अपने "अंजना सुन्दरी रास" में अंजना को समाज-जीवन के प्रति आस्थावान बताकर वीतरागी प्रभु से प्रेम करने की बात बताई है। यात्रा एवं संघ वर्णनों में भी इन कवियों ने समाज के नर-नारियों में तीर्थों के प्रति उमड़ता अपार स्नेह और उनके मधुर, स्वस्थ भावभीने चित्र प्रस्तुत किये हैं। जिनराजसूरि कृत "श्री गिरनार तीर्थयात्रा स्तवन" पढ़ने से ऐसा लगता है मानो यात्रियों का एक दल उमड़ता हुआ चला जा रहा है। बहिन द्वारा बहिन को एक मधुर भावभीना आमंत्रण दिया जा रहा है—

"मोरी बहिनी हे बहिनी म्हारी।
मो मन अधिक उछाह हे, हां चालउ तीरथ भेटिवा ॥
संवेगी गुरु साथ हे, हां तेडीजइ दुख भेटिवा ॥ १ ॥
चढ़िसु गढ़ गिरनार हे, हा साथइ सहियर झूलरउ।
साजि वसन शृंगार हे, हां गलि झबउ मक थूल रउ ॥ २ ॥"१

महात्मा आनन्दघन के काव्य में भी उस युग का समाज प्रतिबिम्बित है। इनके स्तवनों से पता चलता है कि सावेश धारी लोगों को किस प्रकार छलते थे, मृषा उपदेश देते थे और अपनी महिमा बढ़ाते थे।२ ऐसे समय कवि ने अपने असाधारण ज्ञान बल एवं परिपक्व विचारों से समाज का सच्चा पथप्रदर्शन किया। उस युग में एक ओर साधुओं के मृषा उपदेश और प्रवंचना का जाल फैल रहा था तो दूसरी ओर धर्म के गच्छभेद और मतमतांतरों में भ्रांत समाज किंकर्तव्य विमूढ़-सा बन गया था। समाज में आडम्बर एवं विषयासक्ति का जोर था।३

अनेक कवियों ने समाज में वर्ण और जाति की मान्यता को व्यर्थ माना है। कवि शुभचंद्र के विचार में सभी जीवों की आत्माएं समान हैं। आत्मा में कभी ब्राह्मणत्व या शूद्रत्व प्रवेश नहीं कर सकता। कवि ने लिखा है—

"उच्चनीच नीवि अप्पा हुवि,
कर्म कलंक तणो की तु सोइ।

१. जिनराजसूरि कृति कुसुमांजलि, अगरचंद नाहटा, पृ० ४२
२. आनंदघन चौवीसी, स्वामीसीमंधरा विनती।
३. वही, अनंतनाथ स्तवन, प्रका० भीमसी माणेक, बम्बई।

> बंभण क्षत्रिय वैश्य न शुद्र,
> अप्पा राजा नवि होय क्षुद्र ॥७०॥"१

कवि यशोविजय ने भी एक सच्चे संत की भांति नीच कुलोत्पन्न के लिए भी सिद्धि का मार्ग खुला बताया है और समस्त जातियों को समाज में एक समान माना है—

> "कहै जु तंत्र समाधि तें, जाति लिंग नहि हेत,
> चंडालिक जाति कों, क्यों नहि मुक्ति संकेत ?
> गुण-थानक प्रत्यय मिटै, नीच गोत्र की लाज,
> दर्शन ज्ञान - चरित्र को, सब ही तुल्य समान ।"२

धर्म के नाम पर समाज में अनेक बाह्य आडम्बर और पाखण्ड पढ़ गये थे। संतों की तरह इन जैन कवियों ने भी उनका खण्डन किया। कवि यशोविजय जी ने लिखा है, संयम, तप क्रिया आदि सब शुद्ध चेतन के दर्शनों के लिए ही किया जाता है, यदि उनसे दर्शन नहीं तो वे सब मिथ्या है। अन्तरचित के भीगे विना दर्शन नहीं होते। जब तक अन्तर की "लौ" शुद्ध चेतन में न होगी, ऊपरी क्रिया काण्ड व्यर्थ हैं—

> "तुम कारन संयम तप किरिया, कहो कहां लों कीजे ।
> तुम दर्शन विनु सब या झूंठी, अन्तर चित्त न भीजे ।"३

कवि उदयराज ने मोक्ष - प्राप्ति के लिए जटा बढ़ाने या सिर मुंडाने के विरोध में कहा है, अन्तःकरण की शुद्धता बड़ी चीज है, वाह्याडम्बरों से लक्ष्य सिद्ध नहीं होता। शिव-शिव का उच्चारण करने से क्या होता है, यदि काम, क्रोध और छल को नहीं जीता। जटाओं को बढ़ाने से क्या होता है, यदि पाखण्ड न छोड़ा। सिर मुंड़ाने से क्या होता है, यदि मन को नहीं मूंड़ा। इसी प्रकार घर-बार छोड़ने से क्या होता है, यदि वैराग्य की वास्तविकता को नहीं समझा।४

कवि समय सुन्दर ने भी मुक्ति के लिए चित्त शुद्धि को सर्वोपरिता दी है। बाह्याचार भले निभाओं पर उनमें लक्ष्य तक पहुंचाने की सामर्थ्य नहीं—

> "एक मन सुद्धि विन कोउ मुगति न जाइ ।
> भावइं तूं केश जटा धरि मस्तिक, भावइ तूं मुंड मुंडाइ ॥१॥

१. "तत्वसार दूहा", शुभचंद्र, ठोलियान मंदिर, जयपुर की प्रति ।

२. दिक्पट चौरासी बोल, यशोविजय जी, गूर्जर साहित्य संग्रह, पृ० ५८०-८१

३. भजन संग्रह, धर्मामृत, पं० बेचरदास, पृ० ५४

४. गुण बावनी, उदयराज, प्रकरण २

भावइ तूं भूख तृषा महि वन फिर, भावइ तूं तीरथ न्हाई ।
भावइ तूं साधू भेस धरि बहु परि, भावइ तूं भसम लगाइ ॥ २ ॥
भावइ तूं पढ़ि गुणि वेदपुराण, भावइ तूं भगत कहाइ ।
समयसुन्दर कहि नाच कहुं गुण, ध्यान निरंजन ध्याइ ॥ ३ ॥"१

इसी तरह एक अन्य जगह पर कवि की सर्वधर्म समभाव मयी संतवाणी स्फुरित हुई है, जिसमें समाज में प्रचलित बाह्याचारों की झांकी तो मिलती ही है कवि ने सरल भाव से अपना निष्पक्ष, उदात्त विचार भी प्रस्तुत कर दिया है–

"कोलो करावउ मुंड-मुंडावउ, जटा धरो को नगन रहउ ।
को तप्प तपउ पंचागनि, साचउ कामी करवत कष्ट सहउ ।
को भिक्षा मांगउ भस्म लगावउ मौन रहउ भावइ कृष्ण कहउ ।
समयसुन्दर कहइ मन शुद्धि पाखइ, मुगति सुख किमहीं न लहउ ॥१६॥"२

कवि यशोविजय जी ने भी इस प्रकार के बाह्याचारों का खण्डन करते हुए कहा है–

"मुंड मुंडावत सबहि गडरिया, हरिण रोझ वन धाम ।
जटा धार वट भस्म लगावत, रासभ सहतु है घाम ॥
ऐते पर नहीं योग की रचना, जो नहि मन विश्राम ।
चित्त अंतर परके छल चितवि, जे कहा जपत मुख राम ॥"३

कवि जिनहर्ष भी बाह्याडम्बर के कट्टर विरोधी थे। उनकी दृष्टि से सिर मुंडाना, जटा धारण करना, केश चन करना; दिगम्बर सब व्यर्थ है। इनसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। मोक्ष के लिए ज्ञान अनिवार्य है।४ कवि किशनदास भी बाह्याडम्बरों की व्यर्थता सिद्ध करते दिखाई देते है।५

इस प्रकार ये कवि अपने मौलिक चिंतन और आचार द्वारा अनपढ़ मिथ्याडम्बरों में प्रवृत्त समाज में साहित्य-साधना, जीवन साधना और आध्यात्मिक साधना की चेतना जगाते रहे। इनका काव्य जहां एक ओर लौकिक आनन्द प्रदान करने में समर्थ हैं वहां यह आध्यात्मिक आनंद से भी पाठक-श्रोता को परिलुप्त करता है।

---

१. समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि, अगरचंद नाहटा, पृ० ४३४।
२. वही, पृ० ५१८।
३. भजन संग्रह, धर्मामृत, पं० बेचरदास, पृ० ५३
४. जसराज बावनी, जिनहर्ष ग्रंथावली, पृ० ६२-६३
५. अम्बाशंकर नागर, गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रंथ, पृ० १६०

भावइ तूं मृग तृणा गहि वन फिरि, भावइ तूं तीरथ न्हाई ।
भावइ तूं साधू भेस धरि बहु परि, भावइ तूं भसम लगाइ ॥ २ ॥
भावइ तूं पढ़ि गुणि वेदपुराण, भावइ तूं भगत कहाइ ।
समयसुन्दर कहि नाच कहुं गुण, ध्यान निरंजन ध्याइ ॥ ३ ॥"[1]

इसी तरह एक अन्य जगह पर कवि की सर्वधर्म समभाव मयी संतवाणी स्फुरित हुई है, जिसमें समाज में प्रचलित बाह्याचारों की झांकी तो मिलती ही है कवि ने सरल भाव से अपना निष्पक्ष, उदात्त विचार भी प्रस्तुत कर दिया है–

"कोलो करावउ मुंड-मुंडावउ, जटा धरी को नगन रहउ ।
को तप्प तपउ पंचागनि, साधउ कासी करवत कष्ट सहउ ।
को भिक्षा मांगउ भस्म लगावउ मौन रहउ भावइ कृष्ण कहउ ।
समयसुन्दर कहइ मन सुद्धि पाखइ, मुगति सुख किमहीं न लहउ ॥१६॥"[2]

कवि यशोविजय जी ने भी इस प्रकार के बाह्याचारों का खण्डन करते हुए कहा है–

"मुंड मुंडावत सबहि गडरिया, हरिण रोझ वन धाम ।
जटा धार वट भस्म लगावत, रासम सहतु हे घाम ॥
ऐते पर नहीं योग की रचना, जो नहि मन विश्राम ।
चित्त अंतर परके छल चितवि, जे कहा जपत मुख राम ॥"[3]

कवि जिनहर्ष भी बाह्याडम्बर के कट्टर विरोधी थे। उनकी दृष्टि से सिर मुंडाना, जटा धारण करना, केश चन करना; दिगम्बर सब व्यर्थ है। इनसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। मोक्ष के लिए ज्ञान अनिवार्य है।[4] कवि किशनदास भी बाह्याडम्बरों की व्यर्थता सिद्ध करते दिखाई देते है।[5]

इस प्रकार ये कवि अपने मौलिक चिंतन और आचार द्वारा अनपढ़ मिथ्याडम्बरों में प्रवृत्त समाज में साहित्य-साधना, जीवन साधना और आध्यात्मिक साधना की चेतना जगाते रहे। इनका काव्य जहां एक ओर लौकिक आनन्द प्रदान करने में समर्थ हैं वहां यह आध्यात्मिक आनंद से भी पाठक-श्रोता को परिलुप्त करता है।

---

१. समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि, अगरचंद नाहटा, पृ० ४३४।
२. वही, पृ० ५१८।
३. भजन संग्रह, धर्मामृत, पं० वेचरदास, पृ० ५३
४. जसराज बावनी, जिनहर्ष ग्रंथावली, पृ० ९२-९३
५. अम्बाशंकर नागर, गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रंथ, पृ० १६०

"तुं पुरुषोत्तम तुंहि निरंजन, तुं शंकर वड़ भाग ।
तुं ब्रह्मा तुं बुद्धि महाबल, तुंहि देव वीतराग ॥"१

ज्ञानानंद जी ने भी सर्वत्र इसी प्रकार की उदारता एवं असाम्प्रदायिकता का परिचय दिया है—

"अवधू वह जोगी हम माने, जो हमकुं सबगत जाने ।
ब्रह्मा विष्णु महेसर हम ही, हमकुं ईसर माने ॥१॥"२

कवि गुण विलास ने भी अपनी "चौबीसी" रचना मे उदार, समदर्शी एवं सर्व धर्म समन्वयी विचारधारा अभिव्यक्त की है। "ऋषभजिन स्तवन" में कवि प्रभु की स्तुति करता हुआ कहता है—

"आदि अनादि पुरुष हो तुम्ही विष्णु गोपाल,
शिव ब्रह्मा तुम्हीं में सरजे, भाजी गयो भ्रम जाल ॥"३

खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति

धार्मिक क्षेत्र में यह प्रवृत्ति मूलतः दो रूपों में आई है— (१) बाह्याडम्बरों के विरोध रूप में तथा (२) अन्य सम्प्रदायों के विरोध रूप में।

(१) बाह्याडम्बरों का विरोध : कवि ज्ञानानद ने कबीर की तरह धर्म के क्षेत्र में मिथ्या बाह्याचारों का खंडन किया है। हिन्दू और इस्लाम दोनों धर्मावलंबियों की कवि ने खबर ली है। परमात्मा के सच्चे रूप को न किसी ने जाना है और न किसी ने बताया है। योगी नाम धारियों की खबर लेते हुए कवि ने कहा है—

"जटा वधारी भस्म लगाइ, गंगातीर रहाया रे ।
ऊरध बाह आतापना लेइ, योगी नाम धराया रे ॥"

ब्राह्मण पंडितों के लिए कहा है—

"शासतर पढ़के झगड़े जीते, पंडित नाम रहाया रे ॥"

सीया और सुन्नियों को भी कवि ने नहीं छोड़ा है—

"सुन्नत करचे अल्ला बंदे, सीया सुन्नी कहाया रे ।
वाको रूप न जाने कोई, नवि केइ बतलाया रे ॥"४

कवि यशोविजय ने धार्मिक बाह्याचार को अधर्म का कुगति कहा है—

---

१. भजन संग्रह, धर्मामृत, पृ० ५६।
२. वही, पृ० १२।
३. चौबीसी - वीसी संग्रह, प्रका० आणंदजी कल्याणी।
४. भजन संग्रह, धर्मामृत, पृ० २१।

"शिव सुख चाहो तो, भजो धरम जैन को सार,
ग्यानवंत गुरु पाय कै, सफल करो अवतार ।।"१

कवि ने सच्चे जैन की व्याख्या की है तथा जैन के विशिष्ट तत्वों का निरूपण कर "जैन दशा जस ऊंची" बताया है ।२

निदान :

कवि जिनहर्ष ने बताया है, लोग धर्म धर्म चिल्लाते हैं, पर उसका सही मर्म नहीं समझते । निदान रूप कवि परम्परागत रूढियों का विरोध कर धर्म का वास्तविक स्वरूप बताते हुए उसमें ज्ञान और दया की आवश्यकता पर बल देते हैं—

"धरम धरम कहै मरम न कोउ लहै,
भरम में भूलि रहे कुल रूढ कीजियै ।
कुल रूढ छोरि कै भरम फंद तोरि कै,
सुगति मोरि कै सुग्यान दृष्टि कीजियै ।
दया रूप सोइ धर्म तइ कटै है कर्म,
भेद जिन धरम पीउष रस पीजियै ।"३

कवि धर्मवर्द्धन ने धर्म ध्यान में लीन रहना सदैव उचित माना है—

"धर मन धर्म को ध्यान सदाइ ।
नरम हृदय करि नरम विषय में, करम करम दुखदाइ ।।
धरम थी गरम क्रोध के घर में, परमत परमते लाइ ।
परमातम सुधि परम पुरुष भजि, हर म तु हरम पराइ ।।
चरम की दृष्टि विचार मत जोउरा, भरम रे मत भाइ ।
सरम बधारण सरम को कारण, धरमज धरम सी ध्याइ ।।"४

इन्होंने शुद्ध धार्मिक भूमिका के विना माला के मनके फिराने की व्यर्थता बताते हुए कहा हैं—

"करके मणिके तजिकैं कछु ही अव,
फेरहु रे मनका मनका ।"५

१. वही, पृ० ११५
२. गूर्जर साहित्य संग्रह, भाग १, पृ० १५३-५४
३. जिनहर्ष ग्रंथावली, उपदेश बावनी, पृ० ११५-१६
४. धर्मवर्द्धन ग्रंथावली, पृ० ६३
५. धर्मवर्द्धन, ग्रंथावली, धर्म बावनी, पृ० १३

कवि ज्ञानानंद ने सच्चे धर्माचरण के लिए ज्ञानरूप आन्तर्दृष्टि की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा है–

"ज्ञान की दृष्टि निहालो, बालम, तुम अंतर दृष्टि निहालो ।
बाह्य दृष्टि देखे सो मूढा, कार्य नहि निहालो ।।
धरम धरम कर घर घर भटके, नाहि धरम दिखालो ।"१

प्रायः सभी कवियों ने अपनी अपनी कृतियों का शुभारम्भ भी धार्मिक औदार्य एवं शांतिपरकता के प्रतीक "ऊंकार की महिमा", "सरस्वती स्तुति", "गुरु वंदना" अथवा तीर्थकरों की वंदना के साथ किया है ।

सारांशतः इन कवियों ने अपने धार्मिक विचारों में अत्यधिक उदारता का परिचय दिया है । इनके साहित्य में प्राणि-मात्र के प्रति दया, समभाव, उदारता एवं आत्म कल्याण के साथ जनहित की भावना आदि धर्म के मूल तत्व निहित हैं । वीतरागिता भावगम्य है, वह मन में अपने सच्चे रूप में उद्बुद्ध होती है, उसके लिए सन्यासी, साधु, विरक्त या वनवासी बनने की आवश्यकता नहीं । भौतिक वासनाओं को निर्मूल करना पहली शर्त है । इनके निर्मूल होते ही त्याग एवं सन्यास स्वतः आ जाता है । इस दृष्टि से ग्रहस्थाश्रम में रहकर भी व्यक्ति सच्ची धार्मिक भावना हृदयंगमकर सकता है ।

दार्शनिक विचार :

जैन-दर्शन में तत्व-चिंतन और जीवन शोधन की दो बातें मुख्य है । यहां आत्मा अपने स्वाभाविक रूप में शुद्ध और सच्चिदानंद रूप है । उसकी अशुचि, विकार और दुःखरूपता का एक मात्र कारण अज्ञान और मोह है । जैन-दर्शन में आत्मा की तीन भूमिकाएं स्वीकार की गई हैं । अज्ञान और मोह-पूर्ण आत्मा की प्रारम्भिक स्थिति को "बहिरात्मा" कहा गया है । विवेक शक्ति द्वारा जब रागद्वे-पादि संस्कारों का प्रावल्य अल्प होने लगता है तब आत्मा की दूसरी भूमिका आरंभ होती है, जिसे "अन्तरात्मा" कहते है । इसमें सांसारिक प्रवृत्ति के साथ भी अतर की निवृत्ति संभव है । इससे आगे आत्मा की अंतिम भूमिका "परमात्मदशा" है, जहां पहुँच कर आत्मा पुनर्जन्म के चक्र से सदैव के लिए मुक्त हो जाती है ।

इस दृष्टि से अविवेक और मोह अर्थात् मिथ्यात्व एवं तृष्णा संसार रूप है और विवेक तथा वीतरागत्व मोक्ष का कारण है । जैन दर्शन की जीवन शोधन और तत्व मीमांसा की यही बातें जैन-गूर्जर-कवियों की हिन्दी कविता में यत्र-तत्र अनेक रूपों में वर्णित हैं ।

---

१. भजन संग्रह, धर्मामृत, पृ० ३१

आत्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा :

कवि आनंदघन ने आत्मा की प्रथम स्थिति "वहिरात्मा" के स्वरूप को समझाते हुए कहा है, "दुनिया के प्राणी वहिरात्म भाव में मूढ़ बन गये हैं, जो निरंतर माया के फंदे में फंसे हुए हैं। मन में परमात्म भाव का ध्यान करने वाले प्राणी तो विरले ही मिल पाते हैं–"

"वहिरातम मूढा जग जेता, माया के फंद रहेता।
घट अंतर परमातम भावे, दुरलभ प्राणी तेता॥"१

माया, मोह और भ्रम ही जीव के शत्रु हैं। इनसे ऊपर उठकर ही जीव अपने सच्चे आत्मरूप की अनुभूति कर पाता है–

"रागादिक जव परिहरी, करे सहज गुण खोज।
घट में प्रगट सदा, चिदानंद की मोज॥"२
—यशोविजयजी

जीव अपने कर्मों से आवद्ध है। कर्मों में आवद्ध जीव ही संसारी आत्मा है। जीव और कर्मों का संबंध अनादि काल से है। अनायास इन कर्मों से मुक्ति संभव नहीं। कवि समय सुन्दर ने कहा है कि जप-तप रूपी अग्नि में दुष्ट कर्मों का मल जब जल कर राख हो जाता है, तब यही आत्मा अपने सिद्ध स्वरूप में प्रकट हो जाती है—

"जप तप अगनि करी नइ एहनउ,
दुष्ट करम मल दहियइ रे।
समयसुन्दर कहइ एहिज अतमा,
सिद्ध रूप सरदहियइ रे॥"३

सांसारिक तृष्णाएं उस आत्मरूप की उपासना में बाधक है। उसके लिए विवेक अथवा ज्ञान-अभ्यास आवश्यक है–

"चेतन। जो तुं ज्ञान अभ्यासी।
आप ही वांधे आपही छोड़े, निज मति शक्ति विकासी॥
*　　*　　*
पुद्गल की तूं आस धरत हे, सोतो सवहि विनासी।
तूं तो भिन्न रूप हे उनतें, चिदानन्द अविनासी॥

---

१. आनंदघन पद संग्रह, पद २७, पृ० ७४
२. गूर्जर साहित्य संग्रह, भाग १, समाधि शतक
३. समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि, पृ० ४४२

ज्ञान दृष्टि मां दोष न एते, करो ज्ञान अजुआलो ।
चिदानंद-घन सुजस वचन रस, सज्जन हृदय पखालो ।।"१-यशोविजय

देह के मिथ्यात्व में पड़कर उसे ही आतम-तत्व समझना भूल है, इसका निर्देश कवि देवचन्द्र इन शब्दों में करते हैं—

"जैसे रज्जु सरम भ्रम माने त्युं अजान मिथ्यामतिठाने ।
देह बुद्धि को आतम पिछाने, यातें भ्रमहेतु पसारे ।।"२

इन कवियों ने इस भ्रमदशा से ऊपर उठने के लिए ज्ञान - दृष्टि की अनिवार्यता बताई है । शुद्ध चिदानन्द रूप भाव ही को ज्ञान माना गया है । उसका निरंतर चिंतन करने से मोह - माया दूर हो जाते हैं और अनन्त सिद्धि लाभ होता है । यह सिद्धि ही आत्मा की अनंत सुखदशा की अपूर्व अनुभूति है—

"ज्ञान निज भाव शुद्ध चिदानन्द,
चींततो मूको माया मोह गेह देहए ।
सिद्धतणां सुख जि मल हरहि,
आतमा भाव शुभ एहए ।।६१।।"३-शुभचन्द्र

वस्तुतः आत्मा तो अजर - अमर है । शरीर के वस्त्रों की देह नश्वर है, चेतन रूप आत्मा अमर है—

"जैसे नाश न आपको, होत वस्त्र को नाश ।
तैसे तनु के नाश तें, चेतन अचल अनाश ।।"४

आत्मतत्व सुख-दुःख, हर्ष - द्वेष, दुर्बल-सबल तथा धनी - निर्धन से परे है । वह सांसारिक दोषों से मुक्त है—

"अप्पा धनि नवि नवि निर्धन्त,
नवि दुर्बल नवि अप्पा धन्न ।
मूर्ख हर्ष नवि तेजीव,
नवि सुखी नवि दुखी अतीव ।"५ -शुभचंद्र

श्रीमद् देवचंद्र ने आत्मा के परमात्म स्वरूप का कथन इस प्रकार किया है—

---

१. गुर्जर साहित्य संग्रह, भाग १, पृ० १०६
२. श्रीमद् देवचन्द्र भाग २, द्रव्य प्रकाश
३. तत्वसार दूहा, मन्दिर ढोलियान, जयपुर की प्रति
४. गुर्जर साहित्य संग्रह, भाग, समाधि शतक, पृ० ४७४
५. तत्वसार दूहा, मन्दिर ढोलियान, जयपुर की प्रति

"शुद्ध बुद्ध चिदानंद, निरद्वंद्वाभिमुकुंद,
अफंद अमोघ कंद' अनादि अनन्त है ।
निरमल परिब्रह्म पूरन परम ज्योति
परम अगम अकीरिय महासंत है ।
अविनाशी अज, परमात्मा सुजान ।
जिन निरंजन अमलान सिद्ध भगवंत हे ।
ऐसो जीव कर्म संग, संग लग्यो ज्ञान मुली,
कस्तुर मृग ज्युं, भुवन में रहेत हे ।"१

इस प्रकार आत्मा जब विवेक और ज्ञान द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेती है, तब वह जन्म, मरण तथा नेदहादि बंधनों से ऊपर उठ जाता है । आत्मा की इस मुक्त दशा की अभिव्यक्ति आनन्दघन ने इन शब्दों में की है–

"अब हम अमर भये न मरेंगे ।
या कारण मिथ्याति दियो तज, क्यूंकर देह धरेंगे ।

० ० ०

मर्‌यो अनंत बार विन समज्यो, अब सुख-दुख विसरेंगे ।
आनंदघन निपट निकट अक्षर दो, नहीं समरे सो मरेंगे ।।४२।।"२

इस साक्षात्कार की स्थिति में "सुरति" की वांसुरी बजने लगती है और अनाहत नाद उठने लगता है—

"बजी सुरत की वांसुरी हो, उठे अनाहत नाद,
तीन लोक मोहन भए हो, मिट गए द्वद विपाद ।"३

मोक्ष : यही समस्त कर्मों से छुटकारा है और मोक्ष की स्थिति है–
"कर्म कलंक विकारनो रे, निःशेष होय विनाश ।
मोक्ष तत्व श्री जिन कही, जाणवा भावु अल्पास ।।"४

--- शुभचन्द्र

माया : प्रायः सभी दर्शनों में माया पर विचार हुआ है। इन कवियों ने भी इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है । मायाजाल में भ्रमित मानव की मूढ़ता पर इन

१ श्रीमद् देवचंद्र भाग २, द्रव्य प्रकाश
२. आननंघन पद संग्रह, पृ० १२४-२७
३, लक्ष्मीवल्लभ, अध्यात्म फाग, प्रस्तुत प्रवंध का प्रकरण ३
[illegible] दोहा, मंदिर ढोलियान, जयपुर की प्रति

कवियों ने आश्चर्य अभिव्यक्त किया है। यशोविजय जी के शब्दों में—" मायारूपी बेलि से आच्छादित "भव-अरवी" के बीच मूढ़-मानव अपने ज्ञान - चक्षु बन्द कर सो रहा है"—

"विकसित माया बेलि धरि, भव-अरवी के बीच ।
सोवत है नित मूढ़ नर, नयन ज्ञान के मीच ॥३१॥"१

और उसकी विषय लोलुपता का नग्न चित्र प्रस्तुत करते हुए कहा है कि मानव विषय-वासना में रत हो अपना ही अकल्याण कर रहा है। उसी तरह जैसे कुत्ता हड्डी को चबाता है, उसके मुंह में चुभने से खून निकलता है पर उस अपने ही खून को हड्डी का रस समझ कर स्वाद अनुभव करता है—

"चाटे निज लाला मिलित, शुष्क हाड ज्युं श्वान ।
तैसे राचे विषय में, जउ निज रुचि अनुमान ॥६१॥"२

अज्ञान और माया ही जीव को भ्रमित करते हैं। माया बड़ी भयानक है। जो इसके चक्कर में पड़ा वह शाश्वत सुख से हाथ धो बैठता है। कवि के शब्दों मे माया की भयानकता देखिए—

"माया कारमी रे, माया म करो चतुर सुजान ।
माया वाह्यो जगत विलुधो, दुःखियो थाय अजान ।
जो नर मायाए मोही रह्यो, तेने सुपने नहि सुखठाण ॥"३

माया की भयानकता के अनेक कवियों ने बड़े मार्मिक वर्णन किये हैं। आनंदघन ने कबीर की तरह ही माया को ठगिनी बताते हुए सम्पूर्ण विश्व को अपने नागपाश में बांध लेने वाली कहा है।४

रहस्यवाद : आध्यात्मिकता की उत्कर्ष सीमा का नाम रहस्यवाद है। भावमूलक अनुभूति रहस्यवाद का प्राण है। दर्शन का क्षेत्र विचारात्मक अनुभूति में है। यह एक ऐसी अनुभूति है, जो साधक के अन्तर में उद्भूत होकर अखिल विश्व को उसके लिए ब्रह्ममय बना देती है अथवा उसे स्वयं को ही ब्रह्म बना देती है। यहां बुद्धि का क्षेत्र हृदय का प्रेय बन जाता है। प्राणी मात्र में ब्रह्म का आभास होने लगता है अथवा समस्त प्राणी ही परमात्मा बन जाते हैं।५

---

१. गूर्जर साहित्य संग्रह भाग १, समता शतक

२. वही

३. गूर्जर साहित्य संग्रह, भाग १, पृ० १७७-७८

४. आनंदघन पद संग्रह, पद ६६, पृ० ४५१

५. Radhakamal Mukerji introduction to theory and art of Mysticism p. 7

इन कवियों की कविता में रहस्यवाद की दोनों स्थितियां—साधनात्मक एवं प्रेममूलक आयी हैं। आनंदघन, यशोविजय, विनय विलास, ज्ञानानंद आदि ऐसे साधक के रूप में आते हैं जो अनुभूति और स्व-संवेदन ज्ञान को ही महत्व देते हैं। आनंदघन प्रिय-मिलन से ही अपना "सुहाग" पूर्ण हुआ मानते हैं। आत्मा उस अनंत प्रेमी के प्रेम में मस्त हो उठती है, वह अपना पूर्ण श्रृंगार करती है। भक्ति की मेंहदी, भाव का अंजन, सहज स्वभाव की चूड़ी, स्थिरता का कंकण और सुरति का सिन्दूर लगाती है। अजपा की अनहद ध्वनि उत्पन्न होती है और अविरल आनन्द की झड़ी लग जाती है।१

इन कवियों ने अनेक रूपकों के माध्यम से आत्मा और ब्रह्म के प्रेम की सरल अभिव्यक्ति की है। जब आनंदघन प्रेम के प्याले को पी कर अपने मत वाले चेतन को परमात्मा की सुगन्धि लेने को कहते हैं तब साधनात्मक रहस्यवाद की चरम परिणति दिख पड़ती है–

"मनसा प्याला प्रेम मसाला, ब्रह्म अग्नि पर जाली।
तन भारी अवठाई पिये कस, आगे अनुभव लाली॥
अगम प्याला पीयो मतवाला, चिन्ही अध्यातम वासा।
आनंदघन चेतन ह्वै खेले, देखे लोक तमासा॥"२

उसी तरह संवेदनात्मक अनुभूति के कारण जब प्रिय को हृदय से अधिक समीप अनुभव किया गया है वहां इनका प्रेममूलक रहस्यवाद निरूपित हुआ जिसकी विस्तृत चर्चा भक्तिपक्ष के अन्तर्गत हो चुकी है। आनंदघन की कविता से प्रिय के प्रति संवेदनात्मक अनुभूति का एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

"पीया बीन सुध बुध खूंदी हो,
विरह भुयंग निशास में, मेरी सेजड़ी खूदी हो॥१॥"३

नैतिक विचार :

जैन गूर्जर कवि नैतिक आचार-विचार के जीवन्त रूप रहे हैं। इन्होंने अपने प्रयत्नों द्वारा समाज को स्वस्थ एवं संतुलित पथ पर अग्रसर करने तथा व्यक्ति को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की उचित प्राप्ति कराने में अपना जीवन अर्पित किया था। इनके साहित्य-सर्जन की प्रवृत्तियों में भी नीति समन्वित विचारधारा

---

१. आनन्दघन पद संग्रह, पद २०, पृ० ४६
२. वही, पद २८, पृ० ७८-७९
३. वही, पद ६२, पृ० २६४

ही प्रमुख है। इस दृष्टि से इन्हें हम नीति के कवि भी कह सकते हैं। इन कवियों ने जीवन और जगत् को अपनी विभिन्न परिस्थितियों में तथा उसकी सफलताओं-असफलताओं एवं उपलब्धियों-अभावों को अत्यधिक निकट के देखा था। यही कारण है कि इनकी वातों में जीवन सत्य है। इनकी वाणी में या तो स्वानुभूति की झलक है या परम्परानुभूति का प्रभाव।

प्रत्येक जाति, धर्म या सम्प्रदाय के कवियों द्वारा प्रणीत इस प्रकार का नीतिकाव्य भारतीय जन-जीवन की आचार संहिता रहा है। काव्य की अन्य धाराओं की तुलना में यह काव्य कम ललित या यत्किंचित् रसहीन हो सकता है फिर भी यहाँ कुछ नीति और सद्धर्म का सरल उपदेश देने वालों में समयसुन्दर, धर्मवर्द्धन, जिनहर्ष, लक्ष्मीवल्लभ, केशवदास, किनशदास, विनयचंद्र खेमचन्द, दयासागर, गुणसागरसूरि, उदयराज, कुमुदचन्द्र, जिनराजसूरि, मालदेव, विनयासमुद्र आदि अग्रगण्य हैं। वैसे प्रायः सभी कवियों ने नैतिक आचार-विचार को प्रमुखता दी है। कवि समयसुन्दर ने अपने असंख्य गीतों एवं विशेषतः छत्तीसियों में, नीतिपरक काव्य के जितने भी विषय बन सकते हैं, प्रायः उन सभी विषयों पर सरल उपदेशात्मक एवं अनुभूति परक नैतिक विचारों की अभिव्यक्ति की है। "प्रस्ताव सवैया छत्तीसी" से एक उदाहरण द्रष्टव्य है---

> "व्याव्या विना खेत्र किम लुणियइ, खाद्या पाखइ भूख न जाइ।
> आप मुयां विण सरग न जइयइ, वाते पापड़ किम ही न थाइ॥
> साधु साधवी श्रावक श्रविका, एतउ खेत्र सुपात्र कहाइ।
> समयसुन्दर कहइ तउ सुख लहियइ, जल धर सारउ दत्त दिवाइ॥"[१]

जिनहर्ष भी नीति के कवि हैं। जीवन के विशाल अनुभवों का सार कवि ने अपने नीतिपरक दोहों तथा विशाल बावनी साहित्य में उड़ेल दिया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है---

> "घरटी के दो पड़ विचै कण चूरण ज्युं होय।
> त्युं दो नारी विच पड्यौ सो नर उगरै नहीं कोय॥"[२]

कवि धर्मवर्द्धन ने भी नीति काव्य के समस्त विषयों को पचा लिया है। नारी को लेकर उनके विचार द्रष्टव्य है---

> "नैन सुं काहू सुं सैन दिखावत, वैन की काहु सौं वात वनावै।
> पति की चित्त में परवाह नहीं, नित कीजन और सुं नेह जणावै॥

---

१. समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि, पृ० ५१९

२. जिनहर्ष ग्रंथावली, दोहा बावनी, पृ० ९६

सासू कौ सास जिठानी को जीउ, दिरानी की देह दुखैं ही दहावै ।
कहै धर्मसीह तजो वह लीह, लराइ कौ मूल लुगाई, कहावै ।।"१

कवि जिनराजसूरि ने "शील वत्तीसी" और 'कर्म बत्तीसी' कृतियों में क्रमशः शीलधर्म और कर्म महत्ता का प्रतिपादन किया है। शील का महात्म्य वताता हुआ कवि कहता है–

"सील रतन जतने करि राखउ, वरजउ विषय विकार जी ।
सीलवंत अविचल पद पामइ, विषई रुलइ संसार जी ।।"२

कवि यशोविजय जी ने भी अपनी "समाधि शतक" एवं "समता शतक" रचनाओं मे अध्यात्म मार्ग में प्रवृत्त मानव को अपने नैतिक आचरण की याद दिलाई है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं---

"लोभ - महातर, शिर चढ़ी, बढ़ी ज्युं तृष्णा - वेलि ।
खेद - कुसुम विकसित भइ, फले दुःख ऋतु मेली ।।"

*　　*　　*

जाके राज विचार में, अवला एक प्रधान ।
सो चाहत है ज्ञान जय, कैसे काम अयान ।।"३

इन कवियों में उदयराज के नीतिपरक दोहे विशेष लोकप्रिय रहे है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा---

"गरज समै मन और हो, सरी गरज मन और ।
उदैराज मन की प्रकिति, रहै न एकण ठौर ।।"४

इन कवियों की इस प्रकार की असंख्य मुक्तक रचनाओं के अतिरिक्त अनेक चौपाई, रासादि प्रबंध रूपों में भी नीतिपरक सद्धर्मों की शिक्षा के असंख्य स्थल आए है। उदाहरणार्थ विनयचन्द्र की 'उत्तमकुमार चौपाई' में उत्तम कुमार का नीति और सदाचार को पोषण करने वाला उदात्त चरित्र वर्णित है। उसी तरह विनय-समुद्र के पद्मचरित्र में सीता और राम का शील प्रधान चरित्र, गुणसागरसूरि के 'कृतपुण्य रास' में दानधर्म की महिमा, महानंदगणि के 'अंजनासुन्दरी रास' में अंजना का उदात्त चरित्र, मालदेव की 'वीरांगदा चौपाई' में पुण्यविषय तथा 'स्थूलिभद्र

---

१. धर्मवर्द्धन ग्रंथावली, धर्म वावनी, पृ० ६
२. जिनराजसूरि कृत कुसुमांजलि, पृ० ११२
३. गूर्जर साहित्य संग्रह, भाग १, पृ० ४६३-६४
४. नाहटा संग्रह से प्राप्त प्रति

फाग' में भोज की विरक्तिमय प्रतिक्रिया और खेमचन्द की 'गुण माला चौपाई' में आर्य मर्यादा एवं नैतिकता का उज्ज्वल निरूपण हुआ है। 'गुणमाला चौपाई' में गुणमाला को उसकी माता आर्य मर्यादा एवं पातिव्रत धर्म की सीख देती हुई कहती है—

"सीखा मणि कुंवरी प्रतैं, दीयैं रंभा मात ।
वेटी तूं पर पुरुष सुं, मत करजे वात ॥ १ ॥
भगति करे भरतार की, संग उत्तम रहजे ।
वड़ा रा म्हौ वोले रखे, अति विनय वहजे ॥ २ ॥"[१]

जैन समाज में सज्झाय - साहित्य अत्यधिक लोकप्रिय है। विविध ढ़ालों और रागों में विनिर्मित सज्झायें जैन समाज में प्राय: कंठस्त कर लेने की प्रथा है। इस व्यावहारिक गेय साहित्य द्वारा भी परम्परागत उच्च प्रकार की सात्विक भावनाओं का संस्कार सिंचन हुआ है। प्रायः अधिकांश कवियों ने इस प्रकार की सज्झायों का निर्माण किया है।

प्रकृति - निरूपण

मनुष्य ने जब से आंख खोली है वह किसी न किसी रूप में प्रकृति से सम्बन्धित रहा है। प्रकृति के सतत साहचर्य के कारण उसने उसके प्रति राग-विरागादि से पूर्ण अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाएं अनुभव की हैं। वह कभी प्रकृति को देख कर आत्मविभोर हो गया, उसके रूप पर मुग्ध हो गया और उसने प्रकृति के गीत गाए। विरह के क्षणों में, मिलन की मादक घड़ियों में प्रकृति ने उसे सताया अथवा प्रोत्साहन दिया है, रीझते मानव-मन को अभिव्यक्ति की सुकुमार शब्दावली प्रदान की और कहीं-कहीं स्वयं मानव-रूप धर कर प्रकृति मानव को रिझाती रही। यदि काव्य को मनुष्य की आत्मा की अनुभूति की अभिव्यक्ति कहा जाय तो किसी भी कवि द्वारा रचित कोई भी सुन्दर काव्य प्रकृति के स्पर्शों से मुक्त नहीं हो सकता। जैन कवि भी इसके अपवाद नहीं हैं। उनकी रचनाओं मे भी प्रकृति किसी न किसी रूप में अवश्य निरूपित हो गई है।

मनुष्य और प्रकृति के परस्पर सम्बन्ध व पूर्ण परिप्रेक्ष्य को देखते हुए साहित्याचार्यों ने प्रकृति-निरूपण की विविध प्रणालियों की ओर संकेत किया है, यथा— प्रकृति का आलम्बनगत चित्रण, प्रकृति का उद्दीपनगत चित्रण, अलंकारगत चित्रण, प्रकृति का मानवीकरण, उपदेश आदि के लिए प्रकृति का काव्यात्मक प्रयोग

---

१. गुणमाला चौपाई, खेमचन्द, प्रकरण २

आदि। आलोच्य युगीन जैन कवियों ने भी अपनी कविताओं में प्रकृति का उपयोग किया है।

प्रकृति का आलम्बनगत प्रयोग : प्रकृति जब कवि के भावों का सीधा आलम्बन बन जाती है उस समय उसका निरूपण स्वतन्त्र रूप में होता है। वह काव्य में स्वयं साध्य होती है। इस दृष्टि से कुमुदचन्द्र का एक प्रकृति-चित्र देखिए—

"कलाकार जोनल जलकुंडी, निर्मल नीर नदी अति ऊंडी,
विकसित कमल अमल दलपंती, कोमल कुमुद समुज्जल कंती।
वनवाड़ी आराम सुरंगा, अम्ब कदम्ब उदंबर तुंगा।
करणा केतकी कमरख केली, नवनारंगी नागर वेली॥
अगर तगर तरु तिंदुक ताला. सरस सोपारी तरल तमाला।
वदरी वकुल मदाड वीजोरी, जाई जुई जम्बु जम्भीरी॥"१
—कुमुदचन्द्र

प्रकृति का उद्दीपनगत चित्रण : जहां पर प्रकृति कवि के स्थायी भावों को उद्दीप्त करती हुई दिखाई देती है वहां पर प्रकृति का उद्दीपनगत रूप होता है। इस प्रकार का उद्दीपनगत चित्रण प्रायः शृंगार रस में प्राप्त होता है। कवियों ने—आलोच्य युगीन जैन कवियों ने—नेमि-राजुल, स्थूलिभद्र—कोश्या आदि की कथाओं में जहां कहीं विरह-वर्णन प्रस्तुत किया है वहां प्रायः प्रकृति का उद्दीपन रूप में प्रयोग पाया जाता है। इस दृष्टि से इन कवियों के 'बारहमासे' तथा 'फागु' काव्य विशेष रूप से द्रष्टव्य है। भाद्र मास का एक उद्दीपनगत चित्र तेखिए—

"दल मनमथ बादलिइ, घन - घन - घटा रे.
जे जे वरसइ धार, ते विरह - तनि सटारे।
बिजली असि झलकाइ, उभरावि बीछड्या रे,
केकि बोल सुणंति कि, मूरछाइ पड्या रें॥"२ —जयवन्तसूरि

भाद्र मास की भांति ही प्रकृति अपने पूरे यौवन में अर्थात् वसन्त में विरहिणी को कितना कष्ट देती है। उसका भी दृश्य यहां प्रस्तुत है—

"मधुकर करई गुजारव मार विकार वहंति।
कोयल करइं पटहूकड़ा टूकड़ा मेलवा कन्त॥
मलयाचल थी चलकिउ पलकिउ पवन प्रचण्ड।
मदन महानृप पाझइ विरहीनि सिरदंड॥"३ —महानन्द गणि

१. भरत वाहुवलि छन्द. आमेर शास्त्र भण्डार की प्रति
२. नेमिराजुल बार मास वेल प्रबन्ध
३. अंजनासुन्दरी रास, प्रस्तुत प्रबंध का दूसरा अध्याय।

प्रकृति का अलंकारगत प्रयोग : जैसाकि हम पहले कह आए हैं कि अलंकारों का कार्य भाव को सुन्दरतम रूप में प्रस्तुत करना है तथा अभिव्यक्ति को सुकुमार शब्दावलि प्रदान करना है, प्रकृति का अलंकार रूप में प्रयोग भी इसी कार्य को सम्पन्न करता है। प्रकृति के अलंकारगत प्रयोग के कुछ उदाहरण देखिए—

"१- मैं तो पिय तें ऐसि मिली आली कुसुम-वास संग जैसे ।१ —आनंदघन
२- कुमुदिनी चंद जिसउ तुम लीनउ, दूर तुहि तुम्ह नेरउ ॥२ —समयसुन्दर
३- चन्द चकोर जलदजु सारंग, मीन सलिल ज्यु व्यावत ।
कहत कुमुद पतित पावन तूहि हिरदे मोहि भावत ॥३ —भट्टारक कुमुदचन्द्र
४- सारंग देखि सिधारे सारगु, सारंग नयनि निहार ।४ —भट्टारक रत्नकीर्ति
५- सुप्रभाति मुख कमल जु दीठु, वचन अमृत थकी अधिक जु मीठु ॥५
—आचार्य चन्द्र कीर्ति
६- जैसे घनघोर जोर आप मिलै चिहु ओर,
पवन को फोर घटत न लागै वार जू ।
सिरता को वेग जैसे नीर तैं बढ़ै है तैसें,
छिन में उतरि जाइ सुगम अपार जू ।
तैसें माय मिलै आय उद्यम कीयौ विनाय,
सकृत घटै हैं तव जैसे कहूं लार जू ।
ऐसो है तमासो जिनहरख घन,
घन दोउ मिलै आइ जोईयो विचार जू ॥"६
—जिनहर्ष

उपदेश आदि देने के लिए प्रकृति का काव्यात्मक प्रयोग :

अनेक स्थलों पर कवि प्रकृति के माध्यम से अन्य लोगों को उपदेश देना चाहता है। काव्य में जहाँ कहीं इस प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है वहाँ प्रकृति

१. गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रंथ, पृ० १४६
२. समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि, ३८३
३. राजस्थान के जैन संत - व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ० २७२
४. वही, २७०   ५. वही, १६०
६. जिनहर्ष ग्रंथावली, पृ० ११३

साधनरूप ही होती है, साध्यरूपा नहीं। सामान्यतः आलोच्यकालीन जैन गूर्जर कवियों ने प्रकृति का इस रूप में प्रयोग कम ही किया है। किन्तु उदाहरण प्राप्त हो ही जाते हैं। एक उदाहरण देखिए—

"चांपा ते रूपइ रूयडा, परिमल सुगन्ध सरूप।
भमरा मनि मान्या नहीं, गुण जाणइ न अनूप।।"१

कवि ने उक्त पंक्तियों में भ्रमर के माध्यम से उन लोगों के प्रति संकेत किया है जो गुण को नहीं पहचान पाते और तत्व को छोड़ बैठते हैं। इस प्रकार से कवि गुणों को पहचानने का उपदेश देते दिखाई देते हैं।

प्रकृति के माध्यम से ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा : प्रकृति के माध्यम से आलोच्य-कालीन जैन गूर्जर कवियों ने सभी पदार्थों में ब्रह्म के होने की कल्पना कर के ब्रह्म की सर्वव्यापकता पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। आचार्य धर्मवर्द्धन प्रायः सभी पुष्पों में प्रभु का वास देखते हैं।

"केतकी मे केसव, कल्याण राइ केवरा में,
कुंज में जसोदसुत कुंद में विहारी है।
मालती में मुकुन्द मुरारि वास मोगरें,
गुलाब में गुपाल लाल सौरभ सुधारी है।
जही में जगतपति कृपाल पारजात हु में,
पाडल में राजै प्रभु पर उपगारी हैं।
चम्प में चतुर्भुज चाहि चित चुभि रह्या,
सेवंती में सीताराम स्याम सुखकारी है।।२

उक्त विश्लेषण करने के पश्चात् इस बात की प्रतीति हो जाती है कि आलोच्यकालीन जैन-गूर्जर कवियों ने प्रकृति के जिस रूप को सर्वाधिक मात्रा में ग्रहण किया है वह है उद्दीपनगत एवं अलंकारगत। वस्तुतः कविता में उद्दीपनगत चित्रण ही प्रकृति का सही रूप है क्योंकि इसमें मनुष्य की भावनाएं जितनी गहराई से रम सकती हैं उतनी किसी अन्य रूप में नहीं। इन कवियों में प्रकृति के मानवीकरण का प्रयास प्राप्त नहीं होता। मूलतः ये कवि उपदेशक रहे हैं। इनका काम धर्म प्रचार करना रहा है फिर भी इनका प्रकृति-चित्रण अपने मत की पुष्टि के लिए नहीं किया गया। उपदेशरूपा प्रकृति जैसे यहाँ है ही नहीं और जहाँ कहीं है भी वहाँ अत्यल्प।

---

१. समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि, पृ० ११३
२. धर्मवर्द्धन ग्रंथावली, पृ० १३७

(११) इन कवियों के काव्यगत भाव आध्यात्मिक चेतना से युक्त हैं। भक्तिकालीन साहित्य धारा में जहां अध्यात्म तत्व का प्राधान्य रहा वहां रीतिकालीन काव्यधारा में सांसारिक विषयों की प्रधानता रही। आलोच्य कवि लौकिक एवं आध्यात्मिक विचारधारा के बीच सेतु निर्माण का कार्य करते प्रतीत होते हैं।

(१२) यद्यपि इन कवियों के मूल प्रेरणा तत्व धर्म और आध्यात्मिकता रहे हैं तथापि इनकी रचनाएं न तो धार्मिक संकीर्णता से ग्रस्त हैं और न नीरस ही। इनमें काव्य रस का समुचित परिपाक है। इनके विषय मात्र धार्मिक ही नहीं, लोकोपकारक भी हैं। काव्यरस और अध्यात्मरस का जैसा समन्वय इन कवियों ने किया है वैसा भक्ति-काल के मूर्धन्य कवियों को छोड़ अन्यत्र नहीं मिलता।

प्रकरण ५

आलोच्य युग के जैन गूर्जर कवियों की कविता में कला पक्ष

भाषा

छन्द और संगीत विधान

अलंकार - विधान

प्रतीक - विधान

प्रकरण - निष्कर्ष

प्रकरण ५

आलोच्य युग के जैन गुर्जर कवियों की कविता में कला-पक्ष

किसी भी युग की कविता पर विचार करते समय हमारा ध्यान वस्तु पक्ष के बाद सर्वप्रथम कला-पक्ष की ओर ही जाता है। काव्य-कला के विभिन्न उपकरणों को लेकर अब हम आलोच्य युग के जैन गुर्जर कवियों की कविता के कला-पक्ष पर विचार करेंगे।

भाषा :

जैन गुर्जर कवियों की अनुभूति में जिस प्रकार सहजता और लोक-जीवनाभिमुखता के दर्शन होते है, उसी तरह इनकी अभिव्यक्ति में भी लोक वाणी की ओर सहज आकर्षण है। कई जैन संत तो संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् रहे हैं, फिर भी इन्होंने अपनी अभिव्यक्ति लोक भाषा में करना अधिक उपयुक्त समझा। अपनी वाणी को बोधगम्य एवं लोकभोग्या बनाने के लिए इन्होंने व्याकरणादि के रूपों एवं भाषाकीय सीमाओं की विशेष परवाह नहीं की है। भाषा प्रचार एवं प्रसार की दृष्टि से इन कवियों के इन प्रारंभिक प्रयोगों का हिन्दी को राष्ट्रव्यापी रूप देने में बड़ा महत्व है। उनकी भाषा अनेक भाषाओं व प्रभावों की संगम स्थली है।

अपभ्रंश का प्रभाव :

हिन्दी अपभ्रंश का ही विकसित रूप है, अतः १७वीं शती के कुछ कवियों की हिन्दी कविता में अपभ्रंश की विशेषताएं अपने अवशिष्ट रूप में अवश्य दीख पड़ती हैं। अपभ्रंश की विशेषताएं जो इन कवियों में रह गई हैं, उसका अध्ययन इस प्रकार कर सकते हैं—

(क) 'उ' कार बहुला प्रवृत्ति :

अपभ्रंश की "उ" कार बहुला प्रवृत्ति यहां भी प्रतिष्ठित है। कृदन्त तद्भव क्रियाओं के अधिकांश रूप उकारान्त हैं। उदाहरणार्थ मालदेव के भोजप्रबन्ध से एक उद्धरण द्रष्टव्य है—

"वनतें वन छिपतउ फिरउ, गण्हर वनहं निकुंज ।
भूखउ भोजन मांगिवा, गोवलि आयउ मुंज ॥२४७॥"१

कहीं कहीं "कर्ता" तथा कर्मकारक की विभक्ति के रूप में भी "उ" का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार के प्रयोग समयसुन्दर की "साचोर तीर्थ महावीर जिन स्तवनम्", "श्री महावीर देव गीतम्", तथा "श्री श्रेणिक विज्ञप्ति गर्भितं श्री महावीर गीतम्" रचनाओं में सहज रूप में मिलते हैं।२ यह प्रवृत्ति जिनहर्ष आदि कवियों की रचनाओं में भी प्राप्त हो जाती है।३

(ख) "रे" और "डी" का प्रयोग :

यह भी अपभ्रंश की एक विशेषता रही है। कुछ कवियों ने "रे" और "डी" का अच्छा प्रयोग किया है। भट्टारक शुभचंद्र ने "रे" और "डी" दोनों का एक ही पद्य में वड़ा सुन्दर प्रयोग किया है—

"रोग रहित संगीत सुखी रे, संपदा पूरण ठाम ।
धर्म बुद्धि मन शुद्धडी, दुलहा अनुक्रमि जाण ॥"

—तत्वसार दूहा

भट्टारक रत्नकीर्ति ने भी "रे" का प्रयोग किया है जिससे प्रवाह में एक तीव्रता का आभास होता है—

"आ जेष्ठ मासे जग जलहरनो उभा हरे ।
कोई वाप रे वाय विरही किम रहे रे ॥
आरते आरत उपजे अंग रे ।
अनंग रे संतापे दुख केहे रे ॥" —नेमिनाथ वारहमासा

कवि समयसुन्दर ने "उ" और "री" का एक साथ प्रयोग किया है—

"पदमनाथ तीर्थंकर हुउगे,
वीर कहइ तुम्ह काज सर्यउ री ।
समयसुन्दर प्रभु तुम्हारी भगति तइ,
इहु संसार समुद्र तर्यउ री ॥ ४ ॥"

—श्री श्रेणिक विज्ञप्ति गर्भित श्री महावीर गीतम्।४

---

१. नाथूराम प्रेमी, हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, पृ० ४५
२. समयसुन्दर कृत कुसुमांजली, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० २०५-२१०
३. जिनहर्ष ग्रंथावली, पृ० ३२ और ४७
४. समयसुन्दर कृत कुसुमांजली, संपा० अगरचंद नाहटा, पृ० २१०

(ग) दीर्घ स्वर को लघु बनाने की प्रवृत्ति :

सरस्वती को सरसई या सरसति१, श्री को सिरि२ तथा अमृत को अमिय, दर्शन को दरसन आदि प्रयोग इसी के उदाहरण हैं।

(घ) वर्णों के संकोचन की प्रवृत्ति :

वर्णों के संकोचन का कौशल भी अपभ्रंश की एक खास विशेषता है। इस प्रवृत्ति के अनुसार "प्रमाणक रु" के स्थान पर "पणउ" 'स्थान' के स्थान पर 'ठाण', 'मयूर' के स्थार पर 'मोर' आदि प्रयोग देखने में आते हैं। भट्टारक शुभचन्द्र. समयसुन्दर तथा जिनहर्ष की कविता में ऐसे प्रयोग विशेष हुए हैं।

इस प्रकार १७वीं शती के इन प्रारम्भिक कवियों की भाषा में उकारान्त और इकारांत शब्दों का बहु-प्रयोग दिखाई देता है। पर इनके शब्दों में लय का उन्मेष है अतः कर्णकटु नहीं लगते। इनमें विभक्तियाँ लुप्त-सी रही हैं। भ्रमणशील प्रवृत्ति के कारण गुजराती, राजस्थानी शब्दों के साथ सिंधी, उर्दू, फारसी आदि के शब्द भी स्वभावतः आ गये हैं। कवि समयसुन्दर की कविता में फारसी आदि विदेशी शब्दों में फौज, बलिम, दिलगीर, आदि शब्दों का सहज प्रयोग हुआ हैं।

विशेषतः भट्टारकों तथा अन्य संस्कृत के प्रकाण्ड पंडितों में समयसुन्दर, धर्मवर्द्धन, यशोविजय आदि की भाषा तत्सम बहुला रही है—

"कर्म कलंक विकारनो रे, निःशेष होय विनाश।"

—तत्सार दूहा – शुभचन्द्र

"कठिन सुपीन पयोधर, मनोहर अति उतंग।
चंपक वर्णी चन्द्राननी, माननी सोहि सुरंग ॥१७॥"

—वीर विलास फाग – वीरचन्द्र

"भलूं आज भेट्युं प्रभोः पादपद्मम्,
फली आस मोरी नितान्तं विपद्मम्।
गयूं दुःख नासी पुनः सौम्यदृष्ट्या।
क्युं सुख झाझुं यथा मेघवृष्ट्या ॥१॥"

—श्री पार्श्वनाथाष्टकम्—समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि

१७वीं शती की अधिकांश रचनाओं पर गुजराती और राजस्थानी का भी विशेष प्रभाव है। क्योंकि वि० सं० १६०० और उसके पूर्व हिन्दी, गुजराती और

१. "सरसति सामनी आप मुराणी" गोड़ी पार्श्वनाथ स्तवनम् कुशल लाभ-अध्याय १
२. "शिरि संघराज लोकागच्छ शिरताज आज"–किशनदास, किशनबावनी।

राजस्थानी में विशेष अन्तर नहीं था। श्री राहुल जी के मतानुसार ये भाषाएं अपभ्रंश से विकसित हुई थीं, उनके मूल रूपों में भेद नहीं था। उनकी दृष्टि से तो गुजरात तेरहवीं शती तक हिन्दी क्षेत्र का एक अभिन्न अंग रहा है।[१] फिर भी उनमें कुछ न कुछ रूप भेद तो अवश्य था जिनसे इनका पृथक् अस्तित्व प्रमाणित एवं सिद्ध है।

वि० की १७वीं और १८वीं शती का समय हिन्दी के पूर्ण विकास का समय कहा जा सकता है। अपभ्रंश की "उ" कार बहुला प्रवृत्ति धीरे धीरे हटने लगती है और तत्सम प्रधान भाषा का रूप विनिर्मित होने लगता है और विभक्तियां भी स्पष्ट दिखाई देने लगती हैं। क्रियाओं का विकास भी स्पष्टतः दृष्टिगत होने लगता है। "रे" के प्रयोग की प्रवृत्ति इन कवियों में विरासत के रूप में अवश्य प्रचलित रही। "रे" का प्रयोग संगीतात्मकता और ध्वनि सौन्दर्य की दृष्टि से मधुर हो उठा है। श्री कुशल लाभ का एक पद्य द्रष्टव्य है—

"आव्यो मास असाढ़ झबूके दामिनी रे।
जोवइ जोवइ प्रीयड़ा वाट सकोमल कामिनी रे॥
चातक मधुरइ सादि कि प्रीउ प्रीउ उचरइ रे।
वरसइ घण वरसात सजल सरवर भरइ रे॥"[२]

भाषा की दृष्टि से इस युग की कविता को दो भागों में बांटा जा सकता है—प्रथम वह जो संस्कृत के अनुवाद रूप में है और दूसरी मौलिक कविता में प्रयुक्त। अनूदित कविता में संस्कृत निष्ठा अधिक है, मौलिक में सरलता एवं सरसता। उदाहरणार्थ धर्मवर्द्धन ने नीतिशतकम् के ९९ वें श्लोक का अनुवाद इस प्रकार किया है—

"रीस भयो कोइ रांक, वस्त्र विण चलीयौ वाटै।
तपियो अति तावड़ो, टालतां मुसकल टाटै।
बील रूंख तलि बेसि, टालणो मांड्यो तड़को।
तरू हुंतीं फल त्रूटि, पड्यो सिर माहे पड़को।
आपदा साथि आगै लगी, जायै निरभागी जठे।
कर्मगति देख धर्मसी कहै, कहाँ नाठो छुटै कठे॥१३॥"

—छप्पय बावनी

---

१. राहुल सांकृत्यायन, हिन्दी काव्यधारा, अवतरणिका, पृ० १२
२. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, पृ० ११६

इन्हीं का मौलिक पद देखिए--

"मन मृग तु तन वन में मातो ।
केलि करे चरे इच्छाचारी जाणे नहीं दिन जातो ॥१॥
माया रूप महा मृग त्रिसनां, तिण में धावे तातो ।
आखर पूरी होत न इच्छा, तो भी नहीं पछतातो ॥२॥
कामणी कपट महा कुड़ि मंडी, खवर करे फाल खातो ।
कहे धर्मसीह उलंगीसि वाको, तेरी सफल कला तो ॥३॥"[1]

इसी प्रकार कवि समयसुन्दर, शुभचन्द्र, यशोविजय आदि के फुटकर पदों की तथा अन्य रचनाओं की भाषा में अन्तर है ।

इस युग के जैन गूर्जर कवियों की कविता में विविध भाषा ज्ञान और उसमें काव्यरस के निर्वाह की विलक्षणता देखने को मिलती है । ये कवि कभी एक स्थान पर जम कर नहीं रहे और देश के विभिन्न भागों में विहार कर जन जागृति का शंखनाद करते रहे हैं तथा उस प्रान्त विशेष की भाषा को भी सहजरूप से अपनाते रहे हैं । अतः इस युग की हिन्दी कविता में भाषा के जो विविध प्रयोग हुए हैं, उसके कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

"कवि जिनहर्ष की सुललित एवं साहित्यिक राजस्थानी भाषा का एक उदाहरण देखिए—

"सभा पूरि विक्रम्म, राइ बैठो सुविसेसी ।
तिण अवसर आवीयउ, एक मागध परदेशी ॥
ऊभो दे आसीस, राइ पूछइ किहां जासी ।
अठा लगें आवीयौ, कोइ तैं सुण्यौ तमासी ॥
कर जोड़ि एम जंपइ वयण, हुकम रावली जो लहुं ।
जिनहर्ष सुणण जोगी कथा, कोतिग वाली हूं कहुं ॥१॥[2]

इसी युग के कवि किशनदास की कविता में ब्रजभाषा का माधुर्य देखिए—

"अंजलि के जल ज्यों घटत पल पल आयु,
विष से विषम व्यवसाय विष रस के ।
पंथ को मुकाम कछु वाप को न गाम यह,
जैबो निज धाम तातें कीजे काम यश के ।

1. अगरचन्द नाहटा, धर्मवर्द्धन ग्रंथावली, पृ० ६०
2. जिनहर्ष ग्रंथावली, अगरचन्द नाहटा, चौबोली कथा, पृ० ४३६

खान सुलतान उमराव राव राना आन,
किशन अजान जान कोउ न रही सके,
सांझरू विहान चल्यो जात है जिहान तातें,
हमहू निदान महिमान दिन दस के ॥२०॥१

डिंगल भाषा :

"भोगवि किते भू किता भोगवसी, मांहरी मांहरी करइ मरैं ।
ऐंठी तजि पातलां उपरि, कुंवर मिलि मिलि कलह करैं ॥१॥
धपटी धरणी केतेइ धुंसी, धरि अपणाइत कइ ध्रूवैं ।
धोवा तणी शिला परि धोबी, हुं पति हुं पति करै हुवै ॥२॥"२

—धर्मवर्धन

खड़ी बोली :

"वे मेवरे, कोहरी सेवरे, अरे कहां जात हो उतावरे,
टुक रहो नइ खरे ।
हम जाते वीकानेर साहि जहांगीर के भेजे,
हुकम हुया फुरमाण जाइ मानसिंघ कुं देजे ।
सिद्ध साधक हउ तुम्ह चाह मिलणे की हमकुं,
वेगि आयउ हम पास लाभ देऊंगा तुम कुं ॥१॥"—समयसुन्दर३

सिन्धी भाषा :

"साहिव मइडा चंगी सूरति; आ रथ चढ़ीय आवंदा हे भइणा ।
नेमि मइकुं भावंदा हे ।
भावंदा हे मइकुं भावंदा हे, नेमि असाढ़े भावंदा हे । १ ।
आया तोरण लाल असाड़ा, पसुय देखि पछिताउंदा हे भइणा । २ ।"४

पंजावी भाषा :

" मूरति मोहणगारी दिट्ठडां आवै दाय ।
चरण कमल तड्डे सोहियां, मन भमर रह्यो लोभाय ॥१॥
सनेही पास जिणंदा वे, अरे हां सलूणे पास जिणंदावे ।

---

१. गुजराज के हिन्दी गौरवग्रंथ, डॉ० अंबाशंकर नागर, उपदेश बावनी, पृ० १६५
२. धर्मवर्द्धन ग्रंथावली, अगरचन्द नाहटा, पृ० १०८
३. समयसुन्दर कृत कुसुमांजली, अगरचन्द नाहटा, पृ० ३६३
४. समयसुन्दर कृत, कुसुमांजली, अगरचन्द नाहटा, पृ० १३२

तूं ही यार सनेही साजन, तू ही मैंडा पीऊ ।
नैंणे देखण ऊमहे, मिलने कूं चाहै जीव ।।२।।"१

हिन्दी गुजराती मिश्रित भाषा रूप :

"कनकमि कंकण मोड़ती, तोड़ती मिणिमिहार ।
लूंचती केश-कलाप, विलाप करि अनिवार ।। ७० ।।
नयणि नीर काजलि गलि, टलवलि भामिनी भूर ।
किम करूं कहिरे साहेलड़ी, विहि नड़ि गयो मझनाह ।। ७१ ।।

—वीरचन्द्र - वीर विलास फाग२

गुजराती :

"परमेसर शुं प्रीतडी रे, किम कीजे किरतार,
प्रीत करंता दोहिलि रे, मन न रहे खिण एकतार रे,
मनडानी वातो जोज्यो रे, जुजुईधातो रंग विरंगी रे,
मनडुं रग विरंगी ।। १ ।।" —आनन्दवर्द्धन३

इस युग के जैन-गूर्जर कवियों का गुजरात और राजस्थान से विशेष संबंध रहा है। अतः गुजराती तथा राजस्थानी भाषा के प्रभाव से ये मुक्त नहीं हो पाये हैं। ब्रजभाषा का भी ये मोह नहीं छोड़ सके हैं अधिकांश कविओं ने तो शुद्ध ब्रज-भाषा में अपनी कविताएं की हैं। सभी कवियों के पदों की भाषा तो ब्रजभाषा ही रही है। अरबी-फारसी शब्दों का भी सहज प्रयोग, मगलयुग और उसके प्रभाव के कारण दीख पड़ता है। कवि किशनदास ने तो अपनी "उपदेश बावनी" में आलम, जुल्म आदि इसके प्रचलित शब्दों से भी आगे बढ़ अरबी-फारसी के कुछ कठिन शब्द—मिसकिन, पशम, पेशकशी, इतमाम, तशकीर आदि का भी प्रयोग किया है। आनंद-घन जी ने भी तबीब, खलक, गोसलखाना, आमखास आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

"स" - "श" का विशिष्ट प्रयोग :

इस युग में "श" और "स" दोनों का ही प्रयोग हुआ है, किन्तु "स" की सर्वत्र अधिकता है। सोभा, दरसन, सरीर, सुद्ध, सरन, सुजस आदि में 'श' के स्थान पर 'स' का ही प्रयोग है, जिसे अधिकांश कवियों ने स्वाभाविकता से अपनाया है।

१. जिनहर्ष ग्रंथावली, संपा० अगरचन्द नाटहा, पृ० २२५
२. राजस्थान के जैन संत – डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ० १०९
३. भजन संग्रह, धर्मामृत, पृ० ७३

किन्तु ज्ञानानन्द, यशोविजय, विनयविजय तथा कुछ भट्टारक कवियों ने 'श', 'स' दोनों का ही यत्र तत्र प्रयोग किया है।१

आगम और लोप की प्रवृत्ति :

इन कवियों में संयुक्त वर्णों को स्वर विभक्ति के द्वारा पृथक् पृथक् करने की प्रवृत्ति भी परिलक्षित होती है। उदाहरणार्थ महात्मा आनन्दघन जी ने 'आत्मा' को 'आतम', 'भ्रम' को 'भरम', 'सर्वंगी' को 'सरवंगी', 'वृत्तांत' को 'विरतंत' तथा 'परमार्थ' को 'परमारथ' कहा है। अन्य कवियों ने भी सबद (शब्द), परसिद्ध (प्रसिद्ध), परतछ (प्रत्यक्ष), जनम (जन्म), दरसन (दर्शन), पदारथ (पदार्थ), सुमरन (स्मरण), परमेसुर (परमेश्वर), मूरति (मूर्ति), मरमी (मर्मी) आदि शब्द प्रयुक्त किए हैं।

संयुक्त वर्णों को अधिक सरल बनाने के लिए कुछ कवियों में वर्णों में से एक को हटा देने की प्रवृत्ति भी दीख पड़ती है। उदाहरणार्थ—यशोविजय जी ने अपनी कविता में 'अक्षय' को 'अखय', 'ऋद्धि' को 'रिधि', 'जिनेन्द्र' को 'जिनंद' आदि का विशेष प्रयोग किया है 'स्थान' को 'थान', 'स्वरूप' को 'सरूह', 'मोक्ष' को मोख, 'स्पर्श' को 'परसे', 'द्युति' को 'दुति' आदि ऐसे ही प्रयोग हैं जो अधिकांश कवियों की कविता में प्रयुक्त हैं।

सटीक पद-प्रयोग :

इस युग के कवियों की अन्य भाषागत विशेषताओं में एक तो शब्दों का उचित स्थान पर प्रयोग है और दूसरा प्रसाद गुण सम्पन्नता है। इनमें शब्दों के अपने उचित स्थान पर प्रयोग इतने उपयुक्त हैं कि उनको वहां से हटा देने से समूचा सौन्दर्य ही नष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ हेमविजय के "मुनिहेम के साहब देखन कूं, उग्रसेनलली सु अकेली चली" और "मुनिहेम के साहिब नेमजी हो, अब तोरन तें तुम्ह तें तुम्ह क्यूं बहुरे।" में "उग्रसेनललि" और "बहुरे" शब्दों का अपने उपयुक्त स्थान पर होने से काव्य सौन्दर्य कितना बढ़ गया है। इसी प्रकार माहत्मा आनन्दघन के—

"झड़ी सदा आनन्दघन बरावत, बिन मोरे एक तारी" के "बिनमोरे" शब्द प्रयोग में भी उक्त काव्य-सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। रत्नकीर्ति के "वरज्यो न माने

---

१. भजन संग्रह, धर्मामृत, सपा० पं० बेचरदास

(क) आशा पूरण एक परमेसर, सेवो शिवपुरवानी ॥ विनयविजय, पृ० ४१

(ख) जा जनवाद वदे उनहा को, जैन दशा जस ऊंची ॥ यशोविजयजी, पृ० ४७

नयन निठोर" तथा 'उमंगी चले मति फोर ॥१॥' में "नयन निठोर" और "मति फोर" और कुमुदचन्द्र के "दुख चूरन तुही गरीब निवाज रे ॥" में 'गरीब निवाज' आदि ऐसे ही प्रयोग हैं। एक ऐसा ही प्रयोग विनय की कविता से और द्रष्टव्य है—

"मेरी मेरी करत बाउरे, फिरे जीउ अकुलाय ।
पलक एक में वहुरि न देखे, जल-बुन्द की न्याय ॥"

यहाँ 'बाउरे' शब्द ऐसे उपयुक्त स्थान पर बैठा है, जिससे पद में जीवन आ गया है। इस प्रकार उपयुक्त स्थान पर शब्दों को बिठाना सच्चे कलाकारों का ही काम है।

कहावतें और मुहावरे :

कहावतों और मुहावरों को भी इन कवियों ने अपनी अपनी कविता में नगीनों की भाँति जड़ दिया है। इनके स्वाभाविक प्रयोग से इनकी कविता में जान आ गई है। ऐसे प्रयोग किसनदास की उपदेशबावनी में बड़ी सफलता से हुए हैं। कवि ने गांठ का खाना, नदी-नाव का संयोग, कंधा नवाया आदि छोटे मुहावरों को अपनी कविता में 'फिट' कर दिया है। कहावतों के प्रयोग में कवि की सिद्धहस्तता दर्शनीय है—१

"लेवे को न एक कपु, देवे को न दोई है ॥ १३ ॥
ज्यों ज्यों भीजे कामली, त्यों त्यों भारी होत ॥ १५ ॥
व्है है मन चंग तो कठौती में गंग है ॥ २६ ॥
दूध के जरे की नांइ छाछ फूंकि पीजिए ॥
बांध मूठी आयो पै पसारे हाथ जायवो ॥"

कवि समयसुन्दर की कविता भी लोकोक्तियों के प्रयोग की दृष्टि से महत्व-पूर्ण है। उनकी 'सीतराम चौपाई' में प्रयुक्त कुछ कहावतें द्रष्टव्य हैं—

" छट्ठी रात लिख्यउ ते न मिटइ। (प्रथम खण्ड, छन्द ११)
करम तणी गति कहिय न जाय । (दूसरा खण्ड, छन्द २४)
लिख्या मिटइं नहि लेख । (खण्ड ५, ढाल ३)
थूकि गिलइ नहि कोइ (खण्ड ६, ढाल ३)"

ज्ञानानन्द ने अपने एक पद में दंभ-अभिमान और संसार सुख में आमग्न मानव को सावधान करते हुए कहा है—

"चार दिनांकी चाँदनीं हेगी, पाछे अंधार वतावे ॥ ४ ॥"२

---

१. गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रंथ-उपदेश बावनी

२. भजन संग्रह, धर्मामृत, पं बेचरदास, पृ० २६

कवि कुमुदचंद ने बताया है संसार में व्यर्थ भटकने से कुछ हाथ नहीं लगता—'निकसत धीउ न नीर विलोवत ।' तन, धन, यौवन आदि तो नदी नाव संयोग हैं—'योग मिल्यो जेस्यो नदी नाउ रे ॥'[१] कवि विनयचन्द्र ने भी लोकोक्तियों का प्रयोग कर अपनी रचनाओं को हृदयग्राही बना दिया है। विनयचन्द्र की कविता से कुछ उद्धारण प्रस्तुत हैं—

"साकर मां कांकर निकसइ ते साकर नौ नहिं दोष"
—विमलनाथ स्तवन

"एक हाथइ रे ताली नवि पडइ रे"
—स्वाभाविक पार्श्वनाथ स्तवन

"पंखी जातइ एकज हूआ, पिण काग कोइल ते जूआ रे"
—सूरप्रभ स्तवन

जयवन्तसूरि ने भी सरल राजस्थानी भाषा के मुहावरों का प्रयोग किया है—
"दाधां उपरि लूण, लगावी आपीया रे ।"
—नेमि राजुल बार मास बेल प्रबंध

(१) "निसि बितई तारा गनत, रो रो सब दिन याम ।"
(२) "वह देखइं जीउ कर मलति, इस देखत संतोष ।"
—स्थूलिभद्र मोहन वेलि

इस प्रकार वाक्य योजना और पद-संघठन की दृष्टि से भी इस युग की काव्य-भाषा महत्वपूर्ण है। असंख्य कहावतों और मुहावरों के स्वाभाविक प्रयोग द्वारा भाषा को शक्तिशाली बनाया गया है। कवि धर्मवर्द्धन के अधिकांश पद 'कहावत' के साथ ही समाप्त होते हैं। एक पद प्रस्तुत है—

"नट बाजी री नट बाजी, संसार सब ही नट बाजी ।
अपने स्वार्थ कितने उजरत, रस लुब्धो देखन राजी ॥१॥
छिकरी ककरी के करत, रूपयै, वह कूदत काठ को बाजी ।
पंख ते तुरत ही करत परेवा, सबही कहत हाजी हाजी ॥२॥
ज्ञानी कहै क्या देखे गमारा, सब ही मगल विद्या साजी ।
मगन भयो धर्मसीख न मानत,
जो मन राजी तो क्या करे काजी ॥३॥

प्रसादगुण सम्पन्ना :

प्रसादगुण सम्पन्नता तो अधिकांश कवियों में देखी जा सकती है। कवि समयसुन्दर, महात्मा आनन्दघन, यशोविजयजी, जिनहर्ष, रत्नकीर्ति, शुभचंन्द्र,

मुदचन्द्र आदि कवि इस दृष्टि से विशेष प्रसिद्ध हैं। यशोविजयजी के इस पद में भाषा की मधुरिमा, सरलता और सरसता है, वह दर्शनीय है। प्रभुदर्शन के लिए आतुर, वह वलवती, प्रतीक्षारत आत्मानुभूति की इस अभिव्यक्ति में प्रसादगुण और प्रांजलता देखते ही वनती है—

"कव घर चेतन आवेंगे मेरे, कव घर चेतन आवेंगे ॥
सखिरि लेवु वलैया वार वार ॥
रेन दीना मानु ध्यान तु साढ़ा, कवहु के वरस देखावेंगे ॥
विरह दीवानी फिर ढुढती, पीउ पिउ करके पोकारेंगे ।
पिउ जाय भले ममतासे, काल अनन्त गमावेंगे ॥
करू एक उपाय में उद्यम, अनुभव मित्र बोलावेंगे ।
आय उपाय करके अनुभव, नाथ मेरा समझावेंगे ॥
अनुभव मित्र कहे सुन साहेव, अरज एक अव धारेंगे ।
ममता त्याग समता घर अपनी, वेगे जाय अपनावेंगे ॥
अनुभव चेतन मित्र दोउ, सुमति निशान घुरावेंगे ।
विलसत सुख जम लीला में, अनुभव प्रीति जगावेंगे ॥"१

कवि लक्ष्मी वल्लभ के पदों की तथा "नेमि-राजुल वारहमासे" की प्रत्येक पंक्ति में प्रसाद गुण का वैभव है। राजुल आतुर मन से नेमिनाथ की प्रतीक्षा करती रहीं, सावन आया पर 'नेम' न आये। राजुल की विरह दशा का मार्मिक चित्र कवि ने बड़ी ही प्रासादिक शैली में प्रस्तुत किया हैं—

"उमटी विकट घनघोर घटा चिहु ओरनि मोरनि सोर मचायो ।
चमके दिवि दामिनि यामिनि कु भय मामिनि कु पिय को संग भायो ।
लिय चातक पीउ ही पीउ लई, भई राज हरी मुंह देह छिपायो ।
पतियां पै न पाई री प्रीतम की अली, श्रावण आयो पै नेम न आयो ॥"२

इस युग के अधिकांश कवियों की भाषा में रागात्मिका शक्ति की प्रवलता है। इन कवियों ने भाषा को सजाने, संवारने में अपनी पटुता प्रदर्शित की है। इसमें भावप्रवणता के साथ मनोरंजकता भी है। भावों को अधिक तीव्र वनाने के लिए इन कवियों ने नाटकीय भाषाशैली का प्रयोग भी किया है। आत्मानुभूति की अभिव्यंजना इस शैली में दृष्टव्य है—

१. मगन संग्रह धर्मामृत, पं० वेचरदास, पृ० ६५
२. अभय जैन पुस्तकालय, वीकानेर की प्रति

(क) प्यारे चित विचार ले, तु कहां से आया ।
बेटा बेटी कवन है, किसकी यह माया ॥१॥

तथा

(ख) भोर भयो उठ जागो मनुवा,
साहेव नाम संभारो ।

ज्ञानानन्द की उपर्युक्त पंक्तियों में—

आये 'प्यारे' और 'मनुवा' शब्द भाषा को भावप्रवण और नाटकीय रूप देने में समर्थ हैं। इसी प्रकार आनन्दघन जी के 'प्रीत की रीत नहीं हो, प्रीतम', 'क्या सौवे उठ जाग वाउरे', 'चेतन चतुर चोगान लरी री' आदि पद तथा किशनदास की 'आग लगे मेरे भाई मेह कहां पाइये', 'अहो मेरे मन मृग खोली देख ज्ञान दृग' 'अरे अभिमानी प्रानी जानी तें न ऐसी जानी। पानी के-सी नीक लौं जुवानी चली जात है ॥" आदि पंक्तियों में भाषा की वही शक्ति है। कवि धर्मवर्धन के इन सरल उपदेशों में—'भैया क्रोध करो मति काई' तथा 'मूढ़ मन करत है ममता केती' में यही नाटकीय भाषा के दर्शन होते हैं। इस दृष्टि से कवि भद्रसेन रचित 'चन्दन 'मलयागिरि चोपई', श्रीसार रचित 'मोती कपासीया संबंध संवाद' तथा सुमतिकीर्ति रचित 'जिह्वादन्त विवाद' रचनाएं अधिक महत्वपूर्ण हैं। माधुर्य और नाद-सौन्दर्य की दृष्टि से जिनराजसूरि की भाषा का एक और उदाहरण द्रष्टव्य है—

"मारगि हे सखि मारगि सहियर साथि,
चालण हे सखि चालण पगला चलवलइ ।
भेटण हे सखि भेटण आदि जिणंद,
मो मनि हे सखि मो मनि निसदिन टलवलइ ॥

—शत्रुंजय तीर्थंकर स्तवन१

नादसौन्दर्य के साथ छन्द, तुक, गति, यति और लय का भी सुभग समन्वय इन कवियों की भाषा में देखा जाता है। कुछ कवियों ने अपनी शब्द साधना द्वारा कोमलानुभूति को सरसता, मधुरता और सुकुमारता के वातावरण में उपस्थित करने के लिए समस्त ह्रस्व वर्णों का प्रयोग किया है और अपनी भाषा कारीगरी का परिचय दिया है। कवि धर्मवर्द्धन की 'धर्म बावनी' कृति से एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"धरत धरम मग, हरत दुरित रग
करत सुकृत मति हरत मरमसी ।

गहत अमल गुन, दहत मदन वन
रहत नगन तन सहत गरम सी।
कहत कथन सन वहत अमल मन
तहत करन गण महति परमसी।
रमत अभित हित सुमति जुगत जति
चरन कमल नित नमत धरमसी ॥५॥"१

छन्द और संगीत विधान :

भाषा के स्वाभाविक लय-प्रवाह के लिए छन्द-विधान का भी अपना महत्व है। भाषा के लाक्षणिक प्रयोग के लिए लय और छन्द का प्रयोग प्राचीन काल से होता आया है। जैन गूर्जर कवियों ने अपनी कविता में वर्णिक और मात्रिक दोनों ही प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है, किन्तु मात्रिक छन्दों की प्रधानता है। इस युग के अधिकांश गूर्जर जैन कवियों ने तलपदीय पदबन्धों (देशियों) के साथ साथ दोहा, चौपाई, सोरठा, कवित्त, कुंडलियां, सवैया, छप्पय आदि छन्दों का विशेष प्रयोग किया है। इनमें संगीतमयता से आध्यात्मिक रस वरसा है। इन कवियों की छन्दयोजना वैविध्यपूर्ण तो है ही उसमें एक अनन्त संगीत की गूंज भी है जो विभिन्न प्रकार की ढालों, रागिनियों, देशियों आदि द्वारा हृदय के तार झंकृत कर देती है। इस प्रकार इन कवियों ने अपनी कोमल पद रचना में लय, छन्द व रागरागिनियों का सन्निवेश कर अनुभूति को अधिक आह्लादमय बनाने का प्रयास किया है।

छंदविधान :

दोहा : संस्कृत के 'श्लोक' और प्राकृत के 'गाथा' छन्द की भांति यह अपभ्रंश का मुख्य छन्द रहा है। डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने दोहा का मूल स्रोत आभीर जाति के 'विरहागानों' में वताया है। किन्तु दोहा का प्राचीनतम रूप 'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंक में मिलता है। वाद में योगीन्दु के 'परमात्मप्रकाश', 'योगसार' आदि रचनाओं में अपभ्रंश का प्रिय छन्द वन गया।

इस युग के जैन गूर्जर कवियों ने दोहे का प्रयोग भक्ति, उपदेश, अध्यात्म आदि विषयक कविता में किया है। भट्टारक शुभचन्द्र के 'तत्वसार दूहा' में दोहों का ही प्रयोग हुआ है। उदयराज के दोहे भी प्रसिद्ध हैं। जिनहर्ष की 'दोहा मातृका बावनी', लक्ष्मीवल्लभ की 'दोहाबावनी', उदयराज की 'वैद्य विरहिणि प्रवन्ध, 'श्रीमद् देवचन्द्र की 'द्रव्य प्रकाश', 'साधु समस्या द्वादश', 'दोधक', 'आतमहित शिक्षा', समयसुन्दर की 'सीताराम चौपाई' आदि कृतियां दोहा 'छन्द के प्रयोग की

१. धर्मवर्धन ग्रंथावली, संपा० अगरचन्द नाहटा पृ० २।

(क) प्यारे चित विचार ले, तु कहां से आया ।
बेटा बेटी कवन है, किसकी यह माया ॥१॥

तथा

(ख) भोर भयो उठ जागो मनुवा,
साहेब नाम संभारो ।

ज्ञानानन्द की उपर्युक्त पंक्तियों में—

आये 'प्यारे' और 'मनुवा' शब्द भाषा को भावप्रवण और नाटकीय रूप देने में समर्थ हैं। इसी प्रकार आनन्दघन जी के 'प्रीत की रीत नहीं हो, प्रीतम', 'क्या सौवै उठ जाग वाउरे', 'चेतन चतुर चोगान लरी री' आदि पद तथा किशनदास की 'आग लगे मेरे भाई मेह कहां पाइये', 'अहो मेरे मन मृग खोली देख ज्ञान दृग' 'अरे अभिमानी प्रानी जानी तें न ऐसी जानी। पानी के-सी नीक लौं जुवानी चली जात है ॥" आदि पंक्तियों में भाषा की वही शक्ति है। कवि धर्मवर्धन के इन सरल उपदेशों में—'भैया क्रोध करो मति कोई' तथा 'मूढ़ मन करत है ममता केती' में यही नाटकीय भाषा के दर्शन होते हैं। इस दृष्टि से कवि भद्रसेन रचित 'चन्दन 'मलयागिरि चोपई', श्रीसार रचित 'मोती कपासीया संबंध संवाद' तथा सुमतिकीर्ति रचित 'जिह्वादन्त विवाद' रचनाएं अधिक महत्वपूर्ण हैं। माधुर्य और नाद-सौन्दर्य की दृष्टि से जिनराजसूरि की भाषा का एक और उदाहरण द्रष्टव्य है—

"मारगि हे सखि मारगि सहियर साथि,
चालण हे सखि चालण पगला चलवलइ ।
भेटण हे सखि भेटण आदि जिणंद,
मो मनि हे सखि मो मनि निसदिन टलवलइ ॥

—शत्रुंजय तीर्थंकर स्तवन[1]

नादसौन्दर्य के साथ छन्द, तुक, गति, यति और लय का भी सुभग समन्वय इन कवियों की भाषा में देखा जाता है। कुछ कवियों ने अपनी शब्द साधना द्वारा कोमलानुभूति को सरसता, मधुरता और सुकुमारता के वातावरण में उपस्थित करने के लिए समस्त ह्रस्व वर्णों का प्रयोग किया है और अपनी भाषा कारीगरी का परिचय दिया है। कवि धर्मवर्द्धन की 'धर्म बावनी' कृति में एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"धरत धरम मग, हरत दुरित रग
करत सुकृत मति हरत मरमसी ।

---

१. जिनराजसूरि कृत कुसुमांजलि. संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ३८

गहत अमल गुन, दहत मदन वन
रहत नगन तन सहत गरम सी ।
कहत कथन सन व्रहत अमल मन
तहत करन गण महति परमसी ।
रमत अमित हित सुमति जुगत जति
चरन कमल नित नमत धरमसी ।।५।।"१

छन्द और संगीत विधान :

भाषा के स्वाभाविक लय-प्रवाह के लिए छन्द-विधान का भी अपना महत्व है। भाषा के लाक्षणिक प्रयोग के लिए लय और छन्द का प्रयोग प्राचीन काल से होता आया है। जैन गूर्जर कवियों ने अपनी कविता में वर्णिक और मात्रिक दोनों ही प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है, किन्तु मात्रिक छन्दों की प्रधानता है। इस युग के अधिकांश गूर्जर जैन कवियों ने तलपदीय पदबन्धों (देशियों) के साथ साथ दोहा, चौपाई, सोरठा, कवित्त, कुंडलियां, सवैया, छप्पय आदि छन्दों का विशेष प्रयोग किया है। इनमें संगीतमयता से आध्यात्मिक रस बरसा है। इन कवियों की छन्दयोजना वैविध्यपूर्ण तो है ही उसमें एक अनन्त संगीत की गूंज भी है जो विभिन्न प्रकार की ढालों, रागिनियों, देशियों आदि द्वारा हृदय के तार झंकृत कर देती है। इस प्रकार इन कवियों ने अपनी कोमल पद रचना में लय, छन्द व रागरागिनियों का सन्निवेश कर अनुभूति को अधिक आह्लादमय बनाने का प्रयास किया है।

छंदविधान :

दोहा : संस्कृत के 'श्लोक' और प्राकृत के 'गाथा' छन्द की भांति यह अपभ्रंश का मुख्य छन्द रहा है। डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने दोहा का मूल स्रोत आभीर जाति के 'विरहागानों' में बताया है। किन्तु दोहा का प्राचीनतम रूप 'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंक में मिलता है। बाद में योगीन्दु के 'परमात्मप्रकाश', 'योगसार' आदि रचनाओं में अपभ्रंश का प्रिय छन्द बन गया।

इस युग के जैन गूर्जर कवियों ने दोहे का प्रयोग भक्ति, उपदेश, अध्यात्म आदि विषयक कविता में किया है। भट्टारक शुभचन्द्र के 'तत्वसार दूहा' में दोहों का ही प्रयोग हुआ है। उदयराज के दोहे भी प्रसिद्ध हैं। जिनहर्ष की 'दोहा मातृका बावनी', लक्ष्मीवल्लभ की 'दोहाबावनी', उदयराज की 'वैद्य विरहिणि प्रबन्ध, 'श्रीमद् देवचन्द्र की 'द्रव्य प्रकाश', 'साधु समस्या द्वादश', 'दोधक', 'आत्महित शिक्षा', समयसुन्दर की 'सीताराम चौपाई' आदि कृतियां' दोहा 'छन्द के प्रयोग की

१. धर्मवर्धन ग्रंथावली, संपा० अगरचन्द नाहटा पृ० २।

दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। अनेक कृतियां ऐसी भी हैं, जिनके बीच बीच में 'दोहों' का प्रर्याप्त प्रयोग हुआ है। उदयराज की 'वैद्य विरहिणी प्रवन्ध' कृति से एक दोहा देखिए—

"को विरहिन जिय सोच में, धर अपनी जिय आस।
रिगत पान क्यों कर दनै, गयौ वैद पै पास ॥ १ ॥"

द्रव्य प्रकाश का प्रारम्भिक दोहा देखिए—

"अज अनादि अक्षय गुणी, नित्य चेतनावान्।
प्रणामु परमानन्दमय, शिव सरूप भगवान् ॥ १ ॥"

चौपाई :

अपभ्रंश की कड़वकवाली शैली जो महाकाव्यों में प्रयुक्त होती थी हिन्दी की दोहा-चौपाई शैली का मूल उद्‌गम है।[१] हिन्दी के महाकाव्य 'पद्‌मावत', 'रामचरित मानस' आदि इसी शैली में लिखे गये। जैन गूर्जर कवियों में विनयचन्द्र की 'उत्तम कुमार चरित्र चौपाई' कुशल लाभ का 'माधवानल चौपाई', वादिचन्द्र का 'श्रीपाल आख्यान', समयसुन्दर की 'सीताराम चौपाई' आनन्दवर्द्धनसूरि की 'पवनाभ्यास चौपाई' आदि प्रबन्ध काव्यों में चौपाई-दोहों का ही निदर्शन है।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के कथनानुसार चौपाई का जन्म कथानक को जोड़ने के लिए ही हुआ था।[२] किन्तु जैन गूर्जर कवियों ने मुक्तक काव्यों के लिए भी चौपाई छन्द को पसन्द किया है। जिनहर्ष की 'ऋषिदत्ता चौपइ', तथा 'सिद्धचक्र स्तवन', लक्ष्मीवल्लभ की 'उपदेश बत्तीसी', धर्मवर्द्धन की 'वैद्यक विद्या' आदि कृतियों में अधिकांश चौपाइयों का ही प्रयोग हुआ हैं। चौपाइयों के साथ अधिकांश कृतियों में प्रारम्भ, मध्य अथवा अन्त में कहीं कहीं दोहे भी हैं।

प्रायः प्रबन्ध काव्यों में एक चौपाई के उपरान्त एक दोहे का क्रम है, किन्तु मुक्तक रचनाओं में कभी एक दोहा और फिर अनेक चौपाइयों और कभी अनेक चौपाइयों और फिर अनेक दोहों का क्रम चला है। कवि वादिचन्द के श्रीपाल आख्यान में दोहे-चौपाई का प्रयोग अवलोकनीय है—

"आदि देव प्रणमि नमि. अन्त श्री महावीर।
वाग्वादिनी वदने नमि, गरूड गुण गम्भीर ॥

---

१. डॉ० रामसिंह तोमर का लेख, जैन साहित्य की हिन्दी साहित्य को देन, प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० ४६८

२. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ९४

सरसति सुममति णये अणुसरि, गौर हरूआ गोयम मनि धरि ।
बोलु एक हु सरस आख्यान, सुण जे सज्जन सहु सावधान ।।"१

जिनहर्ष की "ऋषिदत्ता चौपाई" की इस प्रकार है —

"उत्तम नमतां लहीये पार, गुण ग्रहतां लहीए निस्तार ।
जाइने दूर कर्मनीं कोड़, कहै जिनहर्ष नमूं कर जोर ।।३२।।"

धर्मवर्द्धन की 'वैधक विधा' एक चौपाई देखिए—

'हिरदै रोग स्वास अरू खास, डंम क्रिया तिहां पंच प्रकास ।
"हुदै लीक अरू वर्त्तुल च्यार, दंम अस्थि के मध्य विचार ।।१५।।"

कवित्त :

यह ब्रजभाषा का प्रिय छन्द रहा है। चारण बन्दीजनों की रचनाएं प्रायः इसी छन्द में हुई हैं। इस युग के जैन-गूर्जर कवियों ने इस छन्द का प्रयोग आध्यात्मिक एवं भक्ति के क्षेत्र में बड़ी सफलतापूर्वक किया है। किशनदास कृत 'उपदेश बावनी' मनहरण कवित्तों में की गई उत्तम रचना है। इसमें १६ वर्णों के पश्चात् यति और अन्त में एक गुरु है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"जीवन जरा-सा दुःख जनम जरासा तामें,
डर है खरा-सा काल शिर पे खरा-सा है ।
कोउ विरला-सा जो पै जीवै द्वै पचासा अन्त,
बन बीच बासा यह बात का खुलासा है ।
संध्या का-सा वान काखिर का-सा कान चल,
दल का-सा पान चपला का-सा उजासा है ।
ऐसा सा रहासा तामें किसन अनन्त आसा,
पानी में बतासा तैसा तनका तमासा है ।।३०।।"२

इस छन्द में लय और ताल का सुन्दर समावेश है। अर्थ साम्य के साथ मधुर ध्वनियों की योजना प्रायः इस छन्द में प्राप्त होती है। कवि जिनहर्ष का एक कवित्त इस प्रकार है—

"मेह कइ कारण मोर लवइ फुनि मोर की वेदन मेहन जाणइ ।
दीपक देखि पतंग जरइ अंगि सो वह दुख चित्त भइ नांणइ ।
मीन मरइं जल कंइज विछोहत मोह धरइ तनु प्रेम पिछाणइ ।
पीर दुखी की सुखी कहां जाणत, सयण सुणइ 'जसराज' वरवाणइ ।।"३

---

१. जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, पृ० ८०३, मंगलाचरण
२. गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रंथ, डॉ० अंबाशंकर नागर, उपदेशबावनी, पृ० १६६
३. जिनहर्ष ग्रंथावली, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ४०१

कवि धर्मवर्द्धन ने भी कवित्त छन्द का सफल प्रयोग किया है। इन्होंने अमरसिंह, जसवन्तसिंह, दुर्गादास आदि के यशोगान में सुन्दर कवित्तों की रचना की है।[१] जिनचन्द्रसूरि की गुरु भक्ति संबंधी कवित्त भी इन्होंने लिखे हैं।[२] जिनहर्ष ने अपनी कुछ लघु रचनाओं के साथ फुटकर कवित्त भी रचे हैं।

सवैया :

जैन-गूर्जर कवियों ने 'सवैया' के विविध प्रकारों का सफल प्रयोग किया है। व्रजभाषा का यह छन्द इन कवियों ने कवित्त की अपेक्षा अधिक पसंद किया है। कवि लक्ष्मी वल्लभ ने अपनी कृति 'नेमिराजुल बारहमासा' में ध्वनि विश्लेषण के नियमानुसार लय-तरंग का समावेश कितने अद्भुत ढंग से इस छन्द में किया है—

"उमटी विकट घरघोर घटा चिहुं ओरनि मोरनि सोर मचायो।
चमके दिवि दामिनि यामिनि कुंमय भामिनि कुं पिय को संग भायो।
लिव चातक पीउ हीं पीउ लई, भई राज हरी भुंइ देह छिपायो।
पतियां पै न पाई री प्रीतम की अली, श्रावण आयो पै नेम न आयो ॥"[३]

जिनहर्ष, धर्मवर्द्धन, समयसुन्दर, यशोविजय आदि कवियों ने इस छन्द का सर्वाधिक प्रयोग किया है। कवि जिनहर्ष की 'जसराज बावनी' से एक और उदाहरण देखिए—

"नग चिन्तामणि डारि के पत्थर जोउ, ग्रहें नर मूरख सोई।
सुन्दर पाट पटंबर अंबर छोरि के ओढण लेत है लोई ॥
कामदूधा घरतें जू विडार कें छेरि गहें मतिमन्द जि कोई।
धर्म्म कूं छोर अधर्म्म कों जसराज उणे निज बुद्धि विगोई ॥१॥"[४]

धर्मवर्द्धन ने 'सवैया' के विभिन्न प्रकारों में 'सवैया इकतीसा' और 'सवैया तेवीसा' में अच्छी रचनाएं की हैं।

छप्पय :

अपभ्रंश में छप्पय का प्रयोग प्रायः वीररसात्मक काव्य में हुआ है। इन कवियों ने इसका भक्ति और अध्यात्म के क्षेत्र में भी प्रयोग किया है। कवि धर्म-

१. धर्मवर्द्धन ग्रंथावली, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० १४५-४८
२. धर्मवर्द्धन ग्रंथावली, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० २४५
३. इस प्रबंध का तीसरा अध्याय
४. जिनहर्ष ग्रंथावली, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ८१

वर्द्धन की 'छप्पय बावनी' इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। कवि ने अन्य मुक्तक रचनाओं में भी इस छन्द का प्रयोग किया है। इनका एक छप्पय इस प्रकार है—

"जव ऊगे जग चक्खु तिमिर जिण वेला त्रासै।
प्रगट हसै जव पद्म, इला जव होइ उजासैं॥
चिड़ीयां जब चहचहै, वहै मारग जिण वेला।
धरम सील सहु धरै, मिलै जव चकवी मेला॥
घुम घुमै माट गोरस घणा, पूरण वंछित पाईये।
जिनदत्तसूरि जिनकुशल रा, गुण उण वेला गाईये॥१॥"[1]

जिनहर्ष ने भी अनेक छप्पय लिखे हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"लंक सरीखी पुरी विकट गढ़ जास दुरंगम।
पारवली खाई समुद्र जिहां पहुँचे नही विहंगम।
विद्याधर वलवन्त खंड त्रण केरो स्वामी।
सेव करे जसु देव नवग्रह पाये नामी।
दस कंध वीस भुजा लहे, पार पारखे सेना वहु।
जिनहर्ष राम रावण हण्यो, दिन पलट्यो पलट्या सहु॥१॥"[2]

यशोविजय जी ने भी अपनी कृति 'दिक्पट चौरासी बोल' में एक दो स्थानों पर छप्पय छन्दों का प्रयोग किया है।

कुण्डलिया :

धर्मवर्द्धन की 'कुण्डलिया बावनी' इस छन्द की दृष्टि से महत्व पूर्ण रचना है। इसमें कवि ने ५७ कुण्डलियां लिखीं हैं। एक कुण्डली देखिए—

"डाकै पर घर डारि डर, कूकरम करै कठोर।
मन में नांहि दया मया, चांहैं पर धन चोर
चांहैं पर धन चोर, जोर कुविसन ए जांणो।
मुसक बंधि मारिजै, घणी वेदन करि धांणो।
फल वीजां सम फलै, अंव लागै नाहीं आकै।
धरम किहां धरमीह, डारि डर पर घर डाकै॥३४॥"[3]

सोरठा :

लगभग सभी कवियों ने सोरठा छन्द का अधिकाधिक प्रयोग किया है। चौपाई के साथ, दोहों के स्थान पर तथा पृथक् रूप से भी सोरठा छन्द में कविता

---

१. धर्मवर्द्धन ग्रंथावली, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० १०५
२. जिनहर्ष ग्रंथावली, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ५१६
३. धर्मवर्द्धन ग्रंथावली, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० २७

की हैं। श्री यशोविजय जी रचित "दक्पट चौरासी बोल" से एक सोरठा उद्धृत है—

"दाइ घड़ी के फेर, केवल मानैं भरत कौं,
बड़ो मोह को घेर, भाव प्रभाव गनैं नहीं ॥"१

ज्ञानानन्द का एक सोरठा इस प्रकार है—

"प्यारे चित्त विचार ले, तु कहां से आया।
बेटा बेटी कवन हे, किसकी यह माया ॥१॥"२

हरिगीतिका :

लयात्मक छन्दों में इस छन्द का विशेष महत्व है। इसमें सोलह और बारह मात्राओं पर विराम होता है। ५वीं, १२वीं, १६वीं, और २६वीं मात्राएं लघु होती हैं। अन्तिम दो मात्राओं में उपान्त्य लघु और अन्त्य दीर्घ होता है। श्री यशोविजय जी की 'दिक्पट चौरासी बोल' कृति से एक हरिगीतिका इस प्रकार है—

"प्यारहुं निर्खये एक द्रव्यें, कहे श्री जिन आग में,
जिउं नाम घटत संठाण थापन, द्रव्य मृद गुन भाव में।
यो जीव द्रव्यह केवलादिक, गुनह द्रव्यत भावतें,
होइ नियम पुद्गल द्रव्य को, तो तन नहीं व्यभिचारतें॥"३

पद :

इस युग के जैन-गूर्जर कवियों की हिन्दी कविता में पदों का स्थान महत्वपूर्ण है। भक्ति और अध्यात्म के क्षेत्र में पदों का प्रयोग प्रचुर परिमाण में हुआ है। इन पदों द्वारा ही इन कवियों ने देश में आध्यात्मिक एवं साहित्यिक चेतना को जागृत करने का अपूर्व प्रयत्न किया। प्रस्तुत प्रबन्ध में ऐसे अनेक पद रचयिताओं का उल्लेख हुआ है। भट्टारक रत्नकीर्ति, आनन्दघन, कनककीर्ति, कुमुदचन्द, चन्द्रकीर्ति, शुभचन्द, जिनहर्ष, जिनराजसूरि, श्रीमद् देवचन्द, धर्मवर्द्धन, भट्टारक सकलभूषण, यशोविजयजी, विनयविजयजी, ज्ञानानन्द, वादीचन्द, विद्यासागर, समयसुन्दर, संयमसागर, हेमविजय, ज्ञान विमलसूरि आदि का पद-साहित्य उत्तम कोटि का है।

हिन्दी के भक्ति काव्य में पदों का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। वैसे पदों के प्रधान रचयिताओं में कबीर, मीरा, सूरदास, तुलसी आदि उत्तम कोटि के

---

१. गूर्जर साहित्य संग्रह, प्रथम भाग, पृ० ५७६
२. भजनसंग्रह-धर्मामृत, पं० बेचरदास, पृ० ८
३. गूर्जर साहित्य संग्रह, प्रथम भाग, पृ० ५७६

ववि माने गये हैं। महाकवि सूरदास के पदों को देखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनका सम्बन्ध किसी प्राचीन परम्परा से होने का अनुमान किया है।[१] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने उनका उद्‌गम बौद्ध सिद्धों के गानों को माना है।[२] पदों का मूलरूप कुछ भी हो किन्तु भक्ति और अध्यात्म के क्षेत्र में प्रायः अधिकांश जैन-गूर्जर कवियों ने पदों का खुलकर प्रयोग किया है। इन कवियों का यह पद साहित्य विभिन्न छन्दों से युक्त और राग-रागनियों में निबद्ध है। जैन कवियों ने संभवतः पद रचना बहुत पहले से आरम्भ कर दी थी। यही कारण है कि इनके पदों में भावाभिव्यक्ति के साथ-साथ संगीतात्मकता भी विविध रागनियों के साथ उतरी है।

संगीत विधान :

प्रायः सभी जैन-गूर्जर कवियों ने जनता को आकृष्ट करने के लिए गेय पद्धति अपनाई है। कुछ जनवादी कवियों ने दो विभिन्न मात्रा या ताल वृत्तों की कुछ पंक्तियां मिलाकर उन्हें गेय बनाने के लिए उनमें विविध रागों का सम्मिश्रण कर नये छन्दों की भी सृष्टि की है। ये देशी छन्द संगीत के क्षेत्र में भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ऐसे कवियों में मालदेव, समयसुन्दर, जिनहर्ष, धर्मवर्द्धन, ऋषभदास, श्रीमद् देवचन्द्र आदि प्रमुख हैं। इन्होंने प्रसिद्ध देशियों, ख्यालों; तर्जों आदि को अपनी रचनाओं में प्रमुख स्थान दिया।

संगीत में प्रमुख ६ राग और छत्तीस रागनियां मानी गई हैं। इन्हीं के भेदानुभेद, मिश्रभाव और प्रान्तीय भेदों आदि से सैकड़ों नई रागनियों का निर्माण हुआ है।

इन कवियों ने संगीत की प्रभावशालिता को पहचान कर ही इसका आश्रय ग्रहण किया और मुक्त रूप से गेय गीतों, पदों और काव्यों का निर्माण किया। महात्मा आनन्दघन तो राग-रागनियों के पंडित ही थे। इनके प्रमुख रूप हैं—बिलावल, दीपक, टोड़ी, सारंग, जयजयवन्ती, केदारा, आसावरी, वसंत, नट, सोरठ, मालकोस, मारू आदि। ये सब त्रिताल, एकताल, चौताल, और धमार आदि तालों में निबद्ध हैं। इन कवियों के पदों को निर्देशित तालों एवं रागों में गाया जाय तो इनका प्रभाव द्विगुणित हो उठता है। यह संगीत योजना ऊपर से आरोपित नहीं, शब्द योजना में ही स्वतः गुम्फित है। इस दृष्टि से आनन्दघन का पद प्रस्तुत है—

१. "अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीतकाव्य परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।" हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल (वि० सं० १९९७), पृ० २००।

२. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १०८।

सारंग–आसावरी

"अब हम अमर भए, न मरेंगे ।
या कारण मिथ्यात दियो तज, क्यूं कर देह धरेंगे ।
राग-दोस जगबंध करत हैं, इनको नास करेंगे ।
मर्‍यो अनंत काल तें प्राणी सो हम काल हरेंगे ।
देह विनासी हूँ अविनासी अपनी गति पकरेंगे ।
मर्‍यो अनंत बार विन समज्यो, अब सुख-दुःख विसरेंगे ।
आनंदघन निपट निकट अच्छर हो, नहिं समरे सो मरेंगे ।।"१

इसी प्रकार दिगम्बर कवियों में भट्टारक कुमुदचन्द्र का राग कल्याण में गाया एक पद और देखिए—

"चेतन चेतत किउं बावरे ।।
विपय विषे लपटाय रह्यो कहा,
दिन दिन छीजत जात आपरे ।।१।।
तन धन योवन चपल सपन को,
योग मिल्यो जेस्यो नदी नाउ रे ।।
काहे रे मूढ न समझत अज हूँ,
कुमुदचन्द्र प्रभु पद यश गाउं रे ।।२।।"२

इन विभिन्न राग-रागिनियों के साथ इन कवियों ने सिन्ध, मारवाड़, मेड़ता, मालव, गुजरात आदि स्थानों की प्रसिद्ध देशियां, रागिनियां, ख्याल आदि का समावेश कर अपने ग्रंथों को 'कोप' का रूप प्रदान किया है। इन कवियों द्वारा गृहीत एवं विनिर्मित देशियों की टेक पंक्तियों का परवर्ती कवियों ने खुलकर प्रयोग किया है। इस दृष्टि से जैन-गूर्जर कवियों ने लोक-साहित्य का बड़ा उपकार किया है। लोकगीतों की धुनों के आधार पर अनेक गीतों की रचना की है और साथ ही उनकी आधार भूत धुनों के गीतों की आद्यपंक्तियों का भी अपनी अपनी रचनाओं के साथ उल्लेख कर दिया है। धर्मवर्धन विरचित गीतों की कुछ धुनें इस प्रकार है।३

(१) मुरली वजावै जी आवो प्यारो कान्ह ।
(२) उड़ रे आंवा कोइल मोरी ।

---

१. गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रंथ, डॉ० अम्बाशंकर नागर, पृ० १४८ ।
२. हिन्दी-पद संग्रह, संपा० डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ० २० ।
३. धर्मवर्धन ग्रंथावली, संपा० अगरचन्द नाहटा ।

"जीवन जरासा दुख जनम जरा सा तापैं ।
डर है खरा-सा काल शिरपैं खरा-सा है ।।
कोऊ विरलासा जो पै जीवैं द्वै पचासा अंत ।
बन विच बासा यह बात का खुलासा है ।।
संध्या का-सा बान करिवरसा कान चल—
दल का-सा पान चपला का-सा उजासा है ।।
ऐसा सा तापैं किशन अनन्त आसा ।
पानी में बतासा तैसा तनका तमासा है ।।३०।।"१

उपर्युक्त पंक्तियों में अनुप्रास—विशेषतः वर्णानुप्रास एवं वृत्यानुप्रास की छटा दर्शनीय है। अनुप्रास के अतिरिक्त अन्य अलंकारों का (यथा—उपमा, उदाहरण आदि का) चमत्कार भी विशेष उल्लेख्य है।

अनुप्रास के अतिरिक्त यमक भी शब्दालंकार ही है। इस युग के जैन कवियों ने इस अलंकार का भी सार्थक प्रयोग किया है—

यमक :

(१) "सारंग देखि सिधारे सारंगु, सारंग नयनि निहारी।"—रत्नकीर्ति२

(२) "कर के मणि तजि कैं कछु ही अब, फेरहु रे मनका मनका।"
—धर्मवर्धन३

उक्त दोनों उदाहरणों में से प्रथम में 'सारंग' शब्द का जो तीन बार प्रयोग हुआ हैं वह तीनों बार ही पृथक् अर्थ को लेकर। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में अनुप्रासश्लिष्ट यमक चमत्कारक्षम है।

अर्थालंकार :

जैन कवियों की इन कविताओं में शब्दालंकारों के साथ अनेक अर्थालंकारों का भी प्रयोग हुआ है। इन अलंकारों से मात्र स्वरूप-बोध ही नहीं होता अपितु उपमेय के भाव भी उद्‌बुद्ध होते दिखाई देते हैं। इस दृष्टि से यहां कुछ अर्थालंकार प्रस्तुत हैं—

---

१. गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रंथ, डॉ० अम्बाशंकर नागर, पृ० १६६।

२. सं० कस्तूरचन्द कासलीवाल, हिन्दी-पद संग्रह, पृ० ३।

३. सं० अगरचन्द नाहटा, धर्म बावनी, धर्मवर्धन ग्रंथावली, पृ० १३।

उपमा "पूरण चन्द्र जिसौ मुख तेरो, दंत पंक्ति मचकुन्द कली हो।
मुन्दर नयन तारिका शोभित, मानु कमल दल मध्य अली हो॥"[१]
—समयसुन्दर

रूपक "प्यास न छीपइ दरस की, डूबि रही नेह-होजि॥"[२]—जयवंतसूरि

सांगरूपक "नायकान रासी यह वागुरिन भासी खासी,
लिए हांसी फांसी ताके पाश में न परना,
पारधी अनंग फिरे मोहन धनुष धरे,
पैन नयन बान खर तातें ताही डरना,
कुच हैं पहार हार नदी रोमराई तृन,
किसन अमृत ऐन बैन मुखि झरना,
अहो मेरे मन-मृग खोल देख ज्ञान दृग,
यह वन छोड़ि कहूँ और ठौर चरना।"[३]—किशनदास

उत्प्रेक्षा 'तनु शुध खोय घूमत मन एसें, मानु कुछ खाई भांग।'[४]
—आनन्दघन

मालोपमा 'जैसे तार हरनि के वृन्द सौं विराजैं चन्द,
जैसे गिरराज राजै नन्द वन राज सौ।
जैसें धर्मशील सौं विराजै गच्छराज तैसे,
राजै जिनचन्द्रसूरि संघ के समाज सौं॥"[५]—धर्मवर्धन

प्रौढोक्ति 'लिख्यौ जु ललाट लेख तामें कहा मीन मेख,
करम की रेख टारी हु न टरे है।"[६]—किशनदास

उदाहरण 'मान सीख मेरी व्हैगी ऐसी गति तेरी यह।
जैसी मूठी ढेरी रास की ममान में॥"[७]—किशनदास

---

१. समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि, पृ० २६।
२. स्थूलिभद्र मोहन वेलि।
३. अम्बाशंकर नागर, गुजरात के हिंदी गौरव ग्रंथ, पृ० १६७।
४. आनन्दघन पद संग्रह।
५. धर्मवर्धन ग्रंथावली, पृ० २३६।
६. डॉ० अम्बाशंकर नागर, गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रंथ, पृ० १६२।
७. वही, पृ० १८०।

काव्यलिंग 'चोप करी काह चूहे सांप को पिटारो काट्यो,
सो अनजाने पाने पन्नग के परे है।
किसन अनुद्यमहि चल्यो अही पेट भरी,
उद्यम ही करत तुरत चूहा मरे है;
देखो क्यों न करो काहु हुन्नर हजार नर,
ह्वै है कछु सोई जो विधाता नाथ करे है।"१—किशनदास

विरोधाभास 'चन्द उजारा जगि किया मेरइ मनिहुर अंधियार।'२—जयवंतसूरि

संदेह 'के देवी के किन्नरी, के विद्याधर काइ।'३—समयसुन्दर

उदात्त 'श्री नेमिसर गुण निलउ, त्रिभुवन तिलउ रे।
चरण विहार पवित्त, जय जय गिरनार गिरे॥'४—समयसुन्दर

स्वभावोक्ति 'पगि घूघरड़ी घमघमइरे, ठमकि ठमकि घरइ पाउ रे।
बांह पकरि माता कहइरे, गोदी खेलण आउरे॥
चिवुकारइ चिपटी हीयइरे, हुलरावइ उर लायरे।
बोलइ बोल जु मनमनारे, दतिया दोइ दिखाइरे॥"५

—जिनराजसूरि

उपर्युक्त उदाहरण आलोच्यकालीन कवियों की अप्रस्तुत-विधान-क्षमता का पूरा परिचय दे देते हैं। इन अर्थालंकारों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे आरोपित नहीं है, सहज-स्वाभाविक हैं। इन अलंकारों के माध्यम से जहां अर्थ में चमत्कारवृद्धि होती है वहां वे भारतीय जीवन के विश्वासों की सहज रूप से अभिव्यक्ति भी करते चलते हैं, यथा प्रौढ़ोक्ति व काव्यलिंग अलंकार। किशनदास के उक्त सांगरूपक में नारी पर वन का आरोप और मन पर मृग का आरोप कर विराग के उपदेश को बड़ी सफलता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार उदात्त अलंकार में गिरनार के प्रस्तुत वर्णन में 'नेमिसर' को अंगरूप से रखकर गिरनार का महत्व चमत्कारिक ढंग से उपस्थित किया गया है। स्वभावोक्ति तो स्वभावोक्ति है ही। उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त आलोच्य कवियों की कविताओं में अनेक व अनेक प्रकार के अलंकारों का प्रयोग प्राप्त होता है।

---

१. वही, पृ० १६२।
२. स्थूलिभद्र मोहन वेलि।
३. अगरचन्द नाहटा, सीताराम चौपाई।
४. समयसुन्दर कुसुमांजलि, पृ० ११०।
५. जिनराजसूरि कृत कुसुमांजलि, पृ० ३१।

प्रतीक-विधान

प्रतीक एक ऐसा विधान है जिसमें विचार अथवा अप्रस्तुत को पारम्परीय अर्थों में रूढ़ किसी रूप के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। वस्तुतः यह एक ऐसा प्रतिविधान है जो अमूर्त के लिए मूर्त अदृश्य के लिए दृश्य; अप्राप्य के लिए प्रस्तुत तथा अनिर्वचनीय के लिए वचनीय तत्वों को उपस्थित कर अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। इस प्रकार प्रत्येक प्रतीक सम्बन्ध, साहचर्य, परम्परा अथवा आकस्मिकता के कारण किसी अप्रस्तुत के लिए प्रस्तुत का विधान है। प्रतीक बाह्य प्रकृति से सम्बद्ध होने के कारण इन्द्रियगम्य अधिक होते हैं और अमूर्त भावनाओं की प्रतीति कराने में समर्थ होते हैं। इनसे भाषा में लाघव, अभिव्यक्ति में चमत्कार तथा विषय में व्यंग्यत्व बढ़ जाता है।

आलोच्य युगीन जैन गूर्जर कवियों ने अपनी कविता में उपमान रूप में प्रतीकों का विशेष प्रयोग किया है। प्रभाव साम्य को लेकर आये इन प्रतीकों में भावोद्बोधन या भावप्रवणता की शक्ति है। ये कवि अपनी मार्मिक अन्तर्दृष्टि द्वारा भावाभिव्यंजना के लिए पूर्ण सामर्थ्य से युक्त प्रतीकों का विधान कर सके हैं। भावोत्पादक और विचारोत्पादक जैसे भेद इन कवियों के प्रतीकों मे नहीं कर सकते। वैसे भी भाव और विचार में सीमारेखा खींचना मुश्किल है। अध्ययन की सुविधा के लिए इन्हें हम निम्न चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) दुःख, विकारादि के सूचक प्रतीक।
(२) आत्माभिव्यंजक प्रतीक।
(३) शरीर की विभिन्न दशाओं में अभिव्यंजक प्रतीक।
(४) आत्मिक सुख एवं गुणों के अभिव्यंजक प्रतीक।

प्रथम विभाग में भुजंग, विष, तम, संध्या, रजनी पंच, लहर, हस्ति, वन, मृग, मृगतृष्णा, मच्छ, दरिया आदि प्रमुख रूप से आते हैं।

भुजंग :

भुजंगम१, विषनाग२ भुयंगनि३ आदि शब्द प्रयोग द्वारा इन कवियों ने राग द्वेषादि की सूक्ष्म भावना की अभिव्यक्ति की है। अतः यह प्रतीक मन के विकारों को प्रकट करने के लिए आया है। ये विकार आत्मा की परतन्त्रता के कारण है

१. भजन संग्रह धर्मामृत, पं० बेचरदासजी यशोविजयजी के पद, पृ० ५६।
२. आनंदघन पद संग्रह, पद नं० ४१।
३. वही, पद, ३१।

अत: सर्प के समान भयंकर एवं कष्टदायी है। इस प्रतीक द्वारा इन विकारों की भयंकरता अभिव्यक्त करना ही साध्य है। जिनहर्ष की कविता में भी यह प्रतीक इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

विष :

यह विषयोद्भूत काल का प्रतीक है। 'विष' मृत्यु का कारण है, पर विषय तो मृत्यु से भी भयंकर है। यह जन्म-जन्मान्तरों की मृत्यु का कारण है। अत: इसकी भयंकरता इस प्रतीक द्वारा अच्छे ढंग से व्यक्त हुई है। महात्मा आनन्दघन, यशोविजयजी किशनदास, समयसुन्दर धर्मवर्धन आदि कवियों ने 'विष' प्रतीक का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। कवि कुमुदचन्द्र की कविता में भी यह प्रतीक इसी अर्थ में आया है। निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"चेतन चेतत किउं वायरे ॥
विषय विषे लपटाय रह्यो कहा,
दिन दिन छीजत जात आपरे ॥१॥
तन धन योवन चपल सपन को,
योग मिल्यो जेस्यो नदी नाउ रे ॥
काहे रे मूढ़ न समझत अज हूं,
कुमुदचन्द्र प्रभु पद यश गाउं रे ॥१॥"[१]

उक्त पद में प्रतीक अपना रूपकत्व लिए हुए है।

तम :

यह मोह तथा अज्ञान का प्रतीक है। अज्ञान तथा मोह के कारण मानव अन्तर्दृष्टि खो बैठता है। इसके प्रभाव से विवेक नष्ट हो जाता है। जिनहर्ष, समयसुन्दर, धर्मवर्धन, ज्ञानानंद आदि ने इस प्रतीक द्वारा आत्मा की मोह-दशा, मिथ्यात्व और अज्ञान की अभिव्यक्ति की है।[२]

'संध्या'[३] तथा अन्य समानार्थी प्रतीक—यह पल-पल परिवर्तनशील मनोदशा तथा जीवन की क्षणभंगुरता का प्रतीक है। कवि किशनदास ने जीवन की अभिव्यक्ति के लिए उसे "संध्या का-सा वान", 'करिवर का-सा कान चल', 'चपला का-सा-उजासा', 'पानी में बतासा' आदि प्रतीक-प्रयोग किए हैं।

---

१. हिन्दी पद संग्रह, संपा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ० २०।
२. धर्मवर्धन ग्रंथावली, पृ० ८६ तथा
भजनसंग्रह–ज्ञानानंद के पद, पृ० १७।
३. धर्मवर्धन ग्रंथावली, पृ० ६० तथा किशनदास की उपदेश बावनी।

'रजनी'१ — यह राग द्वेषादि से उत्पन्न आन्तरिक वेदना का प्रतीक है। इन कवियों ने 'रजनी' का प्रयोग इसी आन्तरिक वेदना और निराशा जनित भावों की अभिव्यक्ति के लिए किया है। ज्ञानानंद, किशनदास, यशोविजय, जिनहर्ष आदि ने भी रजनी प्रतीक का प्रयोग किया है।

"पंच"२—पंचेंद्रियां और उनके द्वरा विषयसेवन के लिए संख्यामूलक प्रतीक रूप में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। ज्ञानानन्द, यशोविजय, धर्मवर्द्धन आदि कवियों ने विषयाशक्ति और इन्द्रियों के स्वैराचार की अभिव्यक्ति इस प्रतीक द्वारा की है।

इस प्रकार के दुःख विकारादिक के सूचक प्रतीकों में ज्ञानानन्द की कविता में मोह, माया, प्रपंच तथा पाखंड के 'नटवाजी', 'तसकर' चोर, नींद आदि प्रतीकों के द्वारा व्यक्त किया गया है। जीवन की क्षणभंगुरता के लिए विनयविजय जी ने बादल की छाह, आनंदघन जी ने 'छांह गगन वदरीरी' तथा किशनदास ने काया की मात्रा के लिए 'बादल की छाया' कहा है। इसी तरह आनंदघन और यशोविजय जी ने काम-क्रोधादि विकारों को 'अरि', संसार सुख को मृगतृष्णा विषय वासनारत जीव को 'काग', संसारी जीवन को'अबला', हठीले मन को 'घोड़ा'३, जोवन झलक को 'चपला की-सी चमक'४ तथा विषयसुख को 'धनुष जैसो घन को'५ कहा है।

'हस्ति'६ प्रतीक अहंकार और अज्ञान के भाव को व्यक्त करता है। अज्ञानी और अहंकारी व्यक्ति की क्रियाएं मदोन्मत्त हाथी की तरह ही होती हैं। कवि धर्मवर्द्धन ने अपने प्रतीकों को स्वयं स्पष्ट करते लिखा है—

"मन मृग तुं तन वन में मातो।
केलि करे चरै इच्छा चारी, जाणें नहीं दिन जातो ॥१॥
मायारूप महा मृगत्रिसनां, जिणमें धावे तातो।
आखर पूरी होत न इच्छा, तो भी नही पछतातो ॥२॥"६

१. हिन्दी पद संग्रह, संपा० डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ० १९ कुमुदचंद के पद।
२. भजन संग्रह धर्मामृत, ज्ञानानन्द के पद, पृ० ६।
३. "घोरा झूठा है रे तू मत भूले असवारा।" विनयविलास, विनयविजय।
४. उपदेश बावनी, किशनदास।
५. (अ) हस्ति महामद मस्त मनोहर, भार वहाई के ताहि विगोवे ॥८॥
जिनहर्ष, जसराज बावनी।
(आ) जोवन तरुणी तनु रेवा तट, मन मातंग रमा चउ ॥
जिनराजसूरि कृत कुसुमांजलि, पृ० ६२-६३
६. धर्मवर्द्धन ग्रंथावली, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ६०।

आनन्दवर्द्धन के 'भक्तामर सवैया' से संसार की भयंकरता के लिए प्रयुक्त प्रतीक देखिए--

> 'सै अकुले कुछ मच्छ जहां गरजै दरिया अति भीम भयो है,
> औ वडवानल जा जुलमान जलै जल में जल पान कर्यो है।"
> लोल उत्तरांक लोलनि कै पर वारि जिहाज उच्छरि दियो है,
> ऐसे तुफान मैं तौहि जपै तजि मैं सुख सौ शिवधाम लयो है ।।४०।।१

यहां तूफानी समुद्र, संसार का प्रतीक है, मच्छ संसारी जीवों का प्रतीक है, वाडवानल संसार के दुःखादि का प्रतीक, उत्ताल तरंगे कष्टों व विघ्नों की प्रतीक, जहाज मानव देह का प्रतीक तथा प्रभु का नाम सुख और शक्ति का प्रतीक है। कवि ने संसार रूपी महासागर की विकरालता-भयंकरता का स्पष्ट चित्र दे दिया है।

आत्माभिव्यंजक प्रतीकों में हंस, चेतन, नायक, शिवदासी, भीत, पंखी, मछली, जौहरी, बूंद, भ्रमर, तबीब, आदि प्रतीक प्रधान है। इन कवियों ने इन प्रतीकों द्वारा आत्मा के विभिन्न रूपों की अभिव्यक्ति की है। हंस और पंखी उस आत्मा के प्रतीक है जो प्रथम संसार की रमणीयता से आकर्षित होते हैं पर समय पाकर उससे विरक्त हो साधना-मार्ग द्वारा निर्वाण को प्राप्त होते हैं। किशनदास, जिनहर्ष, यशोविजयजी, धर्मवर्द्धन, ब्रह्म अजित आदि कवियों ने आत्मा की इसी अवस्था की अभिव्यक्ति हंस२ तथा पक्षी३ प्रतीक द्वारा की है। चेतन, नायक, शिववासी आदि प्रतीक द्वारा शक्तिशाली आत्मा का विश्लेषण किया गया है। अपनी वास्तविकता का ज्ञान होते ही ऐसी आत्मा रागद्वेषादि से मुक्त हो अपने शुद्ध स्वरूप में प्रकाशित हो जाती हैं। ज्ञानानन्द, आनंदघन, यशोविजयजी आदि ने इस प्रतीक का खुलकर प्रयोग किया है। कुमुदचंद्र ने भी "चेतन" प्रतीक के प्रयोग द्वारा आत्मा को चेताया है।४ ज्ञानानन्द ने प्रबुद्ध आत्मा के लिए "जवहेरी" "शिववासी" पंखी", 'बुन्द' आदि प्रतीकों का प्रयोग किया है।५ विनय विजय ने आत्मा और परमात्मा के संबंध को अभिव्यक्त करने के लिए "जल-मीन सम्बन्ध" तथा "जल-बूंद का न्याय"

---

१. भक्तामर सवैया, आनन्दवर्द्धन, प्रस्तुत प्रबन्ध का तीसरा अध्याय।

२. हसा तू करि संयम, जन न पड़ि संसार रे हंसा।—हंसागीत, ब्रह्म अजित।

३. वह पंखी को जो कोई जाने, सो ज्ञानानन्द निधि पावे रे। भजनसंग्रह, धर्मामृत; पृ० १६।

४. चेतन चेतत किउं बावरे। हिन्दी पद संग्रह, डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल।

५. भजन संग्रह, धर्मामृत, पं० बेचरदास, ज्ञानानंद के पद, नं० १६, २४, २७।

कहा है।१ महात्मा आनंदघन जी ने भी "जवहरी" और "तबीब" प्रतीकों द्वारा आत्मा की इसी भाव दशा को प्रगट किया है।२ "भ्रमर" प्रतीक प्रभु गुण पर विलुब्ध आत्मा का प्रतीक है। समयसुन्दर, जिनराजसूरि, जिनहर्ष, यशोविजय आदि कवियों ने इस रस-लुब्ध दशा की अभिव्यक्ति इस प्रतीक द्वारा की है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"भमर अनुभव भयो, प्रभु गुण वास लह्यो।"३

मीत, मीता आदि प्रतीक ब्रह्म के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। धर्मवर्द्धन और ज्ञानानन्द की कविता में ऐसे प्रयोग अधिक हैं। ज्ञानानंद की कविता से एक उदाहरण अवलोकनीय है—

"साधो नहिं मलिया हम मीता।
मीता खातर घर घर भटकी, पायो नहिं परतीता।
जहां जाउं ताहां अपनी अपनी, मत पख भांखे रीता॥१॥"४

"विणजारा" प्रतीक राग-द्वेष मोहादि से पूर्ण संसारी आत्मा के लिए प्रयुक्त है। ज्ञानानंद ने भी इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है—

"विनजरा खेप भरी भारी॥
चार देसावर खेम करी तम, लाभ लह्यो वहु भारी।
फिरतां फिरतां भयो तु नायक, लाखी नाम संभारी॥१॥"५

शरीर की विभिन्न दशाओं के अभिव्यंजक प्रतीकों में नगरी, मन्दिर, दुःख-महल, मठ, माटी, काच रन मैदान, नाव, पिंजरा आदि प्रमुख हैं। महात्मा आनंदघन ने शरीर की क्षणभंगुरता बताते हुए "मठ" प्रतीक का समुचित प्रयोग किया है—

"मठ में पंच भूत का वासा, सासा धूत खवीसा,
धिन धिन तोही छलनकुं चाहे, समझे न बौरा मीसा॥"६

यहां "मठ" शरीर का प्रतीक है। इस मिट्टी के घर में सनातन सुख खोजना पानी में मछली के पदचिह्न खोजने के बराबर है। पांच तत्वों को 'पंचभूत'

---

१. वही, विनय विजय के पद नं० ३१, ३२।
२. आनन्दघन पद संग्रह, पद संख्या, १६, ४८।
३. गूर्जर साहित्य संग्रह, प्रथम भाग, यशोविजयजी, पृ० १२४।
४. भजन संग्रह धर्मामृत, पं० बेचरदास, ज्ञानानंद के पद, पृ० १३।
५. भजन संग्रह, धर्मामृत, प० बेचरदास, पृ० १०।
६. आनंदघन पद संग्रह, संपा० बुद्धिसागरसूरि, पद ७

और श्वासोच्छ्वास को बड़ा भूत, 'धूत खवीस' कहकर इन प्रतीकों द्वारा शरीर के प्रति वितृष्णा जगाई है। आत्मा की अनुभवहीनता तथा अज्ञानता एवं भोली दशा को 'बौरा सीसा' प्रतीक द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। किशनदास ने शरीर की नश्वरता के लिए 'माटि के गढ़ाव', 'रेत की गढ़ी' तथा 'प्रेत की मढ़ी' प्रतीकों का प्रयोग किया है।१ यशोविजय जी ने इस शरीर के लिए 'रण मेदान' प्रतीक का प्रयोग कि है। काम, क्रोध, लोभ, मोहादि शत्रुओं से इसी 'रण मैदान' में लोहा लेना पड़ता है--

"रन मैंदान लरे नहीं अरसिं, सुर लरे ज्युं पालो ॥"२

जिनहर्ष के इसे 'काच का भाजन" कहा है।३ ज्ञानानंद जी ने शरीर की इस दशा के लिए 'दश दरवाजे', 'नगरी', 'मन्दिर', 'महल' आदि प्रतीकों का सहारा लिया है।४ आनंदघन जी ने 'दुःख महेल', 'नाव' आदि प्रतीकों का भी प्रयोग किया है। शरीर के प्रति मोह दशा के लिए 'धुंघट' प्रतीक का भी अच्छा प्रयोग हुआ है।

जिनहर्ष ने 'पिंजरा' प्रतीक द्वारा भौतिक शरीर और आत्मतत्व की अभिव्यंजना की है--

"दस दुवार को पींजरो, तामैं पंछी पौन।
रहण अचूंबो है जसा, जाण अचूंबो कौन ॥४॥"५

अधिकांश जैन-गूर्जर कवियों ने इस प्रकार के प्रतीकों का सहारा लेकर शरीर की विभिन्न दशाओं की अभिव्यंजना की है। अन्त में सुख एवं गुणों के अभिव्यंजक प्रतीकों में मधु, फूल, मोती, अमृत, प्रभात-भोर, उषा, दीप, प्रकाश, आदि प्रमुख है।

'मधु' प्रतीक द्वारा ऐन्द्रिय सुख की अभिव्यक्ति हुई है। ऐन्द्रिय सुख इतना आकर्षक है कि मानव मन उसके प्रति सहज ही विरक्त नहीं दिखा सकता। समयसुन्दर, जिनहर्ष किशनदास आदि कवियों ने सुखेच्छा की भावानुभूति के लिए इस प्रतीक का प्रयोग किया है।

---

१. गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रंथ, डॉ० अम्बाशंकर नागर, उपदेश बावनी, पृ० १६६-६७।
२. गूर्जर साहित्य संग्रह, प्रथम भाग; यशोविजयजी, पृ० १६०।
३. जिनहर्ष ग्रंथावली, संपा० अगरचन्द नाहटा,
४. जिनहर्ष ग्रंथावली, संपा० अगरचंद नाहटा, पृ० ४१६।
५. गूर्जर साहित्य संग्रह, प्रथम भाग, यशोविजयजी, पृ० ७६।

'मोती, 'प्रभात', 'उपा' आदि प्रतीकों द्वारा शाश्वत सौन्दर्य की अभिव्यक्ति इन कवियों ने की है। आनंदघन, विनयविजय, जिनहर्ष, समयसुन्दर आदि ने इन प्रतीकों का इसी अर्थ में प्रयोग किया है।

'अमृत' आत्मानंद की अभिव्यक्ति का प्रतीक है। यशोविजय जी की कविता से एक उदाहरण दृष्टव्य है—

"जस प्रभु नेमि मिले दुःख डार्यो, राजुल शिव सुख अमृत पियो।"१

आनन्दघन जी ने 'वर्षा बुंद' तथा 'समुन्द' के द्वारा आत्मा और ब्रह्म की अभिव्यक्ति की है तथा आत्मा भी ब्रह्म में लय होने की दशा का सुन्दर निरूपण किया है।

"वर्षा बुंद समुन्द समानी, खबर न पावे कोई,
आनन्दघन ह्वै ज्योति समावे, अलख कहावे सोई॥"

इसी प्रकार 'दीपक' प्रकाशरूप ब्रह्म व 'चेतन रतन' जाग्रत आत्मा के लिए प्रयुक्त प्रतीक हैं—

'तत्व गुफा में दीपक जोउ, चेतन रतन जगाउ रे, वहाला॥"

आत्मज्ञान के लिए 'ज्ञान कुसुम' प्रतीक का प्रयोग देखिए—

"ज्ञानकुसुम की सेजन पाइ, रहे अधाय अधाय।"२

संक्षेपतः, इन कवियों ने सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति एवं मार्मिक पक्षों का उद्घाटन करने के लिए प्रतीकों का आयोजन किया है।

निष्कर्ष :

१ आलोच्य युगीन जैन-गूर्जर कवियों की वाणी साधारण जनसमाज के लिए रची जाने के कारण सरल तथा लोकाभिमुख रही है। उसमें प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का सहज सम्मिश्रण होगया है। इन कवियों का एक मात्र उद्देश्य भाषा को बोधगम्य एवं लोकभोग्य बनाना रहा है, अतः काव्य शास्त्रोचित नियमों के निर्वाह की विशेष परवाह नहीं की गई है। फिर भी भाषा के विकासोन्मुख रूप की दृष्टि से इन कवियों की भाषा का बड़ा महत्व है।

२ आनन्दघन, यशोविजय, जिनहर्ष, रत्नकीर्ति, कुमुदचंद्र आदि कवियों का भाषा की दृष्टि से बड़ा महत्व है। ऐसे कवियों का भाषा के रूप को सजाने और परिष्कृत करने में विशेष हाथ है। इनकी भाषा में सरल, कोमल, मधुर तथा सुबोध

१. वही, पृ० ८५।

२. भजन संग्रह, धर्मामृत पं० बेचरदास विनयविजय के पद [illegible]।

शब्द प्रयोग स्वाभाविक रूप में हुए हैं। इनकी शब्द योजना, वाक्यों की बनावट तथा भाषा की लक्षणिकता या ध्वन्यात्मकता भी उल्लेखनीय है।

३ अधिकांश कवियों ने भाषा को संगीतात्मकता और अधिक मनोरम तथा प्रभावोत्पादक बनाने का प्रयास किया है। इन कवियों में संगीत मात्र मुखरित ही नहीं हुआ, स्वर, ताल के साथ स्वयं मूर्तिमंत हुआ है। ऐसे स्थलों में भाषा की कोमलकान्तता और प्रवहमानता देखते ही बनती है।

४ इनकी वैविध्यपूर्ण छन्द योजना में भी संगीत की गूंज है, जो विभिन्न प्रकार की तालों, रागिनियों, देशियों आदि के द्वारा हृदय के तार झंकृत कर देती है। यद्यपि इन कवियों की कविता में वर्णित और मात्रिक दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है तथापि मात्रिक छन्दों की प्रधानता है। दोहा, चौपाई, सोरठा, कवित्त, कुंडलियां, सवैया, छप्पय, पद आदि छन्द इनके प्रिय तथा अधिकाधिक प्रयुक्त छन्द रहे हैं।

५ जैन-गूर्जर कवियों ने अलंकारों का भी प्रयोग किया है, पर उनको प्रमुखता नहीं दी है। कविता में अलंकार स्वभावतः ही आये हैं। शब्दालंकारों में अनुप्रास और यमक तथा अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक उदाहरणालंकार, उदात्त विरोधाभास आदि का सुन्दर एवं स्वाभाविक नियोजन इन की कविताओं में हुआ है।

६ जैन-गूर्जर कवियों ने प्रस्तुत के प्रति तीव्र भावानुभूति जगाने के लिए अप्रस्तुत की योजना की है। इसमें स्वाभाविकता, मर्मस्पर्शिता एवं भावोद्रेक की सक्षमता है। अपनी भौतिक आंखों से देखे पदार्थों का अनुभव कर, इन्होंने कल्पना द्वारा एक नया रूप उपस्थित किया है, जो बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् का समन्वय स्थापित करता है। यही कारण है कि इनकी आत्माभिव्यंजना उत्कृष्ट बन पड़ी है। इन भावुक कवियों को तीव्र रसानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का सहारा लेना पड़ा है।

समग्रतः इन कवियों की भाषा में स्पष्टता, सरलता और यथार्थता है तथा शैली में विरक्त साधुओं-सी निर्भीकता है। इनमें न पांडित्य-प्रदर्शन है और न अलंकारों की भरमार। शब्दाडम्बरों से ये कवि दूर ही रहे हैं।

प्रकरण : ६

आलोच्य युग के जन गूर्जर कवियों की कविता में प्रयुक्त विविध काव्यरूप

(१) (विषय तथा छन्द की दृष्टि से) रास, चौपाई अथवा चतुष्पदी, वेलि, चौढा-लिया, गजल, छन्द, नीसाणी, कुण्डलियां, छप्पय, दोहा, सवैया, पिंगल आदि।

(२) (राग और नृत्य की दृष्टि से) विवाहलो, मंगल, प्रभाती, रागमाला, वधावा, गहूँली आदि।

(३) (धर्म-उपदेश आदि की दृष्टि से) पूजा, सलोक, कलश, वंदना, स्तुति, स्तवन, स्तोत्र, गीत, सज्झाय, विनती, पद आदि।

(४) (संख्या की दृष्टि से) अष्टक, बीसी, चौवीसी, बत्तीसी, छत्तीसी, बावनी, बहोत्तरी, शतक।

(५) (पर्व, ऋतु, मास आदि की दृष्टि से) फाग, धमाल, होरी, बारहमासा, चौमासा आदि।

(६) (कथा-प्रबन्ध की दृष्टि से) प्रबन्ध, चरित्र, संवाद, आख्यान, कथा, वार्ता आदि।

(७) (विविध विषयों की दृष्टि से) प्रवहण-वाहण, दीपिका, चन्द्राउला, चूनड़ी, सूखड़ी, आंतरा, दुवावैत, नाममाला, दोधक, जकड़ी, हियाली, ध्रुपद, कुलक आदि।

—o—o—

प्रकरण : ६

आलोच्य युग के जैन गूर्जर कवियों की कविता में प्रयुक्त काव्य-रूप

प्रत्येक कवि को उत्तराधिकार में अनेक परम्पराएँ प्राप्त होती हैं। ये परम्पराएँ ही प्रयोग सातत्य से किसी काव्य-रूप विशेष को रूढ़ करती जाती हैं। रूप अपनी आदिम अवस्था में किसी कवि के द्वारा किसी उद्देश्य को लेकर, जो संख्या व विषय को लेकर भी हो सकता है, छन्दोबद्ध विधान होता है। इस प्रकार के विधान के अन्तर्गत संख्या को लेकर जहां बावनी, शतक व सतसैयों आदि का परिगणन किया जा सकता है वहां राग, नृत्य, धर्म, उपदेश, पर्व, ऋतु, मास, प्रबन्धादि की दृष्टि से अनेक काव्य-रूप प्रकल्पित किए जा सकते हैं। काव्य-रूपों के इस वैविध्य को ध्यान में रखकर अध्ययन की सुविधा के लिए हम आलोच्य युगीन कवियों की कविता में प्रयुक्त काव्य-रूपों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से कर सकते हैं—

(१) विषय तथा छन्द की दृष्टि से–रास, चौपाई, वेलि, ढाल, चौढालिया, गजल, छन्द, नीसाणी, कुण्डलियां, छप्पय, दोहा, सवैया, पिंगल।

(२) राग और नृत्य की दृष्टि से–विवाहलो, मंगल, प्रभाती, रागमाला।

(३) धर्म उपदेश आदि की दृष्टि से–पूजा, सलोक, वंदना, स्तुति, स्तोत्र, गीत, सज्झाय, विनती, पद, नाममाला।

(४) संख्या की दृष्टि से–अष्टक, बीसी, चौबीसी, बत्तीसी, छत्तीसी, बावनी, बहोत्तरी, शतक।

(५) पर्व, ऋतु, मास आदि की दृष्टि से–फाग, धमाल, होरी, बारहमासा।

(६) कथा-प्रबन्ध की दृष्टि से–प्रबन्ध, चरित्र, संवाद, आख्यान, कथा।

(७) विविध विषयों की दृष्टि से–प्रवहण, वाहण, प्रदीपिका, चन्द्राउला, चूनड़ी, मूलड़ी, दुवावैत।

(१) विषय तथा छन्द की दृष्टि से प्रयुक्त काव्य-प्रकार

रास : रास ग्रंथों की रचना अपभ्रंश काल से ही होती रही है। अपभ्रंश की रास परम्परा का विशेषतः जैन कवियों ने देशी भाषाओं में भी निर्वाह कर उन

सजीव रखा है। हिन्दी एवं गुजराती भाषाओं में रास-साहित्य की विपुल सर्जना हुई है। (इन रचनाओं में राजस्थानी और जूनी गुजराती' की रचनाएँ भी सम्मिलित है) जैन-गूर्जर कवियों ने रास-साहित्य की महती सेवा की है। अब तक प्रकाशित समस्त रास-साहित्य की विस्तृत सूची श्री के० का० शास्त्री ने दी है।१ इसमें हिन्दी के रास-साहित्य का भी उल्लेख है।

संस्कृत, हिन्दी तथा गुजराती के विद्वानों ने 'रास' नाम के सम्बन्ध में अनेक व्युत्पत्तियां दी हैं, यहां उन सब का उल्लेख पिष्टपेषण ही होगा। अब्दुल रहमान रचित 'संदेश रासक' में रास की जगह 'रासय' या रासउ' प्रयोग मिलता है, यह 'रासय' शब्द संस्कृत के 'रासक' शब्द का अपभ्रंश है। 'रासक' एक अति प्राचीन भारतीय नृत्य रहा है, जिसका सम्बन्ध कृष्ण-लीला से रहा है।२ जैन साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान श्री अगरचन्द नाहटा ने 'लकुटा रास' (डंडियों के साथ नृत्य) और तालारास (तालियों के साथ ताल देकर) नामक दो प्रकार के रासों का उल्लेख किया है।३ डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचार से 'रासक' एक प्रकार का खेल या मनोरंजन है।४ प्रो० विजयराय वैद्य ने रासौ या रास को प्रासयुक्त दोहा चौपाई छन्दों तथा विविध रागों में रचे हुए धर्म-विषयक कथात्मक या चरित्रप्रधान लम्बा काव्य बताया है।५ श्री हरिवल्लभ भायाणी ने 'संदेश रासक' की भूमिका में 'रासक' की विशेष चर्चा की है। उन्होंने इसे अनेक छन्दों से युक्त एक छन्द विशेष कहा है।६

श्री अगरचन्द नाहटा ने इस पर विशेष प्रकाश डाला है—

(क) 'रास' शब्द प्रधानतया कथा-काव्यों के लिए रूढ़-सा हो गया, और रस प्रधान रचना रास मानी जाने लगी है।

(ख) रास एक छन्द विशेष भी है।

(ग) राजस्थान में जो परवर्ती रासो मिलते है, वे युद्धवर्णनात्मक काव्य के भी सूचक है। इसी कारण राजस्थानी में 'रासो' शब्द का प्रयोग लड़ाई झगड़े या

---

१. गुजराती साहित्यनुं रेखा दर्शन, पृ० ३२।
२. हिन्दी साहित्य कोष, पृ० ६५६।
३. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५८, अंक ४; प्राचीन भाषा काव्यों की विविध संज्ञायें, श्री अगरचन्द नाहटा, पृ० ४२०।
४. हिन्दी साहित्य का आदि काल, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १००।
५. गुजराती साहित्य की रूपरेखा, प्रो० विजयराय वैद्य, पृ० २०।
६. संदेश रासक, प्रस्तावना, डॉ० भायाणी।

गड़बड़ घोटाले के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा है. परन्तु प्राचीन रचनाओं में तो 'रासो' के स्थान पर 'रास' शब्द का ही प्रयोग मिलता है ।१

उक्त समस्त विवेचन को दृष्टि से आलोच्य युगीन जैन-गूर्जर कवियों द्वारा प्रणीत राम-साहित्य को देखने पर यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि इनकी रचनाओं में धीरे-धीरे दर्प या वीरत्व भी समाविष्ट होता गया और इस प्रकार एक ओर ये वीरत्व प्रधान काव्य बनते गये और दूसरी ओर कोमल भावनाओं के प्रेरक-रूप में भी चलते रहे । यह दूसरी धारा 'फागु' के रूप में सुरक्षित मिलती है । इस प्रकार इन कवियों की रचनाओं में छन्द, अभिनय, संगीत, नृत्य, धर्म, उपदेश, भाव आदि तत्वों का समन्वय सहज ही देखने को मिलता है । इन्होंने विविध विषयों को संजोया है । कभी किसी रास में विषय विशेष की प्रधानता के कारथ हम उसे उस विषय से संबद्ध रास कह देते हैं । इन विषयों में मुख्य रूप से, उपदेश, चरित, प्रव्रज्या या दीक्षा, वैभव वीरता, उत्सव, कथा, तीर्थयात्रा, संघवर्णन, ऐतिहासिक वर्णन आदि का परिगणन हुआ है ।

वस्तुत: किसी चरित्र अथवा विषय को आधार बनाकर उपदेश तथा धर्म प्रचार की भावना इनमें विशेषत: परिलक्षित है । वीतरागी राजपुरुष तथा मुनियों के दीक्षा ग्रहण के अवसर पर रास खेले भी जाते रहे हैं । संगीत एवं अभिनय के तत्व सर्वसाधारण की प्रकृति प्रदत्त अनुभूति को जगाकर रसानन्द को साकार करते थे ।

रास रचना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए श्री मोहनलाल देसाई ने अपने ग्रंथ 'गुजराती साहित्य नो इतिहास' में बताया है 'चरित्रों के गुणों का वर्णन करने, उनके दोषों को हटाने, यात्रावर्णन करने, संघ निर्माण करने, मन्दिरों का जीर्णोद्धार करने, दीक्षा उत्सव हेतु जय घोषणार्थ आदि के लिए ही इन रास ग्रंथों की रचना की जाती थी । इसके अतिरिक्त वे भौगोलिक, सामाजिक, राजनीतिक और चरितमूलक भी होते थे । जैन रासो-साहित्य जितना चरित्रमूलक होता था, उतना ही ऐतिहासिक भी होता था ।'

आलोच्य-युगीन जैन-गूर्जर कवियों द्वारा प्रणीत हिन्दी एवं गुजराती-राजस्थानी मिश्रित भाषा में रचित रास इस प्रकार हैं—

ऋषभदास : कुमारपाल रास, श्रेणिक रास, रोहिणी रास, भरतेश्वरनो रास, तथा हीरविजयसूरि रास ।

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सं० २०११, अंक ४, पृ० ४२०, नाहटा जी का लेख ।

गुणसागरसूरि : कृतपुण्य (कयवन्ना) रास।
चन्द्रकीर्ति : सोलहकरण रास।
जिनराजसूरि : शालीभद्र रास तथा गजसकुमार रास।
ब्रह्म रायमल्ल : नेमिश्वर रास, सुदर्शन रास; तथा श्रीपाल रास।
महानंदगणि : अन्जना सुन्दरी रास।
विनयसमुद्र : चित्रसेन-पद्मावती रास तथा रोहिणी रास।
विनय विजय : श्रीपाल रास।
वीरचन्द्र : नेमिनाथ रास।
समयसुन्दर : चार प्रत्येक बुद्ध रास, मृगावती रास, सिंहलसुत प्रिय मेलक रास, पुण्यसार रास, वल्कल चीरी रास, शत्रुंजय रास, क्षुल्लक कुमार रास, पूंजा ऋषि रास, स्थूलिभद्र रास तथा वस्तुपाल-तेजपाल रास।
सुमति कीर्ति : धर्म परीक्षा रास।
नयसुन्दर : रूपचन्द कुंवर रास।

इस रास ग्रन्थों में यद्यपि विषय वैविध्य नहीं फिर भी जैन-गूर्जर रासकारों की कथा कहने की कुशल प्रवृत्ति के दर्शन अवश्य होते हैं। ऐतिहासिक तत्वों की सुरक्षा, तत्कालीन समाज-जीवन के दृश्य, धर्मोपदेश तथा संसार-ज्ञान की बहुमूल्य सामग्री इन 'रास' ग्रन्थों में उपलब्ध है। 'रास' परम्परा १२ वीं सदी से १६ वीं सदी तक निरन्तर प्रवहमान रही जो इसकी लोकप्रियता एवं व्यापकता का प्रमाण है। इस प्रकार 'रास' का, एक स्वतन्त्र काव्यरूप की दृष्टि से बड़ा महत्व है।

चौपाई : "चउपइ" काव्य की परम्परा भी अपभ्रंश से ही प्रारम्भ होती है। यह कथानक प्रधान छन्द हैं। अपभ्रंश में इस छन्द का खूब प्रयोग हुआ। अतः कथानक प्रधान काव्यों के लिए यह प्रसिद्ध छन्द माना गया। जिनहर्ष, विनयचन्द्र तथा समयसुन्दर की कुछ 'चौपाई' नामक रचनाएँ दोहे-चौपाई छन्द मे ही रचित हैं।

आलोच्य युगीन जैन-गूर्जर कवियों की बड़ी रचनाओं में 'रास' के पश्चात् 'चौपाई' नामक रचनाएँ ही अधिक संख्या में मिलती है। सभी रचनाओं में 'चौपाई' छन्द का निर्वाह नहीं हुआ हैं। जैसा कि स्पष्ट है मूलतः यह 'चौपाई' छन्द में रचित रचनाओं का ही नाम था; पर बाद में 'रासो' की भांति प्रत्येक चरितकाव्य एवं वर्णनात्मक काव्य के लिए 'चौपाई' संज्ञा रूढ़ हो गई। इन कवियों की इस प्रकार की रचनाएँ इस प्रकार है—

को छढालिया कहा गया है। एक ढाल के अन्त में दोहा या छन्द का प्रयोग कर उसे पूर्ण किया जाता है और तदनन्तर दूसरी ढाल का आरम्भ किया जाता है। कुछ बड़ी रचनाओं में शताधिक ढालों का प्रयोग हुआ है।

चौढालिया नामक एक रचना समयसुन्दर की प्राप्त है। 'दानादि चौढालिया' दान-धर्म विषयक इनकी यह कृति सामान्यतः उल्लेखनीय है।

प्रत्येक ढाल के आरम्भ में तर्ज या देशी की प्रारंभिक पंक्ति दे दी जाती है। इस प्रकार इन कवियों की ढाल-बद्ध रचनाओं मे प्राचीन विभिन्न लोकगीतों का पता चलता है।

गजल, छन्द; नीसाणी आदि :

गजल फारसी साहित्य का एक छन्द विशेष है। आरम्भ में उसमें केवल प्रेम-सम्बन्धी विषय ही समाविष्ट होते थे। गुजरात में फारसी साहित्य के प्रभाव से गजल-साहित्य-प्रकार आरम्भ हुआ। आज की गजलों में विषय वैविध्य है, मात्र प्रेम का सीमित क्षेत्र नहीं।

जैन कवियों ने भी गजलें लिखी हैं, पर न तो इसमें प्रेम की बात है और न फारसी के गजल-छन्द विशेष का निर्वाह है। जैन कवियों की गजल संज्ञक रचनाओं में नगरों और स्थानों का वर्णन है। कवि जटमल की 'लाहोर गजल', राजस्थानी कवि खेता की 'चित्तड़ री गजल', दीपविजय की 'वड़ोदरानी गजल' आदि गजलें प्रसिद्ध हैं। इनकी रचना एक विशेष प्रकार की शैली में हुई है। ऐसी गजल संज्ञक रचनाओं में प्राकृतिक वर्णन, धार्मिक महत्ता तथा इतिहास का भी निरूपण हुआ है। संभवतः इस प्रकार के साहित्य का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन तथा स्थल-परिचय कराना रहा होगा।

आलोच्य युगीन कवियों में मात्र निहालचंद नामक कवि की नगर या स्थान वर्णनात्मक गजल 'बंगाल देश की गजल' प्राप्त है। इसमें मुर्शिदाबाद का वर्णन है।

छन्द, नीसाणी आदि भी रचना के विशेष प्रकार हैं। छन्द से तात्पर्य अक्षर या मात्रा मेल से बनी कविता है। ऐसे छन्दों में जैन कवियों ने विशेषतः देवी-देवताओं की स्तुति की है। इस प्रकार स्तुति में रचित छन्दों के लिए इन कवियों ने सलोक, पवाड़ा आदि संज्ञाएं भी दी हैं। कुछ कवियों ने ऐसी रचनाओं की संज्ञा छन्द ही रखी है। कभी-कभी विभिन्न छन्दों में रचित कृति को भी 'छन्द' संज्ञा से अभिहित किया जाता रहा है, उदाहरणार्थ हेमसागर की 'छन्दमालिका' ऐसी ही रचना है।

आलोच्ययुगीन जैन-गूर्जर कवियों की छन्द संज्ञक रचनाएं इस प्रकार है—

कुंवर कुशल भट्टारक	:	मातानुं छन्द
कुमुदचन्द	:	भरत बाहुबलि छंद
कुशल लाभ	:	नवकार छन्द
गुण सागर सूरि	:	शांतिनाथ छंद
लक्ष्मी वल्लभ	:	महावीर गौतम स्वामी छन्द तथा देशांतरी छन्द
वादीचन्द्र	:	भरत बाहुबलि छन्द
शुभचन्द्र भट्टारक	:	महावीर छंद, विजयकीर्ति छंद, गुरु छंद, तथा नेमिनाथ छंद
हेमसागर	:	छंद मालिका

ऐसी ही कुछ लघु रचनाओं की संज्ञा 'नीसाणी' है। कवि धर्मवर्द्धन ने ऐसी रचनाएं प्रस्तुत की हैं।[१] उनकी 'गुरु शिक्षा कथन निसाणी', 'वैराग्य निसाणी', 'उपदेश नीसाणी' तथा जिनहर्ष विरचित' पार्श्वनाथ नीसाणी' आदि उल्लेखनीय हैं।

कुण्डलियाँ छप्पय दोहा सवैया पिंगल आदि :

काव्य विशेष के नामकरण में कई प्रवृत्तियां काम करती हैं। वर्ण्यविषय, छन्द, शैली, चरित्र, घटना, स्थान अथवा किसी आकर्षक वृत्ति से प्रेरित हो कविगण अपनी-अपनी कृतियों को विविध संज्ञाओं से अभिहित करते हैं। जैन कवियों ने छंद विशेष का नामकरण कर अपनी कविताएं रची हैं। इनमें से कुछ रचनाओं में छंद-गत नियमों का पालन नहीं हुआ है, अतः ऐसी रचनाएं स्वतन्त्र काव्य-रूप के अंतर्गत रखी जा सकती हैं परन्तु आलोच्य युगीन जैन-गूर्जर कवियों ने प्रायः छन्दगत नियमों का निर्वाह कर ही ऐसी छन्द विशेष संज्ञक रचनाएं हैं।

मात्रिक छंद कुण्डलियों का परिचय अपभ्रंश के छंद ग्रंथों मे भी मिलता है। हिन्दी में गिरधर की कुण्डलियाँ प्रसिद्ध हैं। केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' में तथा जटमल ने 'गोरा बादल कथा' में इस छंद का प्रयोग किया है। आलोच्य युगीन जैन कवियों की कुण्डलियां संज्ञक रचनाएं अधिक नहीं। धर्मवर्द्धन कृत 'कुण्डलियां बावनी'[२] एक मात्र उल्लेखनीय रचना है।

'छप्पय' संज्ञक काव्य लिखे जाने की परम्परा भी प्राचीन है। प्राकृत और अपभ्रंश में छप्पय छंद का प्रयोग होता आया है। हिन्दी के भी अनेक कवियों ने

१. धर्मवर्द्धन ग्रंथावली, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ६७-७०।
२. धर्मवर्द्धन ग्रंथावली, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० १७।

इस छन्द का उपयोग किया है।[१] युद्ध आदि के वर्णनों के लिए यह छन्द अधिक उपयुक्त एवं लोकप्रिय रहा है।

इन कवियों ने इस छन्द का प्रयोग भक्ति, वैराग्य एवं उपदेशादि विषयों के लिए भी किया है। जिनहर्ष, समसुन्दर, धर्मवर्धन तथा भट्टारक महीचन्द्र ने 'छप्पय' संज्ञक रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। इनमें भी धर्मवर्धन की 'छप्पय बावनी' तथा भट्टारक महीचन्द्र की 'लवांकुश छप्पय' विशेष उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। प्रथम धर्म तथा उपदेश से सम्बन्धित है तथा दूसरी मूलतः शान्त रसात्मक कृति है। इसमें वीर रस के प्रसंग भी कम नहीं हैं।

इसी तरह 'दोहा' और 'सवैया' छन्द संज्ञक रचनाएँ भी प्राप्त हैं। ये छन्द जैन कवियों के प्रिय छन्द रहे हैं। दोहा लोक साहित्य का अत्यन्त सरल एवं लोकप्रिय छन्द है। प्राकृत एवं अपभ्रंश के अनेक ग्रंथों में इसका प्रयोग हुआ है। हिन्दी के भी प्रायः सभी प्रमुख कवियों द्वारा यह प्रयुक्त हुआ है। इस युग के जैन कवियों में समयसुन्दर, धर्मवर्धन, देवचन्द्र, यशोविजय, उदयराज, जिनहर्ष, लक्ष्मीवल्लभ, शुभचन्द्र भट्टारक आदि अनेक कवियों ने इस छन्द का प्रयोग किया है। 'दोहा' संज्ञक रचनाओं में उदयराज की 'उदयराज रा दूहा', लक्ष्मीवल्लभ की 'दोहा बावनी', शुभचन्द्र की 'तत्वसार दोहा' तथा जिनहर्ष की 'दोहा मातृका बावनी' आदि कृतियां विशेष उल्लेखनीय हैं।

विभिन्न प्रकार के सवैया छन्दों की रचना भी इन कवियों ने पर्याप्त मात्रा में की है। इनकी 'सवैया' संज्ञक रचनाओं में आनन्दवर्धन की 'भक्तमर सवैया', केशवदास की 'शीतकार के सवैया', जिनहर्ष की 'नेमिनाथ राजमती बारहमासा सवैया', जिनसमुद्रसूरि की 'चौबीस जिनसवैया', धर्मवर्धन की 'चौबीस जिन सवैया' तथा लक्ष्मीवल्लभ की 'सवैया बावनी' आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। इन कवियों ने इस लयमूलक छन्द में भक्ति, वैराग्य एवं विप्रलंभ-शृङ्गार की छन्द की प्रकृति के अनुरूप, उपयुक्त अभिव्यंजना की है।

ब्रजभाषा पाठशाला के आचार्य कुंवरकुशल भट्टार्क की 'पिंगल' संज्ञक दो रचनाएँ भी प्राप्त हैं। 'पिंगल' छन्दसूत्रों के रचियता आचार्य का नाम था।[२] बाद में छन्दसूत्रों या छन्द-शास्त्र के आधार पर रचित ग्रंथों को 'पिंगल' कहा गया। 'पिंगल' शब्द का प्रयोग ब्रजभाषा के अर्थ में भी हुआ है। कुंवर कुशल भट्टार्क के

१. तुलसी (कवितावली), केशव (रामचन्द्रिका), भूषण (शिवराज भूषण आदि।
२. हिन्दी साहित्य कोश, प्रधान संपा० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ४५१।

'लखपति पिंगल' (कवि रहस्य) तथा 'गौड़ पिंगल' ग्रंथ ब्रजभाषा में रचित छन्द-शास्त्र के ग्रंथ हैं।

(२) राग और नृत्य की दृष्टि से

विवाहलो–मंगल : इस युग के कवियों के कुछ आख्यानक काव्यों में चरित-नायकों के विवाह के मंगल प्रसंग के वर्णन भी मिलते हैं। इनमें तत्कालीन, विवाह संबंधी रीति-रिवाजों का अच्छा परिचय मिल जाता है। जैन कवियों ने विवाह प्रसंग का वर्णन करने वाले कुछ स्वतंत्र काव्य भी लिखे हैं। इस प्रकार के काव्य लिखने की परम्परा करीब १४वीं शताब्दी से प्राप्त होती है। जिनमें विवाह का वर्णन हो, ऐसी रचनाओं को 'विवाहला' संज्ञा दी गई है। जैन कवियों ने विवाह प्रसग को तत्वज्ञान की दृष्टि से समझाया है। जैन परिभाषा की दृष्टि से यह भाव-विवाह है। इन्होंने नेमिनाथ, ऋषभ आदि तीर्थकरों और जैनाचार्यों का विवाह 'संयम श्री' के साथ करने के प्रसंग को लेकर 'विवाहले' रचे हैं। इस दृष्टि से ऐसे काव्य सुन्दर रूपक काव्य वन गये हैं। जैन साधु–जैनाचार्य आदि ब्रह्मचारी रहते थे, अतः उनके लौकिक विवाह का तो प्रश्न ही नहीं था। इनके द्वारा ग्रहण किये गए व्रत ही संयमश्री रूपी कन्या माने गये हैं और उसी के साथ इनके विवाह के वर्णन ऐसे काव्यों में गूंथे गये हैं। ये आध्यात्मिक विवाह हैं। इस प्रकार के यह रूपक-विवाह जैन कवियों की अनोखी सूझ कही जा सकती है।

आलोच्य युगीन जैन-गूर्जर कवियों ने इस प्रकार के विवाह के प्रसंग अपनी अन्यान्य रचनाओं में अवश्य गूंथे हैं पर 'विवाहला' संज्ञा से इनकी रचनाएँ कम ही प्राप्त होती हैं। कवि कुमुदचन्द्र की एक मात्र कृति 'आदिनाथ (ऋषभ) विवाहलो' प्राप्त है, जो इसी प्रकार का आध्यात्मिक रूपक-काव्य है। इसमें कवि ने अपने आराध्य देव का दीक्षाकुमारी, संयमश्री अथवा मुक्तिवधू से वरण दिखाया है। इसमें ११ ढालों का सुनियोजन हुआ है। ऐसे विवाहले भक्ति भाव पूर्वक गाये तथा खेले भी जाते रहे हैं। संवत् १३३१ के पश्चात् रचित 'श्री जिनेश्वरसूरि वीवाहलउ' में इसका उल्लेख भी मिलता है—

'एहु वीवाहलउ जे पढ़इ, जे दियहि खेला खेली रंग भरे।
ताह जिणेसर सूरि सुपसन्नु, इस मणइ भविय गणि 'सोम मुति' ॥३३॥'[१]

(अर्थात् इस विवाहला को पढ़ने वाले पर, लिखवा कर दान करने वाले पर था रस-रंग पूर्वक खेलने वाले पर गुरु प्रसन्न होते हैं।)

---

१. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ३८३।

विवाह में गाये जाने वाले गीतों की संज्ञा 'मंगल' दी गई हैं। हिन्दी, राजस्थानी और बंगला में 'मंगल' संज्ञक अनेक काव्य मिलते हैं, संभवतः वे इसी परम्परा की देन हैं। राजस्थानी काव्य 'रुकमणी मंगल' अत्यन्त प्रसिद्ध लोक काव्य है। महाकवि तुलसी ने भी पार्वती मंगल, 'जानकी मंगल' आदि की रचनाएँ की हैं।

आलोच्य युगीन जैन-गूर्जर कवियों की रचनाओं में 'मंगल' संज्ञक रचनाएँ भी अधिकतः प्राप्त नहीं होतीं। जिनहर्ष की 'मंगल गीत' एक रचना प्राप्त है। इसमें सिद्धों, अरिहन्तों तथा मुनिवरों की मंगल स्तुति की गई है। इस दृष्टि से समय सुन्दर की भी 'चार मंगल गीतम्' 'मंगल गीत रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।१

प्रभाति, रागमाला आदि

प्रातःकाल गाए जाने वाले गीतों को 'प्रभाति' संज्ञा दी गई है। ऐसी रचनाओं में साधुकीर्ति की 'प्रभाति' उल्लेखनीय है।

'रागमाला' संज्ञक रचनाओं में विभिन्न राग-रागनियों के नामों को सुग्रथित किया गया है। आलोच्य युगीन जैन गूर्जर कवियों की रचनाओं में 'रागमाला' नामक दो कृतियों का उल्लेख किया गया है। प्रथम कुंवर कुशल भट्टार्क की 'रागमाला' तथा दूसरी साधुकीर्ति की 'रागमाला'। ऐसी रचनाओं में इन कवियों का संगीत-शास्त्र का गहन ज्ञान एवं संगीत प्रेम स्पष्ट दृष्टिगत होता है। कुंवरकुशल रचित 'रागमाला' में तो उनका संगीत-शास्त्र का आचार्यत्व भी सिद्ध हो गया है। देवविजय रचित 'भक्तामर रागमाला काव्य' भी एक ऐसी कृति है।

कुछ रचनाएँ 'वधाया', 'गहूंली' आदि नाम से भी मिलती हैं। आचार्यों के आगमन पर वधाई रूप में गाये गीत 'वधावा' हैं तथा आचार्यों के स्वागत के समय उनके सम्मुख चावल के स्वस्तिक आदि की 'गहूंली' करते समय तथा उनके गुणादि के वर्णन में गाये गीतों की संज्ञा 'गहूँली' है। कवि धर्मवर्धन ने इस प्रकार की रचनाएँ अधिक की हैं। उनकी 'जिनचन्द्रसूरि गहुंली', 'जिनसुखसूरि गहुंली' तथा 'पार्श्वनाथ वधावा' आदि कृतियां इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।२

(३) धर्म-उपदेश आदि की दृष्टि से

पूजा : 'जैनागम रायपसेणीय सूत्र' में सत्रह प्रकार की पूजनविधि का वर्णन मिलता है। इस प्रकार की पूजा के लिए संस्कृत श्लोक रचे जाते थे। धीरे-धीरे ये

१. समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि, संपा० अगरचन्द नाहटा; पृ० ४८१-८२।

२. धर्मवर्धन ग्रंथावली, संपा० अगरचन्द नाहटा; पृ० २०६; २४१ तथा २५०।

पूजाएं लोकभाषा में भी रची जाने लगी। जैनों में अष्ट प्रकार की पूजा का भी बड़ा महत्व रहा है। जन्माभिषेक विधि, स्नात्र विधि आदि इन्हीं पूजा विधियों में सम्मिलित हैं।

आलोच्य युगीन जैन-गूर्जर कवियों में इस प्रकार की 'पूजा' संज्ञक रचना करने वालों में साधुकीर्ति, ब्रह्मजयसागर, जिनहर्ष आदि कवि उल्लेखनीय है। साधुकीर्ति की 'सतर भेदी पूजा' इस प्रकार की रचनाओं में महत्वपूर्ण कृति है। कवि धर्मवर्द्धन की 'सतरह भेदी पूजा स्तवन' कृति में भी सत्रह प्रकार की पूजा-विधि का विवरण है।

सलोक : इसका मूल संस्कृत शब्द 'श्लोक' है। प्राकृत में 'सलोका' शब्द— विवाह मंडप में लग्नविधि के समय वरकन्या के उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में कही गई काव्यात्मक पंक्तियों के अर्थ में प्रयुक्त है।१ गुजरात के उत्तरी भाग तथा राजस्थान में भी विवाह प्रसंग में बरातियों एवं कन्यापक्ष के लोगों के बीच सिलोके कहे जाने की प्रथा रही है। धीरे धीरे यह प्रथा मन्दिर में देवी-देवताओं के वर्णन रूप में भी प्रयुक्त होने लगी।

कवि जिनहर्ष प्रणीत 'आदिनाथ सलोको'२ ऐसी ही रचनाओं का प्रतिनिधित्व करती है। इन कवियों द्वारा रचित इस प्रकार की अन्य रचनाएं प्राप्त नहीं होतीं। इस प्रकार के गुजराती तथा राजस्थानी भाषा में रचित 'सलोको' का विस्तृत विवरण श्री अगरचन्द नाहटा तथा प्रो० हीरालाल कापड़िया ने दिया है।३ इसमें जिनहर्ष द्वारा रचे गये एक और सलोक 'नेमिनाथ सलोको' का भी उल्लेख हुआ है। इनमें देवी देवताओं एवं वीरों के गुण वर्णन की ही प्रधानता होती है, काव्य-शिल्प अथवा छन्दों का इतना विचार नहीं किया जाता।

वंदना, स्तुति, स्तवन, स्तोत्र, गीत, सज्झाय, विनती पद, नाम माला आदि

इन विभिन्न संज्ञापरक कृतियों में तीर्थकरों तथा महापुरुषों के गुणों का वर्णन मुख्य है। साथ ही उपदेश तथा धर्मप्रचार की भावना भी स्पष्टतः परिलक्षित होती है।

वंदना स्तुति, स्तवन, स्तोत्र तथा गीत संज्ञक रचनाएं स्तुति प्रधान है। ऐसी अधिकांश स्तुतिपरक रचनाएं चार पद्यों वाली हैं। आलोच्य युगीन जैन गूर्जर

---

१. गुजराती साहित्यनां स्वरूपो, प्रो० मं० र० मजूमदार, पृ० १३२।
२. जिनहर्ष ग्रंथावली, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० १६६।
३. 'जैन सत्य प्रकाश' के अंक श्री नाहटाजी तथा कापड़िया के लेख।

कवियों में प्राय; सभी ने इस प्रकार की स्तुति परक मुक्तक रचनाएं लिखी हैं। ऐसे प्रमुख स्तुतिकार एवं गीतकार कवियों में समयसुन्दर, कनककीर्ति, शुभचन्द्र, हेमविजय, मेघराज, सुमतिसागर, आनन्दवर्द्धन, जिनहर्ष, विनयचन्द्र, ज्ञानविमलसूरि कुमुदचन्द्र, जिनराजसूरि, ब्रह्मजयसागर, भट्टारक सकलभूषण, भट्टारक रत्नचन्द्र आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके असंख्य स्तुतिपरक गीत प्राप्त है। गेय पदों की विज्ञप्ति गीत है।

जैन साधुओं के गुण वर्णन तथा उनकी प्रेरणा-भावसे अभिभूत गीत रचनाओं की संज्ञा 'स्वाध्याय' या 'सज्झाय' है। 'सज्झाय' संज्ञक रचनओं में कनककीर्ति की 'भरतचक्री सज्झाय' यशोविजय जी की 'अमृतवेलनी नानी सज्झाय' तथा 'मोटी सज्झाय' विनयचंद्र' की 'ग्यारह अंग सज्झाय' ज्ञानविमलसूरि की 'सज्झाय' आदि उल्लेखनीय कृतियां है।

विनयप्रधान रचनाओं को विनती कहा गया है। कनककीर्ति की 'विनती' कुमुदचन्द्र की विनतियां, तथा सुमतिकीर्ति की 'जिनवर स्वामी विनती' इसी प्रकार की रचनाओं में आती हैं।

आध्यात्मिक गीतों की संज्ञा पद है। ये पद विभिन्न राग-रागनियों में रचित है। महात्मा आनंदघन, यशोविजय, विनयविजय, ज्ञानानन्द, भट्टारक शुभचन्द्र, रत्नकीर्ति, कुमुदचन्द, समयसुन्दर, धर्मवर्द्धन आदि का पद साहित्य अत्यन्त समृद्ध एवं लोकप्रिय रहा है। आलोच्य युगीन कवियों में अधिकांश कवियों ने पद गीत तथा स्तुति परक रचनाओं के निर्माण में बड़ी रुचि दिखलाई हैं। इन मुक्तक रचनाओं में इन कवियों की भक्ति, उपदेश, धर्म तथा वैराग्य विषयक सुन्दर भावाभिव्यक्ति के दर्शन होते हैं। इन कवियों की कविता की श्री समृद्धि का आधार मूलतः यही रचनायें हैं

(४) संख्या की दृष्टि से :

अष्टक, वीसी, चौवीसी, वत्तीसी, छत्तीसी, बावनी, बहोत्तरी, शतक आदि रचनाओं का नामाभिधान पद्यों की संख्या के आधार पर हुआ है। इनमें ज्ञान, भक्ति, उपदेश, योग, ईश्वर, प्रेम, स्तुति-स्तवन, उलट वासियां, आध्यात्मिक रूपक आदि से सम्बन्धित विविध भावों एवं मनःस्थितियों का निरूपण है।

अष्टक और अष्टपदी रचनाएं आठ पद्यों की सूचक हैं। यशोविजय जी द्वारा प्रणीत 'आनंदघन अष्टपदी' विशेष प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय है। समयसुन्दर ने भी इस प्रकार की अच्छी रचनाएं की है। उनकी रचनाओं में 'श्री गौतमस्वामी अ

१. समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ३४३।

'युग प्रधान श्री जिनचन्द्र सूर्यष्टकम्'१ तथा 'श्री जिनसिंहसूरि सवैयाष्टक'२ उल्लेख-नीय हैं।

वीसी तथा चौवीसी संज्ञक रचनाओं में वीस विहरमानों के स्वप्नों तथा चौवीस तीर्थंकरों की स्तुतियां संगृहीत हैं। इस प्रकार की कृतियां जैन परम्परा की विशेषता कही जा सकती है। समसुन्दर, जिनहर्ष, जिनराजसूरि; विनयचन्द्र, कल्याणसागरसूरि, केशरकुशल, न्यायसागर आदि कवियों ने 'वीसी' नामक रचनाओं का सर्जन किया है।

अधिकांश प्रमुख कवियों ने चौवीसी संज्ञक कृतियों का निर्माण भी किया है। चौवीसी संज्ञक कृतिकारों में आनन्दवर्धन, आनन्दघन, जदयराज, ऋषभसागर, गुण-विलास, जिनहर्ष, धर्मवर्धन, न्यायसागर, लक्ष्मीवल्लभ, लावण्यविजय गणि, वृद्धि-विजय, समयसुन्दर, हंसरत्न आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें समयसुन्दर, जिन-हर्ष आदि कवियों ने तो एक से अधिक चौवीसी रचनाओं का निर्माण किया है। इस प्रकार करीब १५ चौवीसियों का उल्लेख प्राप्त है।

वत्तीसी संज्ञक रचनाओं में कहीं ३२ तथा किसी में कुछ अधिक पद्य भी हैं। भक्ति, उपदेश, और अध्यात्म से सम्बन्धित कुल चार वत्तीसियों का उल्लेख प्रस्तुत प्रवन्ध में हुआ है, जो निम्नानुसार हैं—

वालचन्द	:	वालचन्द वत्तीसी।
मानमुनि	:	संयोग वत्तीसी।
लक्ष्मीवल्लभ	:	उपदेश वत्तीसी तथा चेतन वत्तीसी।

कवि समयसुन्दर रचित 'छत्तीसी' संज्ञक कुल ७ रचनाएं प्राप्त हैं। धर्म, उपदेश, भक्ति, अध्यात्म आदि के अतिरिक्त इनमें तत्कालीन समाज का दर्शन तथा ऐतिहासिक वृत्त भी प्रसंगतः आ गये हैं। ऐसी रचनाओं में 'सत्यासिया दुष्काल वर्णन छत्तीसी' विशेष महत्व की है। इनकी तथा अन्य कवियों की प्राप्त छत्तीसियां इस प्रकार है—

समयसुन्दर	:	सत्यासिया दुष्काल वर्णन छत्तीसी, प्रस्ताव सवैया छत्तीसी, क्षमा छत्तीसी, कर्म छत्तीसी, पुण्य छत्तीसी, संतोष छत्तीसी तथा आलोचणा छत्तीसी।
जिनहर्ष	:	उपदेश छत्तीसी तथा दोधक छत्तीसी।

१. वही, पृ० २६१-६२।
२. वही, पृ० ३६०।

उदयराज : भजन छत्तीसी।

'बावना' संज्ञक रचनाएँ विशेष महत्वपूर्ण हैं। इन्हें 'कक्क', मातृका आदि भी कहा गया है। 'कक्को' गुजराती साहित्य का प्राचीन एवं समृद्ध साहित्य-प्रकार रहा है। हिन्दी में इसे अखरावट भी कहते हैं। अपभ्रंश काल से ही ऐसी रचनाओं का प्रारम्भ होता है। तेरहवीं-चौदहवीं शती की ऐसी कुछ रचनाएँ–'शालिभद्र कक्क', 'दूहा मातृका', 'मातृका चाउपई', आदि 'प्राचीन गूर्जर काव्य सग्रह' में प्रकाशित हैं।१ इन्हें बावनी के पूर्व रूप भी कह सकते हैं। १६ वीं शती से ऐसी ऐसी रचनाओं के लिए 'बावनी' संज्ञा व्यवहृत हुई है। इनमें वर्णमाला के ५२ वर्णों के प्रत्येक वर्ण से प्रारम्भ करके प्रासंगिक पद्य ५२ या उससे कुछ अधिक भी रचे जाते हैं। काव्य की मौलिकता को सुरक्षित रखने के लिए भी संभवत: इन कवियों ने अपने मुक्तकों में इस बन्धन को स्वीकार किया हो। जैन कवि तो अपने साहित्य के मौलिक स्वरूप के सरक्षण में अधिक सजग रहे हैं।

हिन्दी, राजस्थानी तथा गुजराती भाषाओं में जैन कविओं द्वारा रचित अनेक बावनियां प्राप्त हैं। हिन्दी में बावनियों की सुदीर्घ परम्परा का उल्लेख डॉ० अम्बाशंकर नागर ने अपने ग्रन्थ 'गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रन्थ' में किया है।२ वर्ण और व्यंजन के ५१ अक्षर हैं। इन अक्षरों का क्रम इस प्रकार रखा गया है—ओ (न मो सि द्धं) अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः, क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह, क्ष।

१७वीं एवं १८वीं शती में यह काव्यरूप अत्यधिक लोकप्रिय रहा है। अक्षर को ब्रह्मरूप मानकर, प्राय: सभी ने अपनी अपनी बावनियों में प्रथम छन्द 'ओं' से प्रारम्भ किया है। विशेषत: जैन कवियों की बावनियों में मंगलाचरण का सूत्र 'ॐ नमः सिद्धम्' रहा है। धार्मिक एवं नैतिक उपदेश देने के लिए जैनों में इस प्रकार की रचनाओं का विशेष प्रचलन था। छन्द विशेष में रची होने से इनके नाम–'दोहा बावनी', 'कुण्डलिया बावनी', 'छप्पय बावनी' आदि रखे गये हैं। विषय के अनुसार रचित रचनाओं के नाम, 'धर्म बावनी', 'गुण बावनी', 'वैराग्य बावनी', आध्यात्म बावनी' आदि मिलते हैं। 'बावनी' संज्ञक प्राप्त रचनाएँ इस प्रकार हैं।

उदयराज : गुण बावनी।

---

१. प्राचीन गूर्जर काव्य सग्रह ,गायकवाड़ प्राच्य ग्रन्थमाला, अङ्क १३, १९२०।

२. गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रन्थ, डॉ० अम्बाशंकर नागर, पृ० ४१।

किशनदास	:	उपदेश बावनी।
केशवदास	:	केशवदास बावनी।
जिनहर्ष	:	जसराज बावनी तथा दोहा मातृका बावनी।
लक्ष्मीवल्लभ	:	दोहा बावनी तथा सवैया बावनी।
धर्मवर्धन	:	धर्म बावनी, कुण्डलिया बावनी तथा छप्पय बावनी।
निहालचन्द	:	ब्रह्म बावनी।
लालचन्द	:	वैराग्य बावनी।
श्रीसार	:	सार बावनी।
हीरानन्द	:	अध्यात्म बावनी।
हंसराज	:	ज्ञान बावनी।

बहोत्तरी और शतक संज्ञक रचनाएँ भी इन कवियों ने लिखी हैं। इस दृष्टि से आनन्दघन की 'आनन्दघन बहोत्तरी', जिनहर्ष की 'नंद बहोत्तरी', यशोविजय की 'समाधि शतक' तथा 'समताशतक' और दयासागर की 'मदन शतक' आदि कृतियां उल्लेखनीय है।

(५) पर्व, ऋतु, मास आदि की दृष्टि से

फाग या फागु :

रास काव्य-रूप की भांति ही फागु भी बड़ा महत्वपूर्ण एवं बहु चर्चित काव्य-रूप है। इसे रास का ही दूसरा साहित्यिक रूप कहा जा सकता है। रास को महाकाव्य की कोटि में रखें तो फागु को खण्डकाव्य या गीतिकाव्य की कोटि में रखा जा सकता है।

फाग या फागु के लिए संस्कृत का मूल शब्द 'फल्गु' है, प्राकृत में फग्गु, गुजराती में फागु तथा व्रज एवं हिन्दी में फगुवा या फाग शब्द व्यवहृत हुआ। संस्कृत के ऋतु काव्यों की तरह इनमें भी ऋतुवर्णन की प्रधानता है। फाल्गुन और चैत्र महीनों में अनंग पूजा, वसन्त महोत्सव आदि के अर्थ रचित स्वागत गीत, उल्लास चित्रण तथा आह्लादकारी गान ही फागु हैं। इनमें जीवन की ऊष्मा है, उत्साह का उन्मेष है।

संस्कृत के पश्चात् अपभ्रंश के रास युग में फागु की परम्परा का प्रारम्भ माना जा सकता है। यही कारण है कि रास और फागु की शिल्पगत विशेषाएँ लगभग समान-सी लगती हैं। कालान्तर में यह रास से छोटा होता गया और अधिक कलात्मक एवं कोमल रूप ग्रहण करता गया। निश्चय ही फागु काव्य गेय रूपक है,

जो आज भी राजस्थान और गुजरात में गाया तथा खेला जाता है। अधिकांशत: जैन कवियों द्वारा फागु-काव्यों की रचना हुई है, अत: कई फागु शृङ्गार शून्य भी हैं। ये शान्त रस प्रधान हैं। स्थूलिभद्र और नेमिनाथ से सम्बन्धित फागुओं में शृङ्गार के दोनों पक्षों का तथा वासन्तिक सुषमा का स्वाभाविक चित्रण हुआ है।

फागु काव्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए श्री अगरचन्द नाहटा ने लिखा है—'वसन्त ऋतु का प्रधान उत्सव फाल्गुन महीने में होता है। उस समय नर-नारी मिलकर एक दूसरे पर अबीर आदि डालते हैं और जल की पिचकारियों से क्रीड़ा करते अर्थात् फागु खेलते हैं। जिनमें वसन्त ऋतु के उल्लास का कुछ वर्णन हो या जो वसन्त ऋतु में गाई जाती हो, ऐसी रचनाओं को फागु संज्ञा दी गई है।[१]

निश्चय ही 'फागु' मधुमास की आल्हादकारी गेय रचनाएँ हैं। उनमें शृङ्गार के साथ शम का भी सफल समन्वय हुआ है। ऋतु-वर्णन के साथ नायिका का विरह-वर्णन भी आता है। इस प्रकार विप्रलंभ शृङ्गार वर्णन में भी फागु काव्य की रचना होती रही है। नायिका के वियोग के पश्चात् नायक से उसका पुर्नमिलन कम उल्लास का सूचक नहीं था। गूर्जर-जैन कवियों ने नेमि-राजुल और स्थूलीभद्र-कोश्या को नायक-नायिका का रूप देकर अनेक फागु काव्यों की रचना की है। ये फागु काव्य रस एवं भाषा शैली की दृष्टि से बड़े महत्व के हैं। इन रचनाओं में जीवन का स्वाभाविक और यथार्थ चित्रण हुआ है। शृङ्गार वर्णन में सीमा का उल्लंघन नहीं हुआ है। इनमें अश्लीलता की ओर जाने वाली लोक रुचि को धर्म, भक्ति एवं ज्ञान की ओर प्रवाहित करने का पूरा प्रयत्न किया गया है।

आलोच्य युगीन जैन-गूर्जर कवियों द्वारा प्रणीत 'फागु' इस प्रकार हैं—

मालदेव	:	'स्थूलिभद्र फाग'।
भट्टारक रत्नकीर्ति	:	'नेमिनाथ फाग'
लक्ष्मीवल्लभ	:	'आध्यात्म फाग'।
वीरचन्द्र	:	'वीर विलास फाग'।
समयसुन्दर	:	'नेमिनाथ फाग'[२] तथा 'नेमिनाथ फाग'[३]।
कनक सोम	:	'नेमि फागु'[४]।

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५८, अंक ४; सं० २०११, पृ० ४२३। श्री नाहटा जी का लेख, प्राचीन भाषा काव्यों की विविध संज्ञाएं।

२-३. समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ११७-११९।

४. प्राचीन फागु संग्रह, डॉ० भोगीलाल सांडेसरा, म० स० विश्वविद्यालय वड़ोदा।

जयवंतसूरि : 'स्थूलिभद्र प्रेमविलास फागु'४

धमाल, होरी :

धमाल और होरी भी इसी प्रसंग से संबंधित रचनाएं हैं। फागु और धमाल के छन्द एवं रागिनी में संभवतः अन्तर हो सकता है पर ये दोनों नाम होली के आस पास गाई जाने वाली गेय रचनाओं के लिए प्रयुक्त हुए हैं। डफ और चंगों पर गाए जाने वाले भजनों की संज्ञा 'होरी' है। धमाल संज्ञक रचनाएं १६वीं, १७वीं शती से मिलने लगती है। दिगम्बर कवियों की रचनाओं में अपभ्रंश प्रयोग 'ढमाल' मिलता है।

कहीं कहीं धमाल और फागु संज्ञा एक ही रचना के लिए भी प्रयुक्त हुई है। जैसे—मालदेव के स्थूलिभद्र धमाल' के लिए कहीं 'स्थूलिभद्र फाग' भी लिखा गया है। 'धमाल' काव्य छोटे और वड़े—दोनों प्रकार के प्राप्त होते हैं। 'होरी' अत्यल्प हैं। यशोविजय जी विरचित एक 'होरी गीत'२ अवश्य देखने में आया है। 'होरी' गीत १९वीं एवं २०वीं शती में अधिक मिलते है। वम्बई के जैन पुस्तक प्रकाशक 'भीमसी माणेक' ने होरी संज्ञक पदों एवं गीतों का एक संग्रह प्रकाशित किया है। समयसुन्दर तथा जिनहर्ष प्रणीत, नेमिनाथ और स्थूलीभद्र से संबंधित मुक्तक गीतों में कुछ गीत 'होली गीत' की ही कोटि में गिने जा सकते हैं।

नन्ददास, गोविन्ददास आदि अष्ट छाप के कवियों ने होली के पदों की रचना 'धमार' नाम से की है। लोकसाहित्य के अन्तर्गत भी 'धमाल' और 'होरी' गीतों का वड़ा महत्व है। आलोच्य युगीत जैन गूर्जर कवियों की 'धमाल' रचनाएं इस प्रकार हैं—

अभयचन्द : वासुपूज्यनी धमाल
मालदेव : राजुल-नेमिनाथ धमाल
कनक सोम : आषाढ भूती धमाल, तथा
आर्द्रकुमार धमाल३
धर्मवर्द्धन : वसन्त धमाल४

मालदेव की 'स्थूलिभद्र धमाल' का उल्लेख फागु के अन्तर्गत किया जा चुका है।

---

१. अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर।

२. गूर्जर साहित्य संग्रह, प्रथम भाग, यशोविजयजी, पृ० १७७।

३, ४. इनकी मूल प्रतियां—अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर में सुरक्षित हैं।

वारहमासा :

वारहमासों की परंपरा भी पर्याप्त प्राचीन है। संस्कृत और प्राकृत में षड्ऋतु वर्णन के रूप में इसकी परंपरा देख सकते हैं। अपभ्रंश में तो अनेक 'वारहमासा' रचनाएं लिखी गई हैं। 'वीसलदेव-रासो' तथा 'नेमिनाथ-चतुष्पदिका' प्रारम्भिक वारहमासा काव्य हैं।

यह ऋतु काव्य का ही एक प्रकार है, जिसमें वारह महीनों के ऋतु-परिवर्तन एवं विरह भाव को अभिव्यक्त किया जाता है। अपने चिर परिचत नायक-नायिका को सम्बोधित कर बारहमासों के आहार-विहार, खानपान, उत्सव, प्रकृति आदि के वर्णन इसमें गूंथ जाते हैं। फागु की तरह यह भी गेय काव्य-प्रकार है। इसे लोक काव्य का ही एक प्रकार कहा जा सकता है।

गुजराती, हिन्दी और राजस्थानी में १६वीं, १७वी, शती से वारहमासे मिलते हैं। १७वीं, १८वीं, तथा १६वीं शती में वारहमासे खूब लिखे गये। इन सव का प्रधान विषय नायिका का पति वियोग में विरह-दुःख का अनुभव करना और उसे अभिव्यक्त करना है। अधिकांश वारहमासे २२वें तीर्थंकर नेमीनाथ और राजमती से संबंधित हैं। कुछ ऋषभदेव, पार्श्वनाथ, स्थूलिभद्र, आदि के सम्वन्ध में भी रचे गये हैं।

वारहमासा वर्ष के किसी भी महीने से प्रारम्भ हो जाता। सामान्यतः पति के वियोग के पश्चात् ही इसका प्रारम्भ महीने को लेकर किया जाता है। किसी ने आषाढ़ तो किसी ने मिगसर या फाल्गुन से ही वर्णन आरम्भ कर दिया है। साधारणतः प्रत्येक महीने का वर्णन होने से इसमें १५ से २० पद्य होते हैं। पर कई वारहमासे वड़े भी हैं, जिनकी पद्य संख्या ५० से १०० तक जाती है।

ऋतु वर्णन एवं विरह वर्णन की दृष्टि से इन वारहमासों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इनमें आश्रयभूता कोई विरहिणी नायिका वारह-महीनों की चित्र विचित्र प्रकृतिगत अनेक उद्दीपनों से व्यथित होकर आलंबनभूत किसी नायक के सम्वन्ध में अपनी व्यथित दशा का वर्णन करती है। जहां आलम्वन के प्रति आश्रय का कोई संदेश रहता है, वहां विप्रलंभ की अनेक अवस्थाओं का वर्णन भी दिया जाता है। इस प्रकार के वारहमासों का मुख्य रस शृंगार है। वर्ष के अन्त में नायक नायिका का मिलन वताया जाता है। इस प्रकार विप्रलंभ के साथ संयोग शृंगार का भी निरूपण हो जाता है। ऋतु एवं विप्रलंभ शृंगार-प्रधान गीति-काव्य के ही रूप में वारहमासों का महत्व है, यद्यपि कुछ वारहमासों में उपदेश देने का भी प्रयत्न किया गया है।

आलोच्य युगीन जैन गूर्जर कवियों द्वारा प्रणीत बारह मासों की सूची इस प्रकार है—

कुमुदचन्द	:	नेमिनाथ बारहमासा
जिनहर्ष	:	नेमि बारहमासा, नेमिराजमति बारहमासा, श्री स्थूलिभद्र बारहमासा१, तथा पार्श्वनाथ बारहमासा२
धर्मवर्द्धन	:	बारहमासा
भ० रत्नकीर्ति	:	नमिनाथ बारहमासा
लक्ष्मीवल्लभ	:	नेमिराजुल बारहमासा
लालविजय	:	नेमिनाथ द्वादस मास
विनयचन्द्र	:	नेमि-राजुल बारहमासा तथा स्थूलिभद्र बारहमास
जयवन्तसूरि	:	नेमिराजुल बारमास वेल प्रवन्ध

इसी प्रकार चार मास का वर्णन करने वाले काव्यों की संज्ञा 'चौमासा' है। ऐसे चौमासा काव्य कवि समयसुन्दर ने विशेप रूप से लिखे हैं।३ कवि जिनहर्ष का भी एक 'चउमासा' काव्य प्राप्त होता है।४

(६) कथा प्रबन्ध की दृष्टि से :

प्रवन्ध, चरित्र, आख्यान, कथा आदि में चरित्र, आख्यान तथा कथा संज्ञाएं प्रायः एकार्थवाची हैं। और जिसके सम्बन्ध में लिखा गया हो उसके नाम के आगे 'सम्बध' या प्रबन्ध' नामाभिधान कर दिया गया है।

'प्रवन्ध' ऐतिहासिक तथा चरित्र प्रधान आख्यान काव्य की संज्ञा है। मालदेव का 'भोज प्रवन्ध' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। बाद में कुछ कवियों ने कथा-काव्य के लिए तथा कुछ ने किसी विपय पर क्रमवद्ध विचारों के लिए-या ऐसे ग्रंथों के पद्यानुवादों के लिए भी 'प्रवन्ध' संज्ञा दी है। लक्ष्मीवल्लभ का 'काल ज्ञान प्रवंध' वैद्यक विपय पर लिखा ऐसा ही पद्यानुवाद है। प्रवन्ध संज्ञक रचनाएं इस प्रकार हैं—

उदयराज	:	वैध विरहणी प्रवन्ध
जयवन्तसूरि	:	नेमि राजुल बारमास वेल प्रवन्ध
दयाशील	:	चन्द्र सेन चन्द्रद्योत नाटकीया प्रवन्ध

१. २. जिनहर्ष ग्रंथवली में प्रकाशित; संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ३८२, ३०७
३. समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ३०५।
४. जिनहर्ष ग्रंथावली, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ३८६।

मालदेव : भोज प्रबन्ध
लक्ष्मीवल्लभ : कालज्ञान प्रबन्ध
समयसुन्दर : केशी प्रदेशी प्रबन्ध

प्रबन्ध काव्य का ही एक विशेष रूप या प्रकार "चरित" काव्य है। इसमें प्रबन्ध काव्य, कथाकाव्य तथा पुराण तीनों के तत्वों का समावेश होता है। यही कारण है कि कभी कभी ऐसे चरित काव्यों के लिए 'चरित', 'कथा' या 'पुराण' संज्ञा व्यवहृत हुई है। इस सब का सम्बन्ध मूल तो प्रबन्ध काव्य से ही है। चरित-काव्य में जीवन चरित की शैली होती है। उसमें ऐतिहासिक ढंग से नायक के पूर्वज, माता-पिता, वंश, पूर्वभवों का वृत्तांत तथा देश-नगरादि का वर्णन होता है। ये कथात्मक अधिक तथा वर्णनात्मक कम होते हैं। व्यर्थ के वस्तु-वर्णन या प्रकृति-वर्णन में बहुत कम उलझने का प्रयत्न होता है। इनमें प्रायः प्रेम, वीरता, धर्म या वैराग्य भावना का समन्वय स्पष्ट दिखाई पड़ता है। प्रेमनिरूपण, नायक-नायिकाओं के मार्ग की बाधाएं, अन्त में मिलन या किसी प्रेरणा या उपदेश से विरक्त साधु बनने आदि के प्रसंग सामान्य हैं। 'चरित्र' के रूप में दो रचनाएं प्राप्त है—

"ब्रह्मरायमल : प्रद्युम्न चरित्र
विनय समुद्र : पद्‌म चरित्र

आख्यान, कथा; वार्ता आदि

ऐतिहासिक या पौराणिक कथा के लिए 'आख्यान' संज्ञा का प्रयोग हुआ है। इसमें मुख्यतः पौराणिक प्रसंगों का साभिनय कथा गान होता है। रास से इसी साम्य को लेकर कुछ विद्वान जैन रासो को भी 'आख्यान' की कोटि में रखते हैं।[१] १७वीं एवं १८वीं शती के रास और आख्यान को कथा-काव्य की ही कोटि में रख सकते हैं। धर्मप्रचार के हेतु ही इनका उद्‌भव होता है। दोनों का संबंध जनसमुदाय से है। अन्तर इतना है कि रास अनेक, साथ-मिलकर गाते हैं जबकि आख्यान एक ही व्यक्ति गाता है। श्री के० का० शास्त्री आख्यान का मूल रास साहित्य में बताते हैं।[२] वस्तु भले एक हो फिर भी निरूपण शैली की दृष्टि से ये दोनों दो विभिन्न काव्य-रूप हैं। आख्यान-परम्परा का विकास जैनेतर कवियों के हाथों खूब हुआ। कुछ जैन कवियों ने भी आख्यानों की रचना की है।

श्री हेमचन्द्राचार्य ने आख्यान और उपाख्यान का भेद बताते हुए कहा है, 'प्रबंधमध्ये परबोधनार्थं नलाद्युपाख्यान मिवोपाख्यानमभिनयन पठन् गायन यदे

१. शांतिलाल साराभाई ओझा, साहित्य प्रकार, प्रेमानन्द अंक, पृ० २२७।
२. आपणा कविओ, पृ० ३८१।

को गन्थिकः कथयति तद् गोविन्द वदाख्यानम्' इस दृष्टि से रामायण, महाभारत आदि महाकाव्यों में दृष्टांत रूप या उपदेशार्थ आई हरिश्चन्द्र नल आदि की प्रासंगिक कथाएं उपाख्यान हैं। और इन्हीं उपाख्यानों को गाकर साभिनय प्रस्तुत किया जाता है तो ये आख्यान कहे जाते हैं। साहित्य दर्पण कार ने इसकी परिभाषा करते हुए बताया है—'आख्यानं पूर्ववृत्तोतिः' अर्थात् पूर्व घटित वृत्त का कथन आख्यान है। प्रायः यह शब्द प्राचीन कथानक या वृत्तान्त के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। इसका व्यापक अर्थ कहानी, कथा आख्यायिका आदि हो सकता है पर यह अपने सीमित अर्थ में ऐतिहासिक कथानक या पूर्ववृत्त-कथन के अर्थ को ही अधिक व्यक्त करता है। जैन गूर्जर कवियों द्वारा प्रणीत ऐसे दो आख्यान प्राप्त हैं–

चन्द्रकीर्ति : जयकुमार आख्यान
वादीचन्द्र : श्रीपाल आख्यान

कथा और चरित्र प्रायः एकार्थवाची हैं। आचार्य शुक्ल जी ने इतिवृत्तात्मक प्रबन्ध काव्यों को कथा कहा है और उसे काव्य से भिन्न माना है।[१] वस्तुतः कथा काव्य श्रव्य प्रबन्ध है जिसमें इतिवृत्तात्मकता के साथ रसात्मकता एवं अलंकरण का भी निर्वाह होता है। इनमें लोक विश्वास तथा कथानक रूढ़ियों की भरमार होती है। अतिशयोक्तिपूर्ण, अविश्वसनीय, अमानवीय चमत्कारपूर्ण चित्रण आदि की बहुलता से बौद्धिक ऊंचाई एवं भावभूमि की व्यापकता नहीं आ पाई है फिर भी उपदेश तथा धर्म भावना पर आधारित इन कृतियों का अपना महत्व है, जिनमें रसात्मकता, भावव्यंजना और अलंकृति के भी दर्शन अवश्य होते हैं।

आलोच्य युगीन जैन गूर्जर कवियों द्वारा रचित 'कथा' संज्ञक रचनाएं इस प्रकार हैं–

देवेन्द्रकीर्ति शिष्य : आदित्यवार कथा
ब्रह्म रायमल : हनुमन्त कथा तथा भविष्यदत कथा
भट्टारक महीचन्द्र : आदित्यव्रत कथा
मालदेव : विक्रम चरित्र पंच दंड कथा
वादीचन्द्र : अम्बिका कथा
वीरचन्द्र : चित्त निरोध कथा

'वार्ता' भी लोकशिक्षण के प्रचार की प्राचीन परंपरा है। वेद-काल से इस प्रकार की शिक्षण परम्परा अबाधित चली आई है। जैन कवियों ने भी धर्म एवं उपदेश की

---

१. जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृ० ७०।

दृष्टि से वार्ताएं लिखी हैं। कथा और वार्ता शब्द भी कहीं कहीं एकार्थवाची ही रहे हैं।'कथा' संज्ञक रचनाओं में भी ऐसी उपदेशमूलक वार्ताओं की भरमार है। वार्ता नामक, जिनहर्ष प्रणीत एक रचना 'नन्द बहोत्तरी-विरोचन महेता वार्ता' प्राप्त है। ऐसी पद्यात्मक लोकवार्ताओं में लोकजीवन की जीवन्त झांकी स्पष्टतः देखी जा सकती है।

संवाद :

कुछ जैन कवियों ने विरोधी वस्तुओं का परस्पर संवाद कराया है। जिनमें एक को वादी और दूसरे को प्रतिवादी का रूप देकर वस्तु विशेष के महत्व या दोष का सुन्दर वर्णन, मण्डन-मण्डन की शैली में हुआ है समन्यवादी इन कवियों ने अन्त में अपने इन कल्पित पात्रों में मेल भी करा दिया है। ऐसी 'विवाद' अथवा 'संवाद' संज्ञक रचनाएं छोटी हैं पर काव्य चमत्कार एवं कवि की वाक्-प्रतिभा-दर्शन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

साहित्य में संवाद या विवाद की परम्परा अति प्राचीन रही है। संस्कृत के 'सम्वाद सुन्दर' ग्रंथ में ऐसे नौ संवाद आये हैं। १६वीं शताब्दी में संस्कृत के साथ हिन्दी, गुजराती एवं राजस्थानी में भी इस प्रकार की रचनाएं मिलने लगती है। कवि समयसुन्दर ने अपने संस्कृत ग्रंथ 'कथा कोष' में तीन सम्वाद दिये हैं। इन्होंने एक गुजराती मिश्रित हिन्दी में 'दानादि संवाद शतक' नामक रचना भी लिखी है।[१] इसमें जैन धर्म के चार प्रकार– दान, शील, तप और भाव का संवाद बड़ी ही सुन्दर शैली में प्रस्तुत किया है। ये चारों अपनी अपनी महत्ता गाते हैं और अन्यो को हेय बताने का प्रयत्न करते हैं अंत में महावीर समझाते हैं— आत्म-प्रशंसा ठीक नहीं। चारों का अपना अपना महत्व है और भगवान चारों की महिमा गाते हैं।

इस प्रकार के अन्य सम्वाद ग्रंथ निम्नानुसार है—

विनय विजय	:	पंच समवाय संवाद
श्रीसार	:	मोती कपासिया सम्वाद
जिनहर्ष	:	रावण मंदोदरी संवाद
यशोविजयजी	:	समुद्र चाहणा संवाद
लक्ष्मीवल्लभ	:	भरत बाहुबली संवाद
सुमतिकीर्ति	:	जिह्वादंत विवाद

१. समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ५८३।

हिन्दी के कवि नरहरिदास तथा कुलपति मिश्र का भी अनेक 'सम्वाद' 'वाद' सहायक रचनाएं मिलती हैं। ऐसे कवियों की अधिकांश रचनाएं 'अकबर दरबार के हिन्दी कवि' में छप चुकी हैं।

(७) विविध विषयों की दृष्टि से

'प्रवहण' या 'वाहण' नामक रचनाओं में जहाज के रूपक का वर्णन होता है। मेघराज रचित ऐसी एक ही रचना 'संयम प्रवहण' या 'राजचन्द्र प्रवहण' प्राप्त हैं।

'दीपिका' संज्ञक रचना भी एक ही प्राप्त है। कनककुशल भट्टारक रचित 'सुन्दर शृंगार की रस दीपिका' शृंगार-कृति अत्यंत लोकप्रिय है।

'चन्द्राउला' चन्द्रावल का अपभ्रंश रूप लगता है। चन्द्रावल गेय गीतों के कथा-रूप की संज्ञा है। राजस्थान तथा बुन्देलखण्ड में 'चन्द्रावल' गीत कथा प्रचलित है जो श्रावण में झूले पर गाई जाती है। जैन कवियों ने भी गेय गीत रूप में ही आचार्यों एवं तीर्थंकरों के 'चन्द्राउला' रचे हैं। ऐसी कृतियों में समयसुन्दर रचित 'श्री जिनचन्द्रसूरि चन्द्राउला' तथा जयवंतसूरि कृत 'सीमन्धर चन्द्राउला' उल्लेखनीय रचनाएं हैं।

चुनड़ी, सुखड़ी, आंतरा, ध्रुपद आदि विविध संज्ञाएं भी इन भावुक कवियों ने अपनी धर्मोपदेश एवं भक्ति संबंधी रचनाओं के लिए प्रयुक्त की हैं। चूनड़ी में तीर्थंकरों की चरित्ररूपी चुनड़ी को धारण करने के संक्षिप्त वर्णन हैं। उस चारित्ररूपी चुनड़ी में गुणों का रंग, जिनवाणी का रस, तप रूपी तेज आदि की सुन्दर रूपक योजना निरूपित की गई है। ऐसे चुनड़ी गीतों में ब्रह्मजय सागर की 'चुनड़ी गीत' रचना साधुकीर्ति की 'चुनड़ी' तथा समयसुन्दर की 'चरित्र चुनड़ी' आदि महत्वपूर्ण हैं।

"सूखड़ी' नामक रचनाओं में विविध व्यंजनों का उल्लेख है। इन कवियों ने भक्ति वर्णन के साथ अपने पाकशास्त्र के ज्ञान का प्रदर्शन भी किया है। शांतिनाथ के जन्म के अवसर पर कितने प्रकार की मिठाइयां बनी थीं– यह बताने के लिए अभयचन्द ने 'सूखड़ी' की रचना की।

'आंतरा' रचनाओं में २४ तीर्थंकरों के अवतरण के समय का वर्णन होता है। 'वीरचन्द्र की' जिन आंतरा' रचना में प्रत्येक तीर्थंकर के होने में जो समय लगता है– उसका वर्णन किया गया है।

दुवावैत :

मुसलमानों के सम्पर्क से करीब १४वीं शताब्दी से प्रान्तीय भाषाओं की रचनाओं में अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग मिलने लगता है। इस

आदान-प्रदान की प्रक्रिया से कुछ नवीन काव्यरूपों की परम्परा की भी आरम्भ हुआ। गजल इसी प्रकार का साहित्य प्रकार है "दुवावैत" भी फारसी का एक साहित्य प्रकार है जो १७वीं शती के कवियों ने विशेष अपनाया है। ऐसी रचनाओं में हिन्दी की खड़ी बोली का अच्छा प्रयोग हुआ है। राजस्थानी छन्द ग्रन्थ 'रघुनाथ रूपक' में ७१ प्रकार के डिंगल गीत उनके लक्षण तथा अंत में 'दुवावैत' के भी दो प्रकारों का उल्लेख किया है। यह कोई छन्द नहीं, मात्र पदबन्ध रचना है, जिसमें अनुप्रास मिलाया जाता है। कच्छ-भुज ब्रजभाषा पाठशाला के आचार्य कुंवरकुशल रचित 'महाराओ लखपति दुवावैत' रचना इस कोटि में आती है, जिसमें महाराव लखपति का विस्तार से बहुत सुन्दर वर्णन मिलता है।

"नाममाला" रचनाओं में प्रायः तीर्थंकरों के विशेषणों या साधुओं के नामों की माला गूंथी जाती है। परन्तु आलोच्य युगीन जैन-गूर्जर कवियों की इस प्रकार की कोई रचना प्राप्त नहीं हो पाई है। कच्छ भुच्छ ब्रजभाषा पाठशाला के आचार्य कनककुशल और कुंवरकुशल की तीन "नाममाला" नामक रचनाओं का उल्लेख हुआ है, जो इस प्रकार हैं—

कनककुशल भट्टार्क : लखपति मंजरी नाममाला
कुंअर कुशल : पारसति नाममाला तथा
लखपति मंजरी नाममाला

कुछ "दोधक" रचनाएं भी मिलती हैं। इन वर्णिक छन्दों में समवृत का एक भेद है। भरत के लक्षण के अनुसार तीन भगणों और दो गुरुओं के योग से यह वृत्त बनता है।[१] कुछ जैन गूर्जर कवियों ने इसे दोहे के अर्थ में प्रयुक्त किया है। कहीं कहीं तो दोहे की ११–१३ मात्राओं का भी पूर्ण निर्वाह नहीं हुआ है। "दोधक" नामक प्राप्त रचनाएं इस प्रकार हैं—

श्रीमद् देवचन्द : साधु समस्या द्वादश दोधक
जिनहर्ष : दोधक छत्तीसी[२] तथा पार्श्वनाथ
दोधक छत्तीसी[३]

इनके अनन्तर कुछ रचनाऐं पट्टावली-गुर्वावली, जकड़ी, हियाली-समस्या आदि की संज्ञा वाली भी प्राप्त हैं।

---

१. हिन्दी साहित्य कोष, पृ० ३४२
२. जिनहर्ष ग्रंथावली, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ११७, ३०२।
३. वही।

"पट्टावली" या गुर्वावली" रचनाओं में गुरु-परम्परा का वर्णन होता है। जैन कवियों ने प्राय: अपनी कृतियों के प्रारम्भ में या अन्त में अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख किया है, किन्तु कुछ कवियों ने जैन गच्छों की आचार्य परम्परा का इतिवृत्त स्वतंत्र रचनाओं में भी दिया है। ऐसी रचनाओं में ब्रह्म जयसागर रचित 'गुर्वावली गीत' तथा समयसुन्दर रचित 'खरतर गुरु पट्टावली'[१] तथा 'गुर्वावली'[२] कृतियां उल्लेखनीय हैं।

"जकड़ी" जिक्र का ही अपभ्रंश है। इसका अर्थ ध्यान से है। अर्थात् प्रति-क्षण जीवन की व्यावहारिक क्रियाओं में ईश्वर का ध्यान ही जिक्र है। गुजराती शब्द जकड़वु (जकड़वा) से इसकी समता देखी जा सकती है। इस दृष्टि से इसे एक विशिष्ट विचारधारा का बन्धन भी मान सकते हैं गुजराती कवि अखा की जकड़िया अत्यंत प्रिय तथा प्रसिद्ध हैं। जैन कवियों ने भी ऐसी कुछ जकड़ियों की रचना की है। जिनराजसूरि की चार जकड़ियां प्राप्त हैं जो "जिनराजसूरि कृत कुसुमांजलि" में संग्रहीत है।

"हियाली" या "हरियाली" संज्ञक रचनाओं को हिन्दी के कूट-साहित्य की कोटि में रखा जा सकता है। वस्तु विशेष के नाम गुप्त रखते हुए उसे स्पष्ट करने वाली विशेष बातों का वर्णन हो ऐसी रचनाओं को "हियाली" कहते हैं। इनमे बुद्धि की परीक्षा हो जाती है। अनेक "रास" ग्रंथों में आये पति-पत्नी की परस्पर गोष्ठी वर्णन के प्रसंगों में मनोरंजनार्थ ऐसी हीयालियों का प्रयोग हुआ है। १६वीं शताब्दी से हीयालियों की रचना देखने को मिलती है। इन कवियों की प्राप्त "हीयालियां" ५ से १० पद्यों तक ही मिलती हैं। कवि धर्मवर्द्धन तथा समयसुन्दर ने ऐसी अनेक "हीयालियों" की रचना की है। समयसुन्दर की हीयाली का एक उदाहरण देखिए—

"कहिज्यो पंडित एक हीयाली, तुम्हे छउ चतुर विचारी।
नारी एक त्रण अक्षर नांमे, दीठी नयर मझारी रे ।। १ ।।
मुख अनेक पण जीभ नहीं रे, नर नारी सुं राचइ।
चरण नहीं ते हाथे चालइ, नाटक पाखे नाचइ रे ।। २ ।।
अन्न खायइ पानी नहीं पींवइ, तृप्ति न राति दिहाड़इ।
पर उपगार करइ पणि परतिख,[३] अवगुण कोडि दिखाडइ ।। ३ ।।

१. समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ३४७ तथा ३४८।
२. वही।
३. पारणि।

अवधि आठ दिवसनी अपनी, हियद विमासी जीज्यो ।
समयसुन्दर कहइ समझी लेज्यो, पणि ते सरखा मत होज्यो ।।४।।"१

जिन पदों का अर्थ गूढ़ हो उन्हें "गूढ़ा" कहते हैं। ऐसे गूढागीत भी समयसुन्दर ने पर्याप्त लिखे हैं ।२

समस्या, पादपूर्ति, चित्रकाव्य आदि की प्राचीन परम्परा का निर्वाह भी जैन गूर्जर कवियों ने किया है। काव्य विनोद के यह सुन्दर प्रकार हैं। समस्यापूर्ति के लिए प्रसंगोद्भावना करनी पड़ती है। इसमें प्रखर कल्पनाशक्ति की आवश्यकता होती है। कवि धर्मवर्द्धन तथा समयसुन्दर ने समस्या, पादपूर्ति, चित्रकाव्य आदि काव्यरूपों के सफल प्रयोग किए हैं।

कवि समयसुन्दर रचित कुछ "कुलक" रचनाएं भी मिलती है। ऐसी रचनाओं में किसी शास्त्रीय विषय की आवश्यक बातें सारांशतः वर्णित की जाती हैं अथवा किसी व्यक्ति का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है। श्री नाहटाजी ने इस प्रकार की रचनाओं की एक पूरी सूची तैयार की है।३ समयसुन्दर रचित 'श्रावक बारह व्रत कुलकम्' तथा "श्रावक दिनकृत्य कुलकम्" इस दृष्टि से उल्लेखनीय रचनाएं है।४

---

१. समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ४९१ ।
२. वही, पृ० १२८, १३० ।
३. जैन धर्म प्रकाश, वर्ष, ६४, अंक ८, ११, १२ ।
४. समयसुन्दर कृत कुसुमांजलि, संपा० अगरचन्द नाहटा, पृ० ४६५-६८ ।

प्रकरण : ७

आलोच्य कविता का मूल्यांकन और उपसंहार

मूल्यांकन :

हिन्दी भक्ति साहित्य की परम्परा के पविवेश में मूल्य एवं महत्व

संत कवि और जैन कवि

रहस्यवादी धारा

संत और जैन कवियों की गुरु सम्बन्धी मान्यताओं विश्लेपण

सांस्कृतिक दृष्टि से महत्व एवं मूल्यांकन

उपसंहार :

—०—०—

प्रकरण : ७

आलोच्य कविता का मूल्यांकन और उपसंहार

मूल्यांकन :

काव्य एक अनिर्वचनीय तत्व है, जिसकी प्रतीति आनन्दवर्द्धन ने इस प्रकार कराई है—

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीपु महाकवीनां ।
एतत् प्रसिद्धायवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥"१

अर्थात् स्त्रियों में शरीर- सौष्ठवगत सौन्दर्य के अतिरिक्त भी लावयरूप एक अनिर्वचनीय तत्व होता हैं, उसी प्रकार महाकवियों की वाणी में भी प्रतीयमान अनिर्वचनीय सौन्दर्यतत्व विद्यमान होता है। यह अनिर्वचनीय सौन्दर्यतत्व तब तक वाणी में नहीं उतर सकता जब तक कवि की अभिव्यक्ति सीधी आत्मा से न हो। अत: आत्मतत्व की गहन अनुभूति ही सच्चा एवं चिरंतन काव्य है। यही अमृतरूपा काव्य है, यही आत्मा की कला है,२ जिसमें सच्चिदानन्दमय आत्मा की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार के काव्य में वाह्य-विधान-छन्द, गुण, अलंकार आदि की आवश्यकता नहीं रहती। इनका विधान सायास न होकर स्वाभाविक रूप से यथास्थान हो जाता है। यहाँ तो आत्मा का अलौकिक आनन्द रस फूटता रहता है, जिसमें कवि स्वयं रस-सिक्त है तथा जगत् के प्राणियों को भी अपने स्तर-भेद से उसमें स्नान कराता चलता है।

इन वीतरागी जैन-गूर्जर संत कवियों की कविता का मूल्यांकन इसी कसौटी पर करना चाहिए। इनकी कविता के गुण, छन्द, अलंकार आदि वाह्य उपकरणों पर ध्यान देने की अपेक्षा हमें उनके स्वानुभूतिमय अनिर्वचनीय चेतनतत्व की अभिव्यक्ति की गुणावत्ता का परीक्षण करना चाहिए। यद्यपि इन वाह्य उपादानों की

---

१. ध्वन्या लोक, १।४।

२. भवभूति ने काव्य को "अमृतरूपा" तथा "आत्मा की कला" कहा है—
उत्तर राम चरित १।१।

अवस्थिति भी इनकी वाणी में समुचित रूप में मिल जाती है तथापि वह इनके काव्य का विधायक अंश नहीं है। इन अध्यात्म मार्ग के साधक कवियों की कविता सुन्दर सुमनों में सजी पवित्रता की प्रतिमूर्ति वनदेवी-सी प्रतीत होती है। इन कवियों को संत कवियों की तरह आध्यात्मिक कवियों की कोटि में रखा जा सकता है जिनकी कविता में आत्मतत्व की सुगन्धमय अभिव्यक्ति हुई है। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धों की भावमयी अनुभूति ही जैन-गूर्जर कवियों की कविता का मूल विषय रहा है। इसमें अज्ञान-विमूढ़ित मानव को झकझोर कर उठा देने की अलौकिक क्षमता है।

ज्ञानानन्द, यशोविजय, आनन्दघन, विनयविजय आदि ऐसे ही श्रेष्ठ आध्यात्मिक कवि हैं जिन्होंने आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है। इनके मतानुसार आत्मा और परमात्मा के संबंधों के इन रहस्यमय वर्णनों में एक दिव्य रसायन है, जिसकी वास्तविक प्रतीति हो जाने पर समस्त भावनाएं, कामनाएं और वासनाएं तृप्त हो कर शांत होने लगती हैं। और साधक अनन्त रसानन्दमय निर्वाण स्थिति को प्राप्त करने लगता है। यही वह स्थिति है जब अजपा जाप चलता है, अनहद नाद उठता है, आनन्द के घन की झड़ी लग जाती है और आत्मा परमात्मा से एकलयता अनुभव करने लगती है।१ परन्तु इस स्थिति पर पहुँचना आसान नहीं। इसके लिए बड़ा कठिन त्याग एवं तप करना पड़ता है। वह सच्ची आत्म प्रतीति तथा अनुभव ज्ञान की लाली तो तब फूटती है जब शरीर रूपी भट्टी में शुद्ध स्वरूप की आग सुलगाकर अपने अनुभवरस में प्रेम रूपी मसाला डाला जाय और उसे मन रूपी प्याले में उबाल कर उसके सत्व का पान किया जाय।२

आलोच्यकालीन जैन गूर्जर कवियों की कविता का हिन्दी भक्ति-साहित्य की परम्परा के परिवेश में मूल्य एवं महत्व :

हिन्दी का भक्ति-काव्य निर्गुण और सगुण भक्ति काव्य के रूप में विभाजित कर दिया है। जैन कवियों का भक्ति-काव्य इस रूप में विभाजित नहीं किया जा सकता। इनकी कविता में निर्गुण और सगुण दोनों का समन्वय हुआ है। इन्होंने किसी एक का समर्थन करने के लिए दूसरे का खण्डन नहीं किया। सूर और तुलसी

---

१. "उपजी धुनि अजपा की अनहद, जीत नगारे वारी।
झड़ी सदा आनन्दघन वरखत, विन मोरे एक तारी॥"
—आनन्दघन पद संग्रह, पद २०, पृ० ५२।

२. वही, पद २८, पृ० ७८—देखिए पिछला पृष्ठ।

के सगुण ब्रह्म के अवतारी हैं। जैन-कवियों के अर्हन्त को उस रूप में अवतारी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ये तप और ध्यान द्वारा अनन्त परीपहों को सहन कर, चार घातिमा कर्मों का क्षय कर अर्हन्तमद के अधिकारी बनते हैं। सूर तुलसी के ब्रह्म पहले से ही ब्रह्म है, यहां अर्हन्त अपने स्वपौरुप से भगवान बनते हैं। फिर भी अपनी साकारता, व्यक्तता और स्पष्टता की दृष्टि से इन दोनों में अंतर नहीं दिखता। यही कारण है कि जैनों में अर्हन्त की सगुण ब्रह्म के रूप में ही पूजा होती रही है। परन्तु सिद्ध अर्हन्त से बड़े हैं। ये आठ कर्मों का क्षय कर, शरीर को त्याग कर, शुद्ध आत्म रूप में सिद्धशिला पर आसीन होते हैं, अतः निराकार भी हैं।१

मध्यकालीन हिन्दी काव्य धारा में नवीन विचारों की जो लहरें दक्षिण से उत्तर तक उठती हुई आई, वे यहां की परिस्थितियों के अनुरूप हो, अपने कई रूपों में प्रगट हुई। आचार्य शुक्लजी ने "सगुण" और "निर्गुण" नामक दो शाखाओं में उन्हें विभक्त कर दिया और बाद के सभी इतिहास लेखकों ने इसे स्वीकार कर लिया। किन्तु अर्हन्त-भक्ति से संबंधित विशाल साहित्य की परिगणना इसमें नहीं हो सकी, जो परिमाण और मूल्य दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। वस्तुतः जैनभवित की अखण्ड परम्परा ने १८वीं शती तक भारतीय अन्तश्चेतना को सुदृढ़ तथा जागरूक बनाये रखने का निरन्तर प्रयत्न किया है।

संत कवि और जेन कवि :

संत शब्द गुण वाचक है, जिसमें समस्त सज्जन एवं साधुपुरुप समाहित हैं। एक विशिप्ट धार्मिकता की दृप्टि से इसका अर्थ निकाला जाय तो, जो सांसारिक और भौतिक विपयादि से ऊपर उठ गया है, वह संत है। ऐसे संत प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय में मिल सकते हैं। इस दृप्टि से जैनभवित एवं अध्यात्म साहित्य के प्रणेता इन वीतरागी जैन-गूर्जर-कवियों को भी सच्चे अर्थों में "संत" कह सकते हैं।

जिन विचारों को लेकर हिन्दी के संत कवि आये उनकी पृष्ठभूमि पूर्व निर्मित ही थी। इसमें शैव, शाक्त, बोद्ध, जैन, नाथपंथी आदि सभी का हाथ था। यह लोक धर्म था, जो कबीर की वाणी में प्रकट हुआ। आगे चलकर इसी परम्परा के दर्शन २७वीं एवं १८वीं शती के इन जैन-गूर्जर-कवियों में भी होते हैं।

चेतावनी, खंडन और मंडन संत साहित्य के ये तीन प्रमुख अंग हैं। इनका ब्रह्म "सगुण" और "निर्गुण" से परे है, फिर भी प्रेम रूप है। इसकी प्राप्ति के

१. "निष्कलः पञ्चविध शरीर रहितः 'परमात्म प्रकाश १।२५।
ब्रह्मदेव की संस्कृत टीका, पृ० ३२।

आधार हैं—साधना और प्रेम। गोरखनाथ ने अपने पंथ में हठयोग का आधार लिया, आगे चलकर यही हठयोग संतमत की साधना का प्रधान अंग माना जाने लगा। जैन-धर्म है। काया को साधकर, इन्द्रियों को वशकर केवलज्ञान की प्राप्ति जैन साधना का अंतिम लक्ष्य है।

जैन काव्य और संत काव्य में अद्भुत समानता है—बाह्याडम्बर का विरोध, संसार की आसारता का चित्रण, चित्तशुद्धि और मन के नियन्त्रण पर जोर, गुरु की महिमा, आत्मा-परमात्मा का प्रिय-प्रेमी के रूप में चित्रण आदि में यह समानता देखी जा सकती है। दोनों ने ब्रह्म की सत्ता घट घट स्वीकार करते हुए भी उसे सर्व व्यापक, निर्गुण, निराकार और अज माना है। पाप और पुण्य दोनों ही समानरूप से बन्धन के कारण है अतः त्याज्य हैं। इनमें इस साम्य का उपयुक्त कारण यही हो सकता है कि ये सच्चे अर्थों में संत और मुनि थे। यह साम्य अनुभव जनित तथ्यों का साम्य है। महात्मा आनन्दघन और कबीर में प्राप्त अद्भुत साम्य के पीछे यही मूल कारणभूत है। हां, कबीर से महात्मा आनन्दघन करीब दो-ढाई सौ वर्ष पश्चात् हुए, जो कबीर से बहुत कुछ अंशों में प्रभावित रहे हैं, पर इनमें अपनी अपनी स्वानुभूति का साम्य विशेष है।

आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध में कबीर और जैन कवियों में अन्तर इतना ही है कि जैन कवियों की दृष्टि से अनेक आत्मा अनेक ब्रह्मरूप हो सकते हैं जबकि कबीर की दृष्टि से अनेक आत्मा एक ही ब्रह्म के अनेक रूप हैं। वस्तुतः आत्मा परमात्मा में कोई तात्विक भेद नहीं। दोनों की यही धारणा है। आत्मा और ब्रह्म की एकता कबीर ने जल और कुम्भ तथा लहर और सागर के प्रतीकों द्वारा प्रस्तुत की है। जिस प्रकार घड़े के भीतर और बाहर एक ही जल है, उसी प्रकार सर्व-व्यापक परमात्मा और शरीरस्थ आत्मा दोनों एक ही हैं। घड़े का बाह्य व्यवधान दूर हो जाने पर जलादि एक हो जाते है, उसी शरीरजन्य कर्मों के क्षय होने पर आत्मा परमात्मा का भेद समाप्त हो जाता है।[१] आत्मा परमात्मा के बीच की इस भेद-रेखा का विलीनीकरण चित्त की शुद्धि और गुरु की कृपा से ही संभव है। यही कारण है कि संतों ने गुरु को गोविन्द से भी बड़ा स्थान दिया और जब आत्मा परमात्मा एक ही है तो उसे खोजने बाहर भटकने की आवश्यकता नहीं, उसका दर्शन तो अन्तर में ही हो जाता है। अतः संतों और जैन कवियों ने बाहर भटकने का निषेधकर देह-देवालय में प्रतिष्ठित देव का दर्शन करने को कहा है। कबीर ने शरीर में स्थित देव का परिचय देने के लिए कभी उसे "कस्तूरी कुण्डलि बसै, मृग

१ श्यामसुन्दर दास संपा० कबीर ग्रंथावली, पृ० १०५।

ढूढे वन माँहि ।"१ कहा है तो कभी "शरीर सरोवर भीतरै आछै कमल अनूप ।"२ बताया है । इसी तरह महात्मा आनन्दघन ने परभाव और बाहर भटकने की मानव प्रवृत्ति को मूढ़ कर्म कह कर घट में बसे अनन्त परमात्मरूप का ध्यान करने को कहा है ।३ ज्ञानानंद ने "अंतर दृष्टि निहालो"४ कहा कर तथा विनयविजय ने "सुधा सरोवर है या घर में "५ कह कर इसी बात की पुष्टि की है ।

इन कवियों ने इस अनन्त तत्व को अनेक नामों से पुकारा है । उसे राम, शिव, विष्णु, केशव, ब्रह्मा आदि कहा है, परन्तु दोनों को अवतार वाद में विश्वास नहीं । कबीर ने अपने आराध्य का स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि उनका "अल्लाह" अलख निरंजन देव है; जो हर प्रकार की सेवा से परे है । उनका "विष्णु" वह है, जो सर्व व्यापक है, "कृष्ण" वह है जिसने संसार का निर्माण किया है, "गोविन्द" वह है जो ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, "राम" वह है जो युगों से रम रहा है, "खुदा" वह है जो दसों द्वारों को खोल देता है, "रब" वह है जो चौरासी लाख योनियों की रक्षा करता है, "करीम" वह है जो सभी कार्य करता है, "गोरख" वह है जो ज्ञान गम्य है, "महादेव" वह है जो मन की बात जानता है । इस प्रकार कबीर के आराध्य के नाम अनन्त हैं और उसकी महिमा अपार है ।६ महात्मा आनन्दघन के ब्रह्म की व्याख्या भी लगभग इन्हीं शब्दों में हुई है ।७ कभी ये पौराणिक शब्दावली में ब्रजनाथ के समक्ष अपनी दीनता व्यक्त करते हैं, ८ तो कभी वंशीवाले से दिल लगाने की बात कहते हैं ।९ किन्तु इससे अवतारवाद का समर्थन नहीं होता । वस्तुतः उनका ब्रह्म तो एक ही है, भले उसे राम, रहमान, कृष्ण, महादेव, पार्श्वनाथ या

---

१. श्यामसुन्दर दास सम्पादित, कबीर ग्रंथावली, पृ० ८१ ।

२. रामकुमार वर्मा, संत कबीर, पृ० १६१ ।

३. बहिरातम मूढा जग जेता, माया के फंद रहेता ।
 घट अंतर परमातम ध्यावे, दुर्लभ प्राणी तेना ।।"

 —आनन्दघन पद संग्रह, पद २७, पृ० ७४ ।

४. भजन संग्रह, धर्मामृत, पद २८, पृ० ३१ ।

५. वही, पद ३२, पृ० ३५ ।

६. श्यामसुन्दर दास संपा० कबीर ग्रंथावली, पद ३२७, पृ० १९९ ।

७. राम कहो रहमान कहो कोउ,''''''आनन्दघन पद संग्रह, पद ६७, पृ० २८४ ।

८. वही, पद ६३, पृ० २७१ ।

९. वही, पद ५३, पृ० १५७ ।

ब्रह्मा कुछ भी कह लो। मृतिका पिण्ड से अनेक प्रकार के नाम रूप पात्र बनते हैं, उसी प्रकार अखण्ड तत्व में अनेक भेदों की कल्पना या आरोपण किया जा सकता है।

अनेक संभव नामों का प्रयोग कर लेने के उपरांत दोनों ही ब्रह्म की अनन्तता और अनिर्वचनीयता स्वीकार कर लेते हैं। इस स्थिति पर उसे मात्र अनुभवगम्य मानकर, अपनी वाणी की असमर्थता स्पष्ट भाव से प्रकट करते हुए उसे ने "गूंगे का गुड" कह[1] दिया तो दूसरे ने "तेरो वचन अगोचर रूप" बताकर "कहन सुनन को कछु नहीं प्यारे" कह कह है।[2]

यह अनुभवैकगम्य; अनन्त और अनिर्वचनीय ब्रह्म ही जैन तथा अजैन संतों का उपास्य है। इसकी साधना के लिए किसी बाह्य विधि-विधान या शास्त्र-प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती। इस साधना मार्ग में प्रवृत्त होने के लिए चित्त की शुद्धि, मन और इन्द्रियों का संयम तथा सांसारिक प्रपंचों से अनासक्त होने की आवश्यकता है। इसके लिये माया अथवा अविद्या के भ्रम-जाल को छिन्न भिन्न करना होता है और यह कार्य इतना सरल नहीं। यहीं कारण है कि जैन और अजैन संतों ने माया को चाण्डालिनी, डोमिनी सांपनि, डाकिन और ठगिनी बताया है। इसके प्रभाव से ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नारद, ऋषी-महर्षि, आदि भी नहीं बचे हैं। माया ने कितने ही मुनिवरों, पीरों, वेदान्ती-ब्राह्मणों एवं शाक्तों का शिकार किया है। इस माया ने सम्पूर्ण विश्व को अपने पाश में बांध रखा है।[3] जैन संतों में आनन्दघन, यशोविजय, विनयविजय, ज्ञानानन्द, जिनहर्ष समयसुन्दर आदि ने माया का वर्णन इसी रूप में किया है। आनन्दघन का माया-कथन तो कबीर से साम्य ही नहीं रखता अपितु सात पंक्तियाँ तो एक शब्दों के हेरफेर के साथ एक जैसी ही हैं।

रहस्वादी धारा :

वस्तुतः अध्यात्म की चरम सीमा ही रहस्यवाद की जननी है। आत्मा-परमात्मा के प्रणय की भावात्मक अभिव्यक्ति को ही रहस्यवाद की संज्ञा दी गई है। रहस्यवाद की अविच्छिन्न परम्परा का मूल तथा प्राचीन स्रोत उपनिषदों का

---

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० १२६।
२. आनंदघन पद संग्रह, पद २१, पृ० ५३-५६।
३. (अ) श्यामसुन्दर दास संपा० कबीर ग्रंथावली, पद १८७, पृ० १५१।
(आ) आनंदघन पद संग्रह, पद ६६, ४५१-४८६।

अध्यात्म दर्शन है। काव्य और दर्शन के क्षेत्र में यह धारा अप्रतिहत गति से अनवरत प्रवाहित रही। प्रत्येक युग में विभिन्न संतों द्वारा उपनिषद् के आत्म तत्व का विवेचन तथा विश्लेषण होता रहा है। सिद्धनाथ और संत साहित्य पर इसका व्यापक प्रभाव स्पष्ट है। उपनिषदों में वर्णित, ब्रह्मतत्व की व्यापकता तथा अनिर्वचनीयता, चित्त शुद्धि पर जोर, बाह्याचारों का विरोध तथा सहज साधना ही इसकी आधार शिलाएं हैं।

यद्यपि जैन धर्म और साधना का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है तथापि वह उपनिषदों के प्रभाव से बचा नहीं। जैन साहित्य में रहस्यवाद के स्वरूप का मूल आचार्य कुन्दकुन्द के "भावपाहुड" में दृष्टि गोचर होता है। बाद में योगीन्दु के "परमात्म प्रकाश" में तथा मुनि रामसिंह के "दोहापाहुड" में रहस्यवाद की इस अविच्छिन्न धारा का वही स्वर मुखरित हुआ है जो आगे चल कर कबीर में देखने को मिलता हैं। जैन धर्म और साहित्य ज्ञानमूलक है, पर जैन-गूर्जर हिन्दी कवियों का मन ज्ञान की अपेक्षा भाव पर अधिक रमा है। इनका ज्ञान, कोरा ज्ञान नहीं, प्रेम मूलक ज्ञान है। १७वीं एवं १८वीं शती इन गैन गूर्जर कवियों की इस हिन्दी कविता में भावात्मक रहस्यवाद का उत्कृष्ट रूप मिलता है। हां, यह कहना कठिन अवश्य है कि इसकी मूल प्रेरणा जैन परम्परा रही है या कबीर जैसे सतों की वाणी। अनुमानतः इस सब के समन्वय ने ही इन कवियों के मानस-तन्तुओं का निर्माण किया होगा। कबीर ने अपने को राम की बहुरिया मानकर जिस दाम्पत्य भाव की साधना की, इसका प्रभाव आनन्दघन जैसे संतों पर न पड़ा हो, यह कैसे कहा जा सकता है। क्योंकि कबीर और अनन्दघन जैसे जैन-गूर्जर कवियों में प्रियतम के विरह में अभिव्यक्त तड़पन, बेकली, मिलन की लालसा और प्रिय के घर आने पर उल्लसित आनन्द की एक-सी धड़कन देखने को मिलती है। प्रियतम के विरह में कबीर की आतमा तड़पती है। उसे न दिन में चैन है और न रात को नींद ही आती है। सेज सूनी है, तड़पते तड़पते ही रात बीत जाती है। आँखें थक गई, प्रतीक्षा का मार्ग भी नहीं दिखता। बेदर्दी सांई तब भी सुध नहीं लेता।१ प्रिय का मार्ग देखते देखते आंखों में झाई पड़ गई, नाम पुकारते पुकारते जिह्वा में छाले पड़ गये, निष्ठुर फिर भी नहीं पसीजता।२ पत्र भी कैसे लिखा जाय? मन में और नयनों में जो समाया हुआ है उसे संदेश भी कैसे दिया जाय?३ ऐसी विषम स्थिति में कबीर की विरहिणी

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० ३२९।

२. वही, पृ० ३३१।

३. वही, पृ० ३३०।

जीवित भी कैसे रहे ? बिना प्रिय के अब वह उपाय भी क्या करे ? उसे न तो दिन को भूख लगती है और न रात को ही सुख है। आत्मा जल विहीन मछली की तरह तड़प रही है।१ सौभाग्य से कबीर की साधना फलती है। मिलन का अवसर आ गया। कबीर ने नैनों की कोठरी में पुतली की पलग बिछाकर पलकों की चिक डालकर अपने प्रिय को रिझा लिया है।२ अब तो वह अपने प्रिय को कभी दूर नहीं जाने देगा, क्योंकि बड़े वियोग के बाद, बड़े भाग्य से उसे घर बैठे प्राप्त किया है। कबीर अब तो उसे प्रेम-प्रीति में ही उलझाये रखेंगे और उनके चरणों में लगे रहेंगे।३

जैन कवि आनन्दघन भी आत्मा और परमात्मा के संबंध का लगभग ऐसा ही वर्णन करते है। उनकी आत्मा कभी परमात्मा से मान करने लगता है (पद १८), कभी प्रतीक्षा करती है (पद १६), कभी मिलन की उत्कंठा से तड़प उठती है (पद ३३), कभी अपनी विरह-व्याकुलता का निवेदन करने लगती है (पद ४१-५७), कभी प्रिय को मीठे उपालंभ देती है (पद ३२) तो कभी प्रिय मिलन की अनुभूति से आनन्द-मग्न हो अपने "सुहाग" पर गर्व करने लगती है। (पद २०)। उनकी विरहिणी दिनरात मीरां की तरह अपने प्रिय का पंथ निहारा करती है। उसे डर है कि कहीं उसका प्रिय उसे भूल न बैठा हो। क्योंकि प्रिय के लिए उसके जैसे लाखों पर उसके लिए उसका प्रिय ही सर्वस्व है—

"निशदिन जोउं तारी वाटडी, घेरे आवो रे ढोला ॥
मुझ सरिखा तुझ लाख है, मेरे तुंही अमोला ॥१॥"४

इस प्रकार इन जैन गूर्जर कवियों और संत या भक्त कवियों में भाव साम्य ही नहीं शब्दावली भी त्यों की त्यों दृष्टिगोचर होती है। जिनहर्ष की कविता में और अन्याय कवियों में भाव या शब्दावली के अद्‌भुत साम्य के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१ "दस दुवार को पींजरो, तामैं पंछी पौन।
रहण अचूबो है जसा, जाण अचूबो कौन ॥ ४ ॥" जिनहर्ष ग्रंथावली, पृ० ४१६

---

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० ३३४।
२. वही, पृ० ३३०।
३. वही, पृ० ३२२।
४. आनन्दघन पद संग्रह, श्री अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मंडल, बम्बई, पद १६, पृ० ३७

"नौ द्वारे का पींजरा, तामें पंछी पौन ।
रहने को आचरज है, गए अचम्भो कौन ।।"—कबीर

२ "जो हम ऐसे जानते, प्रीति वीचि दुख होइ ।
सही ढंढेरो फेरते, प्रीत करो मत कोइ ।। ८ ।।" जि० ग्रं० पृ० ४१६
"जे मैं एसो जानती, प्रीत कियां दुख होय ।
नगर ढंढरो फेरती, प्रीत न करियो कोय ।।" मीराबाई

३ 'उठि कहा सोई रह्यउ, नइंन भरी नींद रे ।
काल आइ ऊमउ द्वार; तोरण ज्युं वींद रे ।।" जि० ग्रं० ३५१
"सौवूं रै सोवूं वन्दा के करै, सोया आवै रे नींद,
मोत सिरहाणै वन्दा यूं खड़ी, तोरण आयो ज्यूं वींद ।"
—संत सुधाकर – काजी महमद

जायसी और जैन कवियों ने भी ब्रह्म की आराधना में "प्रेम के प्याले" खूब पिये है । महात्मा आनंदघन ने प्रेम के प्याले को पीकर मतवाले चेतन द्वारा परमात्म सुगन्ध लेने की वात कही है और फिर वह ऐसा खेल खेलता है कि सारा संसार तमाशा देखता है ।१ जायसी के प्रेम-प्याले में तो इतना नशा है कि होश ही नहीं रहता । वह अपने प्रेम पात्र को देखने में भी समर्थ नहीं । रत्नसेन प्रेम की इस वेहोशी में पहचानना तो दूर पद्मावती को देख भी न सके ।२ प्रेम का तीर भी एक जैसा है, वह जिसे लगता है, वह वहीं का वहीं रह जाता है—

"तीर अचूक है प्रेम का लागे सो रहे ठौर ।" आनंदघन३
"प्रेम घाव दुख जान न कोई । जेहि लागै जानै तै सोइ ।।" जायसी४
"लागी चोट सवद की, रह्या कवीरा ठौर ।। " कवीर५

इस प्रकार की समानता सूचक अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं । सूरदास ने जिस प्रकार "अव मैं नाच्यो वहुत गुपाल" कहकर सांगरूपक में जिस विनय भावना की अभिव्यक्ति की है, इसकी स्मृति जिनराजसूरि की इन पंक्तियों से अनायास हो उठती है । देखिए कितना अद्भुत साम्य है—

---

१. आनंदघन पद संग्रह, श्री आध्यात्म ज्ञान प्रसारक मंडल, वम्बई, पद २८वां ।
२. "जाहि मद चढ़ा परातेहि पाले, सुधि न रही ओहि एक प्याले ।।"
रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रंथावली, १२वीं चौपाई, पृ० ८४ ।
३. आनंदघन पद संग्रह, पद ४, पृ० ७
४. जायसी ग्रंथावली, प्रेम खण्ड; पहली चौपाई, पृ० ४६ ।
५. कबीर ग्रंथावली, सवद कौ अंग, ८वां दोहा, पृ० ६४ ।

"नायक मोह नचावीयउ, हुं नाच्चउ दिन रातो रे।
चउरासी लख चोलणा, पहरिया नव नव भात रे ॥ १ ॥
काछ कपट मद घूघरा, कंठि विषय वर मालो रे।
नेह नवल सिरि सेहरउ, लोभ तिलक दे भालो रे ॥ २ ॥
भरम भुउण मन मादल, कुमति कदा ग्रह नालों रे।
क्रोध कणउ कटि तटि वण्यउ, भव मंडप चलसालो रे ॥
मदन सवद विधि ऊगटी, ओढी माया चीरो रे।
नव नव चाल दिखावतइ, का न करी तकसीरो रे ॥ ३ ॥"[१]

संत और जैन कवियों की गुरु संवंधी मान्यताओं का विश्लेषण

सिद्ध, सन्त, नाथ तथा जैन कवियों ने गुरु की महिमा को भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। गुरु के ही प्रसाद से भगवान के मिलने की वात सभी ने स्वीकार की है। कवीर ने गुरु को इसलिए वड़ा वताया कि उन्होंने गोविन्द को वता दिया। सुन्दरदास के दयालु गुरु ने भी आतमा को परमातमा से मिला दिया है।[२] दादू को भी "अगम अगाध" के दर्शन गुरु के प्रसाद से ही होते हैं।[३] किन्तु गुरु के प्रति संतों की ये सब उक्तियां "ज्ञान" के अंश है, भाव ने नहीं। जैन गूर्जर कवियों ने अपने गुरु-आचार्यों के प्रति जिस भाव-विह्वल पदावली का प्रयोग किया है, वह जैन-संतों की सर्वथा नवीन उपलब्धि है। जहां सन्तों में तथ्यपरकता विशेष है वहां जैन कवियों में भावपरकता ऊंची हो उठी है। महाकवि समयसुन्दर का गुरु राजसिहसूरि की भवित में गायागीत, कुशललाभ का आचार्य पूज्यवाहण की भक्ति में गाया गीत आदि इसके ज्वलंत प्रमाण हैं।[४] इन गीतों में गुरु के विरह में शिष्य की जो वेचैनी और मिलन में अपार प्रसन्नता व्यक्त हुई है, वह अन्यत्र नहीं मिलती। निर्गुणिए संतों ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। इन जैन कवियों में गुरु के प्रति भी सच्ची भावपरकता, भगवान की ही भांति मुखर उठी है।

इस भांति इन जैन-गूर्जर कवियों में तथा संत या भक्त कवियों में विचार प्रणाली की ही दृष्टि से नहीं, अपितु शैली, प्रतीक योजना तथा उनकी साधना-प्रणाली

---

१. जिनराजसूरि कृत कुसुमांजलि, पृ० ८-९।
२. डॉ० दीक्षित, सुन्दर दर्शन (इलाहावाद), पृ० १७७।
३. संत सुधासार, गुरुदेव को अंग, पहली साखी, पृ० ४४९।
४. अगरचन्द नाहटा संपादित "ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह," पृ० १२९ तथा ११६-११७।

में प्रयुक्त शब्दों में भी अद्भुत साम्य है। वस्तुतः शून्य, सहज, निरंजन, चन्द्र, सूर्य, आदि शब्दों का सर्वत्र एक अर्थ नहीं हो सकता और न काल के बहते प्रवाह में यह संभव ही है। फिर भी इनकी चिंतन प्रणाली, विशिष्ट भावधारा, अभिव्यक्ति का ढंग आदि को देखते हुए लगता है कि ये सभी शब्द तथा भाव तत्कालीन समाज की विचारधारा में परिव्याप्त थे, जिनका प्राचीन परम्परा के रूप में निर्वाह हो रहा था। निश्चय ही इनका मूल स्रोत अति प्राचीन रहा है, जिसमें जैनों तथा अन्य सभी सम्प्रदायों ने अपने जीवन के तत्व ग्रहण किये।

वस्तुतः जन-मानस के अज्ञात स्रोतों से बहकर आनेवाली परम्परा की यह स्रोतस्विनी १७वीं एवं १८वीं शती के जैन-गूर्जर कवियों के मानसकूलों से भी टकराई और अपनी मधुमयी अभिव्यक्ति के रूप में इस युग के साहित्य को भी शांतरस की लहरियों में निमज्जित करती रही। इस प्रकार देखने से ज्ञात होता है कि भक्ति-काल के कवियों की भांति इन जैन कवियों की काव्यधारा का महत्व भी निर्विवाद है। इसी महत्व की स्वीकृति पुरुषोत्तमदास टंडन जी की वाणी में प्राप्त होती है। जैन संत कवियों पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है—"इनकी वानी उसी रंग में रगी है और उन्हीं सिद्धान्तों को पुष्ट करने वाली है जिनका परिचय कबीर और मीरा ने कराया है—आंतरिक प्रेम की वही मस्ती, संसार की चीजों से वही खिचाव, धर्म के नाम पर चलाई गई रूढियों के प्रति वही ताड़ना, बाह्य रूपान्तरों में उसी एक मालिक की खोज और बाहर से अपनी शक्तियों को खींच कर उसे अन्तर्मुखी करने में ही ईश्वर के समीप पहुंचने का उपाय।१

साँस्कृतिक दृष्टि से महत्व एवं मूल्याँकन

भारतीय संस्कृति का विकास विभिन्न रूपों में हुआ है, परन्तु इन विभिन्नताओं की तह में एकरूपता बराबर विद्यमान रही है। बाह्य संस्कृतियों से प्रभावित होकर भी भारतीय संस्कृति की अन्तरात्मा में कहीं किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है। हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के शब्दों में "संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तत परिणति है। "धर्म" के समान वह भी अविरोधी वस्तु है। वह समस्त दृश्यमान विरोधों में सामंजस्य स्थापित करती है। भारतीय जनता की विविध साधनाओं की सब से सुन्दर परिणति को ही भारतीय संस्कृति कहा जा सकता है।"२ भारतीय संस्कृति का बड़ा गुण उसका समन्वय प्रधान होना है। भारतीय संस्कृति

---

१. भजनसंग्रह, धर्मामृत, प्रस्तावना, पृ० १८।

२. अशोक के फूल, "भरतवर्ष की सांस्कृति समस्या" निबंध, पृ० ६३।

की पुनीत गंगा में नदी नालों का मिश्रण अवश्य हुआ है, फिर भी उसकी पावनी शक्ति इतनी प्रबल है कि सब को गांगेय रूप मिल गया है।[१] अतः विभिन्न संस्कृतियों का सम्मिश्रण होने पर भी भारतीय संस्कृति अपने मौलिक एवं अपरिवर्तित रूप में यहां की कला-कृतियों, आचार-विचारों आदि में सुरक्षित है।

जैन-गूर्जर कवियों की हिन्दी कविता में भारतीय संस्कृति की उदारता, समरसता एवं एकता के दर्शन होते हैं। सम्प्रदाय विशेष में दीक्षित होते हुए इन कवियों में असाम्प्रदायिक अभिव्यक्ति का स्वर सदैव ऊंचा रहा है। अन्तर के आवेगों की वेगवती यह धारा धर्म-सम्प्रदाय आदि वाह्य मर्यादाओं की अवहेना कर अपने प्रकृत सांस्कृतिक रूप का परिचय देती हुई बह निकली हैं। यही कारण है कि इस कविता में सत्यार्थी वीतरागी आत्मा की उत्कट वेदना एवं गहन अनुभूतियां मुखर हो उठी हैं। इन कवियों ने नीति और वैराग्य के नाना उपदेश दिये हैं तथा विभिन्न दृष्टांतों द्वारा संसार की असारता, शरीर की क्षणभंगुरता, आयु की अल्पता, मृत्यु की अटलता, तन, धन, यौवन, विषयासक्ति आदि की निस्सारता बताकर, विनय, आत्मदैन्य, भक्ति, परोपकार, धर्म और दान आदि सद्गुणों की महत्ता सिद्ध करने का महत् प्रयत्न किया है। इनकी वाणी में वाह्य आडम्बरों से बचने, काम, क्रोध, लोभ आदि दुर्गुणों को त्यागने, परधन और परस्त्री पर दृष्टि न डालने, जाति-पांति और ऊंच-नीच में विश्वास न रखने, भोग-विलास से दूर रहने, स्वार्थ के स्थान पर परमार्थ का विचार करने तथा आत्मा में ही परमात्मा को देखने आदि के सरल उपदेशों की शांतरस-सिक्त धारा निसृत हुई है।

भारतीय संस्कृति अनेक धर्मों, सम्प्रदायों तथा उनकी विचार धाराओं एवं साधना पद्धति से पुष्ट होती रही है। अतः इस देश में परमात्मा के अनेक रूप एवं नाम कल्पित किये हैं पर आखिर तो उसके नाम ही पृथक्-पृथक् हैं, वस्तुतः वह तत्व एक ही है। इस भाव को जैन-गूर्जर कवियों ने भी सर्वत्र प्रतिपादित किया है।

भारतीय संस्कृति की महत्ता अप्रच्छन्न हैं। परन्तु उसके सिद्धान्त एवं उद्देश्य गूढ़ एवं गहन हैं। उन्हें समझने के लिए कोरे सिद्धान्त वाक्यों से काम नहीं चलता। अतः कवि उन सिद्धान्तों एवं उद्देश्यों को किसी काव्य-कथा द्वारा या कान्तासम्मित उपदेश द्वारा प्रस्तुत कर प्रभावशाली बना देते है। इस तरह गूढ़ एवं गहन सिद्धान्त भी सुगमता से हृदयगम करा लिये जाते हैं।

इन कवियों ने अपनी शांतरस प्रधान रचनाओं द्वारा साहित्य के उच्चतम लक्ष्य को स्थिर रखा है। कबीर, सूर, तुलसी, मीरां, नानक आदि कवियों की तरह

---

१. गुलाबराय, भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, पृ० १५।

ये कवि भी भक्ति, अध्यात्म, नीति आदि की प्रस्थापना द्वारा अपनी कविता में सांस्कृतिक पुनरुत्थान की चेतना भरते रहे। हिन्दी के रीतिकाल के प्रायः सभी कवियों ने शृंगार और विलास की मदिरा से ही अपने काव्य रस को पुष्ट किया। परिणाम स्वरूप भारत अपने कर्तव्यों और और आदर्श चरित्रों को भूलने लगा और उनमें रही सही शक्ति एवं ओज भी नष्ट होने लगा। ये कवि कामिनी के कटाक्षों की सीमा से वाहर निकल ही नहीं पाये और इनका विलास भारत के पतन में सहायक हुआ, इनकी शृंगार-साधना ने जनता के मनोबल को नष्ट करने में जहर का काम किया।

साहित्य का मूल लक्ष्य तो मानव मात्र मं सच्चरित्रता, संयम, कर्तव्यशीलता और वीरत्व की वृद्धि करना है, उसके मनोबल को पुष्ट करना है तथा उसे पवित्र एवं आदर्शोन्मुख करना है। प्राणी मात्र को देवत्व और मुक्ति की ओर ले जाना ही काव्य का चरम लक्ष्य है, विनोद तो गौण साधन है। इन कवियों ने इस घोर शृंगारी युग में भी अपने को तथा अपनी अभिव्यक्ति को इससे सर्वथा विमुख रखा और अपनी अपूर्व जितेन्द्रियता और सच्चरित्रता का परिचय दिया। इनका लक्ष्य मानव की चरम उन्नति ही रहा। ये पवित्र लोकोद्धार की भावना लेकर साहित्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए और इस कार्य में इन्हें पूर्ण सफलता मिली है।

जैन साधक देशकाल एवं तज्जन्य परिस्थितियों के प्रति सदैव जागरूक रहे हैं। वे आध्यात्मिक परम्परा के अनुगामी एवं आत्मलक्षी संस्कृति में विश्वास रखते हुए भी लौकिक चेतना से विमुख नहीं थे। क्योंकि इनका आध्यात्मवाद वैयक्तिक होते हुए भी जनकल्याण की भावना से अनुप्राणित है। यही कारण है कि सम्प्रदाय मूलक साहित्य के सर्जन के साथ साथ भी ये कवि अपनी रचनाओं में देशकाल से सम्वन्धित ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पक्षों का निरूपण करते रहे हैं जिसमें भारत की सांस्कृतिक परम्परा और उसकी उदारता, समता, एकता एवं समन्वयकारिता सदैव प्रवल रही। इन रचनाओं में औपदेशिक वृत्ति के साथ विपयान्तर से परम्परागत वातों के विवरण भी आये हैं, अतः सम्पूर्ण काव्य पिष्टपेपण मात्र नहीं हैं। यह साहित्य लोकपक्ष एवं भापापक्ष की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस कविता में भारतीय चिंतना की आदर्श, संस्थापक, नैतिक एवं धार्मिक मान्यताओं को जनभापा में समन्वित कर राष्ट्र के आध्यात्मिक स्तर को पुष्ट वनाने के अपूर्व प्रयत्नों द्वारा धर्ममूलक थाती की रक्षा हुई। संस्कृत की सच्ची उत्तराधिकारिणी एवं राष्ट्रव्यापी भापा हिन्दी को अपनाकर भी इन कवियों ने अपनी सांस्कृतिक गरिमा का परिचय दिया है साथ ही इन कवियों के द्वारा भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं को वहन करने वाली हिन्दी भापा को सदैव ही एक राष्ट्रीय रूप प्रदान होता रहा।

उपसंहार

अब तक के समस्त विश्लेषण-विवेचन से हम इस निष्कर्ष तक आ चुके है कि आलोच्ययुगीन जैन गूर्जर कवियों की कविता सम्प्रदायवादी जैन धर्माचार्यों व धर्मगुरुओं द्वारा रचित होने पर भी अपनी मूल प्रकृति से विशुद्ध असम्प्रदायवादी ही है अतः उपेक्षणीय नहीं है। इसका महत्व दो रूपों में आंकलित किया जा चुका है—(१) आलोच्य काव्य अनुभूति की दृष्टि से भक्तिकालीन काव्य के समकक्ष रखा जा सकता है अथवा उसकी धारा का ही एक विस्तार माना जा सकता है, तथा (२) शैली, भाषा व संगीतात्मकता की दृष्टि से प्रस्तुत काव्य का अपना एक सुनिश्चित स्थान है जो, यद्यपि हिन्दी साहित्य में अब तक उसे प्राप्त नहीं हुआ है, प्राप्त होना चाहिए।

यद्यपि अंचलपरक इस प्रकार के एक-दो शोधप्रबन्ध उक्त कार्य के लिए तथा सम्प्रति भारतीय वातावरण में राष्ट्रीय एकता, साम्प्रदायिक सद्भाव व भारत की अक्षुण्ण निर्विकल्प सांस्कृतिक भाव-धारा के पूर्ण रूप को प्रकाश में लाने के हेतु अपूर्ण ही माने जायेंगे किन्तु इस प्रकार के प्रयत्नों से इस दिशा में बढ़ने वालों को सम्बल अवश्य मिल सकेगा। इस प्रकार के शोधकार्य का क्षेत्र पर्याप्त मात्रा में उर्वर है क्यों कि अनेकानेक कृतियां अभी तक, संभवतः, सूर्य के दर्शन करने में असमर्थ हैं और पड़ी-पड़ी किसी कार्यशील जिज्ञासु शोधार्थी की प्रतीक्षा में घुटन का अनुभव कर रही हैं। हम, साहित्य के विद्यार्थी, यदि इस प्रकार के अज्ञात साहित्य का मूल्यांकन किसी साहित्येतर—सांस्कृतिक राजनीतिक आदि—मानदण्डों के आधार पर न भी करना चाहें तो भी इस प्रकार के साहित्य से विस्तृत फलक पर हिन्दी-साहित्य के इतिहास के पुनर्निमाण की संभावनाओं का द्वार तो उद्घाटित होता ही है।

इत्यलम्

परिशिष्ट

परिशिष्ट : १ – आलोच्य युग के जैन गूर्जर हिन्दी कवियों की नामावली

परिशिष्ट : २ – आलोच्य युग के जैन गूर्जर हिन्दी कवियों की कृतियों की नामावली

परिशिष्ट : ३ – संदर्भ ग्रंथ सूची :

(१) हिन्दी ग्रंथ ।

(२) गुजराती ग्रंथ ।

(३) अंग्रेजी ग्रंथ तथा संस्कृत-प्राकृत ग्रंथ ।

परिशिष्ट : ४ – पत्र-पत्रिकाएं

—o—o—

मालदेव
मेघराज
यशोविजय
रत्नकीर्ति भट्टारक
लक्ष्मीवल्लभ
लालचन्द
लालविजय
लावण्यविजय गणि
वादिचन्द्र
विनय समुद्र
विद्यासागर
विनयचन्द्र
विनय विजय
वीरचन्द्र
वृद्धिविजयजी
श्रीसार
श्रीमद् देवचंद्रजी
श्रीन्याय सागरजी
शुभचन्द्र भट्टारक
संयम सागर
समयसुन्दर
साधुकीर्ति
सुमति कीर्ति
सुमति सागर
सौभाग्य विजय
हंसरत्न
हंसराज
हीरानंद संघवी
हेमकवि
हेम विजय
हेम सागर
ज्ञानविमलसूरि
ज्ञानानन्द

परिशिष्ट : २

जैन गूर्जर कवियों के हिन्दी ग्रन्थ

(पाठ्य ग्रन्थ तथा हस्तलिखित प्रतियां)

१ अष्टांहि्नका गीत
२ अमृतवेलनी नानी सज्झाय
३ अमृत वेलनी मोटी सज्झाय
४ अध्यात्म फाग
५ अंविका कथा
६ अंजना सुन्दरी रास
७ अंतरिन स्तवन
८ आलोयण छत्तीसी
९ आदिनाथ (ऋषभ) विवाहलो
१० आराधना गीत
११ आदित्यव्रत कथा
१२ आदिनाथ विनती
१३ आध्यात्म वावनी (हीरानन्द)
१४ आनंदघन चौवीसी
१५ आनंदघन वहोत्तरी
१६ आनंद अष्टपदी
१७ आदित्यवार कथा
१८ आत्महित शिक्षा
१९ आदिनाथ गीत
२० उदयराज रा दूहा
२१ उपदेश छत्तीसी
२२ उपदेश वत्तीसी (लक्ष्मी वल्लभ)
२३ उदयरत्न के पद, स्तवन
२४ उत्तमकुमार चरित्र चौपाई
२५ उपदेश वावनी
२६ ऋषिदता चौपाई
२७ एरवत क्षेत्र चौवीसी
२८ कनक कीर्ति के पद
२९ कर्म छत्तीसी
३० कर्म घटावलि
३१ कल्याण मंदिर ध्रुपद
३२ कल्याण मंदिर स्तोत्र
३३ कालज्ञान प्रवन्ध
३४ कुमुदचन्द्र की विनतियाँ तथा पद
३५ कुण्डलिया वानी
३६ कुमारपाल रास
३७ केशी प्रदेशी प्रवन्ध
३८ केशवदास वावनी
३९ कृतपुण्य (कयवन्ना) रास
४० गजसकुमार रास
४१ गुरु छन्द
४२ गुण वावनी
४३ गुणस्थान वंध विज्ञाप्ति स्तवन
४४ गुर्वावलि गीत
४५ गुण माला चौपाई
४६ गौड़ी पार्श्वनाथ स्तवन
४७ गौतम पृच्छा चौपाई
४८ गौड़ी लघु स्तवन

४९ गौड़ पिंगल
५० ग्यारह अंग सज्झाय
५१ चतुर्विशति स्तुति
५२ चतुर्विशति जिनगीत (जिनराजसूरि)
५३ चतुर्विशंतिका स्तवन (चौवीसी-विनयचंद्र)
५४ चार प्रत्येक बुद्धरास
५५ चित्रसेन-पद्मावती रास
५६ चित्तनिरोध कथा
५७ चिंतामणी गीत
५८ चुनड़ी (साधुकीर्ति)
५९ चुंनड़ी गीत
६० चौवीसी (सौभाग्य विजयजी)
६१ चौवीसी (समयसुन्दर)
६२ चौवीसी (धर्मवर्धन)
६३ चौवीसी जिन सवैया (फर्मवर्धन)
६४ चौवीसी (आनंद वर्धन २)
६५ चौवीसी (वृद्धि विजयजी)
६६ चौवीसी (जिनहर्ष)
६७ चौवीसी (लक्ष्मी वल्लभ)
६८ चौवीसियां (श्रीन्याय सागर)
६९ चौवीसी (ऋषभ सागर)
७० चौवीसी (हंस रत्न)
७१ चौवीसी (लावण्य विजयगणि)
७२ चौवीसी जिन सवैया (जिनउदय-सूरि)
७३ चौवीसी (गुण विलास)
७४ चौवीसी जिन सवैया
७५ चेतन बत्तीसी
७६ चन्दागीत
७७ चंदनमलया गिरि चौपाई
७८ चंद्रसेन चंद्र द्योत नाटकिया प्रबन्ध
७९ चंपक श्रेष्ठि चौपाई

८० चंद्रकीर्ति के पद
८१ छप्पय बावनी
८२ छन्द मालिका
८३ जसोधर गीत
८४ जयकुमार आख्यान
८५ जइतपद वेलि
८६ जम्मुस्वामी वेलि
८७ जस विलास
८८ जसराज बावनी
८९ जिनवर स्वामी विनती
९० जिन आंतरा
९१ जिनराज स्तुति
९२ जिनहर्ष के पद, गीत, स्तवन
९३ जिह्वादंत विवाद
९४ ढोलामारु चौपाई
९५ तत्व सार दोहा
९६ थावच्चा चौपाई
९७ दानादि चौढ़ालिया
९८ दिग्पट चौरासी बोल
९९ देवदत्ता चौपाई
१०० देवराज वच्छराज चौपाई
१०१ देशांतरी छंद
१०२ देवचन्द्रजी के पद
१०३ दोहामातृका बावनी
१०४ द्रौपदी चौपाई
१०५ द्रव्य प्रकाश
१०६ धर्म परीक्षा रास
१०७ धर्म बावनी
१०८ धर्मवर्धन के फुटकर पद
१०९ नवकार छन्द
११० नलदमयंती चौपाई

१११ नमि राजर्षि चौपाई
११२ नारीगीत
११३ नेमिनाथ छन्द
११४ नेमिनाथ फागु
११५ नेमिनाथ बारहमासा
११६ नेमिवंदना
११७ नेमिश्वर रास
११८ नेमिनाथ रास
११९ नेमिराजुलवार मास वेल प्रवन्ध
१२० नेमिजिन गीत
१२१ नेमिनाथ समवशरणविधि
२२ नेमिनाथ द्वादश मास (लालविजय)
१२३ नेमिनाथ बारहमासा (जिनहर्ष)
१२४ नेमिराज मति बारहमास सवैया
१२५ नेमि-राजुल बारहमासा (लक्ष्मी वल्लभ)
१२६ नेमि-राजुल बारहमासा (विनयचंद्र)
१२७ नंद वहोत्तरी-विरोचन महेता वार्ता
१२८ पवनाभ्यास चौपाई
१२९ पद्मचरित्र
१३० पार्श्वनाथ गुण वेली
१३१ पार्श्वचन्द्र स्तुति (मेघराज)
१३२ पार्श्वजिन स्तवन
१३३ पार्श्वनाथ नीसाणी
१३४ पारसति नाममाला
१३५ पांडवपुराण
१३६ पुण्य छत्तीसी
१३७ पुरन्दर कुमार चौपाई
१३८ पुण्यमार गस
१३९ पूज्यवा गीतम्
१४० पूंजा रास
१४१ प्रस्ता या छत्तीसी

१४२ प्रणयगीत
१४३ प्रभाती (साधुकीर्ति)
१४४ प्रद्युम्न चरित्र
१४५ पंच कल्याण गीत
१४६ वलभद्रनुं गीत
१४७ वाहुवलि वेलि
१४८ वालचन्द वत्तीसी
१४९ वारहमासा (धर्मवर्धन)
१५० वावनगजा गीत
१५१ वंगाल देश की गजल
१५२ ब्रह्म वावनी (निहालचन्द)
१५३ ब्रह्म गणेश के गीत एवं स्तवन
१५४ भजन छत्तीसी
१५५ भरत वाहुवलि छन्द (कुमुदचन्द्र)
१५६ भरत वाहुवलि छंद (वादिचंद्र)
१५७ भरतेश्वरनो रास
१५८ भरतचक्री सज्झाय
१५९ भक्तामर सवैया
१६० भक्तमर स्तोत्र रागमाला काव्य
१६१ भविष्यदत्त कथा
१६२ भावना विलास
१६३ भोज प्रबन्ध
१६४ महावीर छन्द
१६५ महावीर गौतम स्वामी छन्द
१६६ मदन युद्ध
१६७ महाराओ श्री गोहडजीनोजस
१६८ महाराव लखपति दुवावैत
१६९ मदन शतक
१७० माधवानल काम कंदला
१७१ मातानो छन्द

१७२ मेघकुमार गीत
१७३ मोती कपासीया संबंध संवाद
१७४ मंगलगीत
१७५ मंगावती चौपाई
१७६ मंगावती रास
१७७ रत्न कीर्तिगीत
१७८ रत्नकीर्ति के पद
१७९ राजुल नेमिनाथ धमाल
१८० राजचन्द्र प्रवहण
१८१ रागमाला
१८२ रागमाला (कुंवर कुशल)
१८३ रुपचचन्द-कुवररास
१८४ रोहिणेय रास
१८५ रोहिणी रास
१८६ लखपति यश सिंधु (कनक कुशल)
१८७ लखपति मंजरी नाम माला (कनक कुशल)
१८८ लखपति मंजरी नाम माला कुंवर कुशल
१८९ लखपति जस सिंधु (कुंवर कुशल)
१९० लखपति पिंगल अथवा कवि रहस्य
१९१ लखपति स्वर्ग प्राप्ति समय
१९२ लवांकुश छप्पय
१९३ वलकल चीरी रास
१९४ वस्तुपाल-तेजपाल रास
१९५ वणजारा गीत
१९६ वसंत विलास गीत
१९७ वासुपूज्यनी धमाल
१९८ विजय कीर्ति छन्द
१९९ विक्रमचरित्र पंचदंड कथा
२०० विनती (कनक कीर्ति)
२०१ विनय विलास
२०२ विरह मानवीसी स्तवन
२०३ विनयचंद्र के पद, गीत, स्तवन
२०४ विद्यासागर के पद
२०५ विरह मानवीसी स्तवन (समयसुंदर)
२०६ विवाह पटल भापा
२०७ वीरांगदा चौपाई
२०८ वीर विलास फाग
२०९ वीसी (वीस विंरहमान स्तवन)
२१० वीस विरहमान गीत (जिनराजसूरि)
२११ वीसी (केशरकुशल)
२१२ वीसी (श्री न्याय सागर)
२१३ वैदकविद्या (धर्मवर्धन)
२१४ वैराग्य वावनी (लालचन्द)
२१५ वैद्य विरहणी प्रबंध
२१६ व्यवहार बुद्धि धनदत्त चौपाई
२१७ शत्रुंजय स्तवन (साधुकीर्ति)
२१८ शत्रुंजय यात्रा स्तवन
२१९ शत्रुंजय रास
२२० शालीचन्द्र रास
२२१ शांतिनाथ स्तवन
२२२ शांतिनाथ छन्द
२२३ शांतिजिन विनती-रूप स्तवन
२२४ शांव प्रद्युम्न चौपाई
२२५ शीलगीत
२२६ शीतकारके सवैया
२२७ शुभचन्द्र के पद
२२८ शंखेश्वर पार्श्व स्तवन
२२९ श्रीपाल आख्यान (वादिचन्द्र)
२३० श्रीपाल रास
२३१ श्रीपाल स्तुति (कनककीर्ति)
२३२ श्रेणिक रास
२३३ श्रेणी चरित्र

२३४ सत्यार्नीआ दुष्काल वर्णन छत्तीसी
२३५ ममता शतक
२३६ समाधि शतक
२३७ सवैया बावनी (लक्ष्मी वल्लभ)
२३८ सत्तर भेदी पूजा प्रकरण
२३९ साधुवंदना
२४० साधु समस्या द्वादत्त दोधक
२४१ सार बावनी (श्रीसार)
२४२ सिहलसुत प्रिय मेलक रास
२४३ सिद्धचक्र स्तवन
२४४ सीमन्धर स्वामी गीत
२४५ सीमन्धर चन्द्राउला
२४६ सीताराम चौपाई
२४७ सीता आलोचणा (१८वीं)
२४८ सुदर्शनगीत
२४९ सुदर्शन रास
२५० सुन्दर शृंगार की रसदीपिका-भाषाटीका
२५१ सुखड़ी
२५२ सोलह करण रास
२५३ संबोध सत्ताणु
२५४ संतोष छत्तीसी
२५५ संयोग बत्तीसी
२५६ संयम सागर के गीत एवं पद
२५७ संयम प्रवहण
२५८ स्थूलीभद्र फाग
२५९ स्थूलीभद्र छत्तीसी
२६० स्थूलीभद्र मोहनवेलि
२६१ स्थूलीभद्ररास
२६२ स्थूलीभद्र बारहमासा
२६३ स्थूलीभद्र गीत
२६४ हनुमन्त कथा
२६५ हीर विजय सूरि रास
२६६ हेम विजय के पद एवं स्तुति
२६७ हंसागीत
२६८ क्षमा छत्तीसी
२६९ क्षुल्लक कुमार रास
२७० क्षेत्रपाल गीत
२७१ ज्ञानानन्द के पद
२७२ ज्ञानबावनी (हंसराज)
२७३ ज्ञानविमल सूरि के फुटकर पद, स्तवन आदि
२७४ ज्ञानरस

परिशिष्ट : ३

संदर्भ ग्रंथ सूची

(१) हिन्दी ग्रन्थ

१ अध्यात्म पदावली : प्रो० रामकुमार जैन
२ अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद : डॉ० वासुदेवसिंह
३ ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह : अगरचन्द, भंवरलाल नाहटा
४ गुजरात का जैन धर्म : मुनिश्री जिनविजयी
५ गुजरात की हिन्दी सेवा : डॉ० अम्बाशंकर नागर (अप्रकाशित)
६ गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रंथ : डॉ० अम्बाशंकर नागर
७ घन आनन्द और आनन्द घन : पं० विश्वनाथ प्रसाद
८ जिनराज सूरि कृत कुसुमांजलि : श्री भंवरलाल नाहटा
९ जिनहर्ष ग्रंथावली : अगरचन्द नाहटा
१० जैन कवियों का इतिहास : मूलचन्द वत्सल
११ जैन ग्रंथ संग्रह : चन्द्रसेन बाबू
१२ जैन तत्वज्ञान, जैनधर्म और नीतिवाद : डॉ० राजबलि पाण्डेय
१३ जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन : पं० दलसुखभाई मालवणीया
१४ जैन दर्शन : जैन श्वेताम्बर कोन्फ्रेंस
१५ जैन धर्म का प्राण : श्री सुखलालजी संधवी
१६ जैन धर्म मीमांसा : दरबारीलाल सत्यपाल
१७ जैन धर्म का स्वरूप : कर्पूर विजयजी
१८ जैन संस्कृति का उदय : श्री सुखलालजी संधवी
१९ जैन साहित्य और इतिहास : पं० नाथूराम प्रेमी
२० धर्मवर्धन ग्रंथावली : अगरचन्द नाहटा
२१ प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ
२२ वेलिक्रिसन रुकमणीरी (भूमिका) : डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित
२३ भट्टारक सम्प्रदाय : जीवराज ग्रंथमाला, शोलापुर .
२४ भारतवर्ष का इतिहास : डॉ० विश्वेश्वर प्रसाद

२६ भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएं : परशुराम चतुर्वेदी
२७ मध्यकालीन धर्म-साधना : डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी
२८ मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास : डॉ० ईश्वरी प्रसाद
२९ मिश्रबन्धु विनोद : मिश्रबन्धु
३० युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि : अगरचन्द भंवरलाल नाहटा
३१ राजपूताने का इतिहास : जगदीशसिंह गहलोत
३२ राजस्थान के जैन संत—व्यक्तित्व और कृतित्व : डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल
३३ राजस्थानी भाषा और साहित्य : नरोत्तमदास स्वामी
३४ राजस्थानी भाषा और साहित्य : डॉ० मोतीलाल मेनारिया
३५ राजस्थानी साहित्य प्रगति और परम्परा : डॉ० सरनामसिंह
३६ रासा और रासान्वयी काव्य : दशरथ ओझा
३७ विनयचन्द्र-कृति कुसुमांजलि : भंवरलाल नाहटा
३८ श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ : जैन श्वेताम्बर श्रीसंघ बागरा
३९ समयसुन्दर-कृति कुसुमांजलि : अगरचन्द नाहटा
४० समयसुन्दर रास पंचक : भंवरलाल नाहटा
४१ समयसुन्दर रास-त्रय : भंवरलाल नाहटा
४२ सीताराम चौपाई : अगरचन्द-भंवरलाल नाहटा
४३ सेठ कन्हैयालाल पोद्दार अभिनन्द ग्रंथ : वासुदेवशरण अग्रवाल
४४ हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग : नामवरसिंह
४५ हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास : नाथूराम प्रेमी
४६ हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास : कामताप्रसाद जैन
४७ हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन भाग, १, २ : नेमिचन्द्र शास्त्री
४८ हिन्दी पद संग्रह : सं० कस्तूरचन्द कासलीवाल
४९ हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (प्रथम भाग) : संपादक राजवली पांडेय
५० हिन्दी साहित्य (द्वितीय खण्ड) : धीरेन्द्र वर्मा
५१ हिन्दी साहित्य का आदिकाल : डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी
५२ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डॉ० रामकुमार वर्मा
५३ हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल
५४ हिन्दी साहित्य कोश (भाग १, २) : ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस

सूचीपत्र एवं ग्रन्थ विवरण :

- अगरचन्द नाहटा लेख-सूची : सं० नरोत्तमदास स्वामी।
- अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर के हस्तलिखित ग्रन्थों का सूचीपत्र (अप्रकाशित)।

०० ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा के हस्तलिखित ग्रंथों का सूचीपत्र ।
०० प्रशस्ति संग्रह : सं० कस्तूरचन्द कासलीवाल ।
०० भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर अहमदाबाद के हस्तलिखित ग्रन्थों का सूचीपत्र (अप्रकाशित) ।
०० राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रंथ सूची, भाग ३ : सं० कस्तूरचन्द कासलीवाल ।
०० राजस्थान के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज : मुनि कांति सागर (अप्रकाशित) ।
०० राजस्थान के हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, भाग १ : सं० मोतीलाल मेनारिया ।
०० राजस्थान के हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, भाग ३ : सं० उदयसिंह भटनागर ।
०० राजस्थान के प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के हस्तलिखित ग्रन्थों का सूचीपत्र ।
०० सरस्वती भवन, उदयपुर के हस्तलिखित ग्रन्थों का सूचीपत्र ।
०० साहित्य संस्थान, उदयपुर के हस्तलिखित ग्रन्थों का सूचीपत्र (अप्रकाशित) ।

गुजराती ग्रन्थ :

१ आचार्य आनन्दशंकर ध्रुवस्मारक ग्रन्थ : श्री साराभाई मणिलाल नवाब ।
२ आनन्द काव्य महोदधि—भाग १-६ : संपादक जीवचन्द मो० झवेरी ।
३ आनन्दघन चौबीसी : प्रभुदास बेचरदास पारेख ।
४ आनन्दघन तथा चिदानन्द जी : श्री भीमजी माणेक ।
५ आनन्दघन पद संग्रह : बुद्धि सागर जी ।
६ आनन्दघन पद रत्नावली भाग १ : मोतीचन्द गिरधरलाल कापड़िया ।
७ इतिहासनी केडी : भोगीलाल सांडेसरा ।

१७ गुजराती साहित्यनु रेखादर्शन : प्रो० मनसुखलाल झवेरी तथा रमणलाल शाह।
१८ गूर्जर साहित्य संग्रह भाग १-२ : यशोविजय जी।
१९ जगत अने जैन दर्शन : विजयेन्द्र सूरि।
२० जैन गूर्जर कविओ : भाग १-३ : मोहनलाल द० देसाई।
२१ जैन ऐतिहासिक गूर्जर काव्य संग्रह : जिनविजयजी।
२२ जैन इतिहास साहित्य अङ्क : माणेकलाल अम्बालाल।
२३ जैन काव्य संग्रह : नाथालाल लल्लूभाई।
२४ जैन ग्रन्थावली : जैन श्वेताम्बर क्रोन्फ्रेन्स।
२५ जैन काव्य दोहन भाग १ : सम्पादक : मनसुखलाल खत्रीभाई महेता।
२६ जैन धर्म—एक आलोचना : श्री सुभद्रादेवी।
२७ जैन-दर्शन : न्याय विजयजी।
२८ जैन गूर्जर साहित्य रत्नो भाग १ : भाईचन्द नगीनभाई झवेरी, सूरत।
२९ जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास : मोहनलाल द० देसाई।
३० दर्शन अने चिंतन : पंडित सुखलाल जी।
३१ प्राचीन काव्यमाला—३६ भाग : संपादक : इच्छाराम सू० देसाई।
३२ प्राचीन गुजराती कविओ अने तेमनी कृतियो : रमणीकलाल सम्पतलाल।
३३ प्राचीन जैन लेख संग्रह : जिनविजयजी।
३४ प्राचीन फागु संग्रह : संपादक : डॉ० भोगीलाल सांडेसरा।
३५ प्राचीन स्तवन संग्रह—भाग १, २ : ज्ञान विमलसूरि।
३६ भारतीय जैन आदर्श : इन्द्रवदन जैन।
३७ भजन संग्रह धर्मामृत : पं० बेचरदास दोसी।
३८ मध्यकालीन गुजरातनी सामाजिक स्थिति : रामलाल चुन्नीलाल मोदी।
३९ मध्यकालनो साहित्य प्रवाह : क० मा० मुन्शी।
४० यशोविजयजी ग्रन्थमाला भाग १, २ : माणिक्यसूरि।
४१ यशोविजयजी चोवीसी : दुर्गाप्रसाद शास्त्री।
४२ श्रीपाल राजानो रास : ज्ञानदीपक छापाखाना, बम्बई।
४३ श्रीमद् राजेश्वर सूरि स्मारक ग्रंथ : साराभाई नवाब।
४४ श्रीमद् देवचन्द्र भाग १, २ : बुद्धिसागर जी।
४५ सत्तरमा शतकना पूर्वार्द्धनां जैन गुजराती कविओ (अप्रकाशित) : वी० जे० चोक्सी।
सूरीश्वर अने सम्राट : विद्या विजयजी।

संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थ

(१) अष्ट पाहुड़ ।
(२) आचारांग सूत्र ।
(३) उत्तर रामचरित ।
(४) ऋग्वेद ।
(५) कुवलय माला ।
(६) तत्त्वार्थ सूत्र ।
(७) तत्त्वार्थ वार्तिक ।
(८) दश वैकल्पिक सूत्र ।
(९) दश भक्ति ।
(१०) ध्वन्या लोक ।
(११) नारद भक्ति सूत्र ।
(१२) परमात्म प्रकाश ।
(१३) पाणिनी सूत्र ।
(१४) प्राकृत व्याकरण ।
(१५) ब्रह्माण्ड पुराण ।
(१६) भगवती सूत्र ।
(१७) मनु स्मृति ।
(१८) मज्झिम निकाय ।
(१९) शांडिल्य भक्ति सूत्र ।
(२०) श्रीमद् भगवद् गीता ।
(२१) श्रीमद् भागवत ।
(२२) श्रुतावतार ।
(२३) स्कन्द पुराण ।
(२४) समाधि तंत्र ।
(२५) समीचीन धर्मशास्त्र ।
(२६) साहित्य दर्पण ।
(२७) सिद्ध हेम शब्दानुशासन ।
(२८) सूत्र कृतांग ।